

नानेशवाणी-52

# समाधान की राह

आचार्य श्री नानेश

प्रकाशक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

**नानेशवाणी-52**

## **समाधान की राह**

**आचार्य श्री नानेश**

प्रथम संस्करण : जून, 2019

मूल्य : 100/-

ISBN 978-93-86952-49-3

**प्रकाशक :**

**साधुमार्गी पब्लिकेशन**

अन्तर्गत—श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग

श्री जैन पी.जी. कॉलेज के सामने, नोखा रोड

गंगाशहर, बीकानेर 334401 (राज.)

दूरभाष : 0151-2270261, 3292177, 0151-2270359

visit us : [www.sadhumargi.com](http://www.sadhumargi.com)

e-mail : [publications@sadhumargi.co](mailto:publications@sadhumargi.co)

**मुद्रक :**

सांखला प्रिंटर्स

विनायक शिखर, शिव बाड़ी रोड

बीकानेर 334003 (राज.)

## प्रकाशकीय

सूर्योदय बहुत दूर होता है किंतु उसकी किरणें संसार को प्रकाशित करती हैं। दूरी बाधा नहीं बनती। इसी तरह आज से सौ साल पहले एक ऐसे महामानव ने राजस्थान की धरती पर जन्म लिया, जिनके विचारों को कोई सीमा बांधने में समर्थ नहीं हो पायी।

महामानव आज शरीर रूप से संसार में नहीं है किंतु उनके विचारों को जीवन में उतारकर आत्मोत्थान करने वालों की अच्छी-खासी संख्या है। उनके विचारों का प्रभाव, उनके दिखाये रास्ते पर चलने का परिणाम है कि मध्य प्रदेश में एक साथ लगभग साढ़े सत्तरह हजार लोगों ने नशे से दूर रहने का संकल्प लेकर अपना जीवन सुधार लिया। आज उनके परिवारों के एक लाख लोग नशे से दूरी बनाये हुए हैं। सांसारिक जीवन में 'नाना' नाम से पहचाने जाने वाले आगे चलकर आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. के नाम से जाने गये।

आचार्य श्री की सौंवी जन्म जयंती के अवसर पर साधुमार्गी पब्लिकेशन आचार्य श्री के व्याख्यानों का संकलन 'समाधान की राह' प्रकाशित कर रहा है। ये व्याख्यान सन् 1986 के हैं, जब आचार्य श्री जलगांव (महाराष्ट्र) में चतुर्मासार्थ विराज रहे थे। आचार्य श्री अनवरत लोगों को सही राह दिखाते रहे। यह पुस्तक भी मानव जीवन में आने वाली तमाम समस्याओं में समाधान की सही राह दिखायेगी।

समाधान चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को 'आध्यात्मिक पाठशाला' का विद्यार्थी बनना होगा। पर ध्यान रहे! इस पाठशाला में प्रवेश लेने मात्र से ही काम नहीं सधेगा। काम सधेगा 'आंतरिक शोध-संशोध' करने से—यह होगा तीसरी आंख प्राप्त करने से। आंतरिक शोध-संशोध से आत्मिक निर्मलता की वस्तु-स्थिति का पता चलता है। आंतरिक निर्मलता आत्मोत्थान के मार्ग पर आने वाला एक मील का पत्थर है।

इस मार्ग पर एक पड़ाव है—क्रांति। 'क्रांति का व्यापक अर्थ जानें' इस पड़ाव पर रुक कर। समाधान की राह पर चलते समय 'वृत्तियों का परिमार्जन' भी जरूरी है। क्योंकि परिमार्जित वृत्तियां ही आत्मा को

उर्ध्वगामी बनाती हैं। समाधान की राह पर चलते समय यह भी ध्यान रहे कि अंधेरा न हो। अंधेरे में चलेंगे तो ठोकर लगने और मार्ग से भटकने की संभावना बनी रहेगी। ठोकर लगने और मार्ग भटकने से बचने के लिए आवश्यक है कि 'सर्वत्र प्रकाश खोजें'। ऐसा करेंगे तो समाधान की राह पर चलना बेहद आसान हो जायेगा और आप 'शांति के आनंद क्षेत्र में' प्रवेश कर जायेंगे।

यह सब कैसे होगा जानने के लिए पेज पलटिए। हर पेज एक कदम बढ़ाने सरीखा होगा। एक-एक कदम आपको ले जायेगा मंजिल के नजदीक। बहुत नजदीक।

संयोजक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अन्तर्गत श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

## संघ के प्रति अहो भाव

हे पितृ तुल्य संघ! हे आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नरत संघ! तुम्हारी शीतल छांव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं। तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हे चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है। तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया। तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है। इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं।

संघ ने हम अकिंचन को इस पुस्तक 'समाधान की राह' के माध्यम से सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया। इस हेतु हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। अन्तर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्री संघ शासन हमें सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा।

अर्थ सहयोगी

॥ सेवा है यज्ञकुण्ड, समिधा सम हम जलें॥

## अनुक्रमणिका

1. समाधान की राह	7
2. समत्व-साधना	19
3. आध्यात्मिक पाठशाला	30
4. आन्तरिक शोध-संशोध	41
5. तत्त्व-चिन्तन	52
6. तीर्थकरों की वाणी	64
7. भाव और द्रव्य की पहचान	76
8. तीसरी आंख प्राप्त करें	88
9. क्रान्ति का व्यापक अर्थ	99
10. पुरुषार्थ का पथ	110
11. आवश्यक है सिद्धान्तनिष्ठा	122
12. संसार का संसरण	133
13. कहां दूढ़ें चैतन्य देव को?	144
14. शुद्ध अवलम्बन की महत्ता	155
15. अचौर्य व्रत की गूढ़ता	166
16. तामसिकता बनाम सात्त्विकता	178
17. वृत्तियों का परिमार्जन	190
18. भावों की निर्लेपता	201
19. शान्ति-लाभ की लगन	212
20. निपुण बुद्धि-प्रयोग	223
21. सहयोग साधना हेतु	233
22. भूमिका ब्रह्मचर्य की	244
23. सर्वत्र प्रकाश खोजें!	255
24. विधि-निषेध दृष्टि	266
25. अभिक्रम आत्मा का	276
26. शान्ति के आनन्द क्षेत्र में	286

## 1

## शुख दें और शान्ति लें

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

तीर्थकर देवों के चरणों में प्रार्थना की पंक्तियों के माध्यम से उपस्थित होने का अवसर आ रहा है। इस प्रसंग का अर्थ है कि सभी तीर्थकर देवों के चरणों में समर्पित होने की भावना रखें। समर्पित होने की भावना क्यों रखें—इसे भी समझना जरूरी है। समर्पण क्यों करें, किसके लिये करें तथा समर्पण का सुफल किस रूप में प्रकट होगा?

समर्पण का मूल हेतु विचित्रताओं से भरे हुए वर्तमान विश्व की नानाविध जटिल समस्याएँ हैं, जिनका सुन्दर समाधान समर्पण की भावना तथा तत्परता के साथ ही निकाला जा सकता है। इन समस्याओं की जटिलता आज इस कदर बढ़ गई है कि मनुष्य अपने जीवन में बुरी तरह से उलझा हुआ है। उसे अपने कर्तव्याकर्तव्य का भी भान नहीं है तो किसी भी दिशा से वह आशा की किरण को भी देख नहीं पा रहा है। समस्याओं के अथाह समुद्र में जैसे वह डूबता-उतराता बहता ही चला जा रहा है, जिस पर उसे अपना कोई वश भी महसूस नहीं होता है। वह अवश बहता जा रहा है—न जाने कहां तक कब तक बहता रहेगा या कि कब किस चट्टान से टकराकर नष्ट हो जायेगा? ऐसा दिग्भ्रान्त बना हुआ है आज का मनुष्य!

मनुष्य की ऐसी दुर्दशाग्रस्त अवस्था में उसका ध्यान इन जटिल समस्याओं व उनके समाधान की तरफ कैसे मुड़े और कैसे उसका पुरुषार्थ जागृत हो—यह परम विचारणीय है। किसी भी समस्या को समझने या कि उसका सुन्दर समाधान निकालने की पहली शर्त है कि उस समस्या से जूझने वाले व्यक्ति को शान्ति के कुछ क्षण प्राप्त हों। कल्पना करें कि किसी को एक रास्ते पर चलते-चलते किसी तिराहे या चौराहे पर आगे के रास्ते का भ्रम पैदा हो जाता है तो उस समय अगर वह बिना रुके चलता ही जाये तो बहुत संभव है कि वह गलत

रास्ता पकड़ ले। लेकिन तिराहे या चौराहे पर वह शान्ति से दो क्षण सोच ले या कि किसी से जानकारी ले ले तो सुनिश्चितता मानी जा सकती है कि वह सही रास्ते पर ही आगे बढ़े। विभ्रम अवस्था में सही जानकारी के लिये शान्ति के चन्द क्षणों की नितान्त आवश्यकता होती है।

### जीवन के आरंभ से अन्त तक शान्ति चाहिये

शान्ति की यह आवश्यकता किसी एक या कई समस्याओं के समाधान के लिये ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि स्वस्थ विकास के दृष्टिकोण से यह शान्ति जीवन के आरंभ से अन्त तक चाहिये। फिर आज के जटिल समस्याओं से ग्रस्त जीवन के लिये तो शान्ति की और सर्वतोमुखी शान्ति की परम आवश्यकता है। आज का मानव जीवन दिशाहीन-सा इधर से उधर भटक रहा है और उसे इससे उबरने का कोई ओर छोर भी नहीं मिल रहा है। कभी एक जोखिम से वह टकराता है तो कभी किसी दूसरे ही खतरे में फंस जाता है। ऐसी संकटापन्नता के लिये कभी अपने आपको कोसता है तो कभी वह उसका दोष अपने परिवार वालों पर या अड़ोसियों-पड़ोसियों पर मढ़ता है। दोषारोपण करता है, संत्रस्त और दुःखी होता है लेकिन वह अपने त्राण का सही उपाय खोज नहीं पाता है क्योंकि वह शान्ति के दो क्षण निकाल नहीं पाता है। शान्ति आज के अशान्त और संत्रस्त मनुष्य के लिये संजीवनी बूटी हो सकती है, लेकिन वह उसे पा सके, तब न?

इन त्रासदायी परिस्थितियों के बीच में यह नहीं है कि मनुष्य सोचता नहीं है, बल्कि उसके मन-मस्तिष्क में तरह-तरह के विचार उठते रहते हैं, लेकिन उसके उलझे हुए विचारों से कोई सुलझन नहीं निकलती है अथवा यों कहें कि वैचारिकता की उसकी दिशा सही नहीं है। यही कारण है कि उसे शान्ति की प्राप्ति नहीं होती और शान्ति नहीं मिलती तो लक्ष्य की ओर गति भी नहीं बनती है। इस अस्त-व्यस्तता में उसका जीवन दिशाहीन और गतिहीन बना रहता है जिसके कारण प्राप्त यह अमूल्य मानव जीवन भी निरर्थकता की गर्त में डूबता हुआ चला जाता है। इस पतन से रहित होने के लिये भी मनुष्य को शान्ति के कुछ क्षणों की जरूरत पड़ती है। फिर जीवन के सोद्देश्यपूर्ण एवं स्वस्थ विकास के लिये भी निरन्तर शान्ति चाहिये। इस कारण अपेक्षा होती है कि विस्तृत वातावरण में भी शान्ति का संचार बना रहे।

जब मनुष्य के मन में शान्ति की आवश्यकता समझ में आ जाती है, तब शान्ति प्राप्ति के लिये अभिलाषा भी जागती है। इसके साथ ही उसके



दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आने लगता है। वह सोचता है कि जिन महापुरुषों ने विषमतामय समस्याओं से भरे हुए इस संसार में अपनी व अन्य व्यक्तियों की समस्याओं को सुलझाकर स्व-पर जीवन को निरभ्र बनाया और स्थायी शान्ति की प्राप्ति कर ली, आखिर वे भी उसके जैसे मानव ही थे। यदि वे इतनी ऊँची उन्नति साध सके तो वह क्यों नहीं साध सकेगा? तब उसे अपने पुरुषार्थ को जागृत बनाने की आवश्यकता का तेजी से अनुभव होता है। वह तब शान्ति के साथ समस्याओं को भी देखता है, उनके सही समाधान पर भी विचार करता है तथा स्थायी शान्ति प्राप्त करने का लक्ष्य भी निर्धारित करता है।

ऐसे महापुरुषों का आदर्श आज हमारे समक्ष परमात्म स्वरूप में उपस्थित है—प्रार्थना की पंक्तियाँ उसे स्पष्ट कर रही हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ कि परमात्मा के चरणों में आओ भी सही और समर्पित भी बनो ताकि अभी भी शान्ति मिले और समस्याओं के समाधान निकालने का पुरुषार्थ भी बलवान बने। शान्ति के साथ आरंभ किया जाने वाला पुरुषार्थ निश्चय मानिये कि शान्ति के साथ ही चलेगा, शान्ति के साथ ही फलेगा तथा अन्ततोगत्वा परिपूर्ण रीति से शान्ति लाभ ही करेगा। अतः परमात्मा और उनके प्रतिनिधि सद्गुरु के चरणों में समर्पित होकर शान्ति की खोज में सफलता प्राप्त करो।

### शान्ति का मार्ग मिलेगा सद्गुरु के चरणों में

सद्गुरु की महत्ता सुविदित है क्योंकि गोविन्द की पहचान भी गुरु के माध्यम से ही होती है। इस कारण शान्ति का मार्ग भी सद्गुरु के चरणों में ही प्राप्त हो सकेगा। गुरु ही समस्याओं के मूल कारणों की जानकारी देंगे तथा विधि बतायेंगे कि किस प्रकार अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को परिमार्जित व परिवर्तित बनाकर उन समस्याओं का विकासशील समाधान निकाला जा सकेगा। उसी विधि से शान्ति के अनुभव का मार्ग भी निष्कण्टक बन सकेगा। यह सरल काम नहीं होता है क्योंकि पूरे जीवन का रूपान्तरण करना होता है, अतः अपने आप को सद्गुरु के चरणों में समर्पित करें। वे चरण आपका जीवनोद्धार ही नहीं, आत्मोद्धार भी करने में समर्थ होते हैं।

जिस प्रकार दूध ज्यादा गर्म हो जाने पर उफन कर बरतन से बाहर निकल जाता है, तब उसका उपचार करना होता है। विवेकशील बहिर्ने कुछ ठंडे पानी के छींटे लगा देती हैं, जिसकी शीतलता से वह उफान नीचे बैठ जाता है। वह उफान कुछ समय के लिये ही रुकता है किन्तु इस बीच दूध की रक्षा करने का उपाय कर लिया जाता है। उसी प्रकार आज का मानव जटिल समस्याओं की आग

में झुलस रहा है—उफन रहा है और इसी में वह शान्ति के चन्द्र क्षण निकालकर ठंडे दिमाग से अपनी समस्याओं पर सोच भी नहीं पाता है। उबाल के ऐसे समय में यदि वह सद्गुरु के चरणों में चला जाता है तो उनके प्रवचन रूपी ठंडे छींटे उसके उबाल को एक बार तो नीचे बिठा देंगे जिसका अर्थ यह होगा कि उसे विचार करने के लिये शान्ति के कुछ क्षण और गुरुदेव की कृपा प्राप्त हो सकेगी। उबाल फिर से उठे, उसके पहले वह अपनी समस्याओं के निदान के बारे में कुछ न कुछ ठोस सोच लेगा और उस पर अमल करेगा, जिसकी वजह से शायद यह फिर उबाल न उठे या उठे भी तो वह उसका सरलता से शमन कर सके।

शान्ति लाभ के लक्ष्य को सामने रखकर मानव को चिन्तन करना चाहिये कि ऐसे उबाल क्यों उठते हैं और किस प्रकार वे उसकी कार्यकारी ऊर्जा का विनाश करते रहते हैं? इस मनुष्य के शरीर रूपी बरतन में विचार रूपी दूध मन की अशान्त दशा के कारण जल्दी ही गरम हो जाता है और उबलते हुए बाहर निकलने लगता है। वह उष्णता स्वयं को भी और दूसरों को भी जलाने वाली होती है। यह उष्णता क्रोध आदि विकारों के रूप में बाहर फूटती है, जो तीव्र रूप से ज्वलनशील होती है। अपना ही विचार अपने से नहीं संभलता है—यह उसी का दुष्परिणाम होता है। मनुष्य में अपने विचारों को पचाने की तथा उनका सत्प्रयोग करने की क्षमता होनी चाहिये। यह क्षमता नहीं होती है, उसी का कटु फल स्वयं को भी भोगना पड़ता है और दूसरों को भी सन्ताप मिलता है। क्रोध रूपी उबलने वाले विचारों से निकला हुआ वचन तलवार की धार से भी तेज होता है क्योंकि तलवार का घाव तो भर जाता है लेकिन कटु वचन का घाव कभी नहीं भरता। क्रोध के समय कम ज्यादा सभी का अनुभव होता है कि अकारण ही परिवार जन से लड़ पड़ते हैं या कि बच्चों को पीटने लग जाते हैं। वह वास्तव में क्रोधी के मन का ही उबाल होता है जिस दशा में वह सारपूर्ण कुछ भी नहीं सोच पाता है, बल्कि सही सोचा हुआ भी गायब हो जाता है। उस क्रोधी मन का जब वचन और शरीर अनुकरण करते हैं तो सारे वातावरण में संघर्ष की कटुता छा जाती है और कभी-कभी तो जघन्य अपराध भी घटित हो जाते हैं। ऐसे समय में यदि गुरु के चरणों में पहुंचकर समर्पित हो जायें तो वह उबाल एक बार तो अवश्य ही शान्त हो जायेगा। उस समय मन-मस्तिष्क को तनिक शान्ति का अनुभव भी होगा। शान्ति के उन क्षणों में सद्गुरु का उपदेशामृत भी जले हुए मन को स्वस्थ बना देने वाला उपचार कर सकेगा। मन की शान्ति वचन और शरीर के योग व्यापार में भी शान्ति का संचार करेगी।

## विकारों के शमन में ही सुख और शान्ति

क्रोध आदि विकारों का शमन जब तक अपनी इच्छाशक्ति जगाकर नहीं किया जायेगा, तब तक न तो स्वयं के जीवन की समस्याओं का समाधान निकलेगा और न ही समाज की समस्याओं को हल करने में अपनी सहायता पहुंचाई जा सकेगी। क्रोध के उबाल के समय में किसी को समझाना और शान्त करना बहुत कठिन होता है। सद्गुरु का प्रभाव दूसरी बात है वरना समाज के चतुर नेता भी उसको समझाने का प्रयत्न करें तो वैसा प्रयत्न भी विफल हो जाता है। जब कोई व्यक्ति क्रोध के आवेग में उबल रहा होता है तब उसे कितना ही समझाया जाये लेकिन उस पर तत्काल में असर नहीं पड़ता है। क्रोधावेश मनुष्य को अंधा बना देता है। उसको उस समय यह भान भी नहीं रहता कि उसके सामने कौन खड़ा है, क्या बोल रहा है? वह उसके लिये कितना हितावह है? वह कुछ भी समझ नहीं पाता है। उसके चर्म चक्षु अंगारे की तरह जलते हुए लाल-लाल हो जाते हैं जो बाहर भली-भांति नहीं देख पाते तथा अन्तर्चक्षु तो बिल्कुल अंधे हो जाते हैं। इतने अंधे कि उसे अपने ही हिताहित का भान नहीं रहता। ऐसी कठिन वेला में भीतर-बाहर फैले उस विकार का शमन करने का सामर्थ्य सद्गुरु के पास अवश्य होता है। जैसे क्रोध के विकार की एक बात है, वैसे ही विविध विकारों के शमन का उपाय सद्गुरु बतलाते हैं और वह मार्ग दिखाते हैं जिस पर चलकर विकारग्रस्त मनुष्य अपने जीवन में शुभ परिवर्तन ला सकता है।

यह निश्चय मानिये कि जीवन में फैले हुए आत्मस्वरूप को विद्रूप बनाने वाले विविध विकारों का जब तक संकल्पबद्धता के साथ शमन नहीं किया जायेगा, तब तक इस जीवन में सुख और शान्ति की सच्ची अनुभूति नहीं हो पायेगी। जीवन विकास के आरंभ में भी शान्ति चाहिये क्योंकि उसके बिना समस्याओं के कारणों की खोज तथा समाधान का उपाय संभव नहीं होता है तो विकास की लम्बी यात्रा में शान्ति की आवश्यकता होती है ताकि कहीं भी आवेग या आवेश में कदम लड़खड़ाए नहीं और इस यात्रा का अन्त तो शाश्वत शान्ति की प्राप्ति में शान्तिमय होता ही है।

## समस्याएँ हल होंगी दूसरों के सुख पर सोचने से

मनुष्य जितना अधिक स्वार्थी बनता है और अपने ही सुख को दृष्टि में रखता है, तब उसका विचार और आचरण अनुदार तथा संकुचित होता है। समाज में रहते हुए भी वह जब समाजहित को दृष्टि में नहीं रखता तथा अपनी

तृष्णा की ही पूर्ति में अंधा बन जाता है, तभी तरह-तरह की समस्याएँ पैदा होती हैं। इस प्रक्रिया में कितनी और कैसी-कैसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं तथा जटिल बनती हैं—इसका अनुभव आप लोगों को भली प्रकार से होगा। लेकिन इसके स्थान पर एक यह अनुभव करके भी देखिये कि अपने सुख से भी ऊपर और आवश्यक हो तो अपने सुख की बलि देकर भी दूसरों के सुख की ओर पहले ध्यान दिया जाये तो वर्तमान समस्याएँ सुलझ ही नहीं जायेंगी बल्कि वैसी समस्याएँ फिर पैदा भी नहीं होंगी।

यह एक तथ्य है कि स्वार्थ और कठिन स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य जिन क्षेत्रों में भी जितने रूपों में कार्य करता है, वहां दूसरों के हितों से बराबर टकराव होने के कारण तरह-तरह की समस्याएँ पैदा होती हैं तथा अन्य विकारों के आवेग में वे कटुतम और जटिलतम भी बनती जाती हैं। वैसे ही यह भी तथ्य है कि जब दूसरों की सुख सुविधाओं की ओर प्राथमिकता से ध्यान दिया जायेगा तथा प्रयास किये जायेंगे तो स्वार्थ जन्य टकराव के अवसर वहां नहीं आयेंगे फिर वैसी समस्याओं के पैदा होने का प्रश्न ही कहां रहेगा? उस व्यवहार से जो समस्याएँ हैं वे भी सुलझ जायेंगी, क्योंकि दूसरों को सुख देने के विचार और व्यवहार के कारण संघर्ष के स्थान पर सहानुभूति एवं सहयोग का उदय होगा। ये वृत्तियाँ टकराने वालों को भी आपस में जोड़ देगी तथा आत्मीय समानता एवं एकरूपता का बोध करायेगी।

इस युग में जिस प्रकार की समस्याओं का प्रादुर्भाव हो रहा है, उनका मूल कारण अज्ञान और स्वार्थ है बल्कि यों कहें कि अज्ञान ही है। कारण, स्वार्थ भी तो अज्ञान की ही उपज के रूप में सामने आता है। यदि मनुष्य को सम्यक् ज्ञान हो जाये तो वह आत्मीय समानता के साथ सत्य को समझ जायेगा और अपनी जीवन शैली को अहिंसक बना लेगा, तब भला स्वार्थ पैदा ही कहां से होगा? स्वार्थ की जगह सहयोग होगा, क्रूरता के स्थान पर कोमलता आ जायेगी तथा अनुदारता की जगह हृदय की उदारता व्याप्त हो जायेगी। इस अज्ञान को दृष्टि से दूर करना दुष्कर है तो एक दृष्टि से सरल और साध्य भी हो सकता है। अगर इस परिस्थिति का विज्ञान आज का मानव जान ले तो उसे शान्ति के क्षण अवश्यमेव सुलभ हो सकेंगे। किन्तु ऐसी दृष्टि प्राप्त करने के लिये सद्गुरु की दृष्टि में उतरना होगा और आस्था के साथ उनसे शान्ति का मार्ग बताने का निवेदन करना होगा। गुरुदेव ही बतायेंगे कि परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के हित में सोचना तभी सफल बन सकता है जब मनुष्य पहले अपने बारे में सोचे, अपने द्वारा होने वाले संघर्षों को रोके तथा विवेकपूर्ण प्रयोगों से शान्ति

के क्षण निकाले और उनका स्व-पर जीवन विकास के हित में सदुपयोग करे। यह सदुपयोग ही मनुष्य को शिक्षा देगा कि अपना ही सुख अपने को इतना अधिक सुखी नहीं बनाता जितना कि दूसरों का आत्मीयतापूर्ण सुख अपने को सुख का भव्य आनन्द देता है। दूसरों का सुख ही परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व का सुख होता है यानी कि सबका सुख होता है। यह सबको सुखी देखने की अन्तरानुभूति ही सभी समस्याओं का सच्चा समाधान है बल्कि अपने निज के विशुद्ध सुख का भी उद्गम स्थान वही है। सुख दोगे तो सुख जरूर मिलेगा।

### आन्तरिक सुख ही सच्चा सुख होता है

सुख दो प्रकार का होता है। एक बाहर का सुख और दूसरा भीतर का सुख। आप बाहर के सुख का तो प्रत्यक्ष अनुभव से ज्ञान रखते हैं। यह नहीं, कि आपको कभी भीतर का सुख अनुभव में नहीं आता, किन्तु या तो उसकी तरफ आप ध्यान नहीं देते अथवा उसकी उपेक्षा कर देते हैं—तभी उसकी वास्तविकता से आपका पूरी तरह से परिचय नहीं हो पाता है। आप सुख-सुविधाओं से भरे पूरे भवन में रहते हों, बहुमूल्य वस्त्र पहनते हों, रुचिकर भोजन जीमते हों, लोगों में आपकी प्रतिष्ठा हो, सत्ता के अधिकार भी हों और सब जगह आपको आदर मिलता हो अपनी सम्पन्नता के कारण—तो आप समझते हैं कि आप बहुत सुखी हैं। दूसरी ओर अपने ही स्वार्थों में रचे पचे रहकर भी कभी किसी गरीब की सहायता का या कि किसी पीड़ित के दुःख निवारण का छोटा-सा भी भला काम आपके हाथों हो जाता है, उस समय भीतर में आपको एक अनोखे सुख का अवश्य ही अनुभव होता होगा—चाहे वह अनुभव कुछ देर के लिये ही हो। मैं आप से कहता हूँ कि उस कुछ देर होने वाले भीतर के सुख की बाहर के सुख से तुलना करें तो अवश्य प्रतीत होगा कि वह भीतर का सुख अपूर्व होता है। अधिक बार और अधिक देर तक ऐसे भीतर के सुख का यदि आप अनुभव लेने लगेंगे तो आपका निश्चय बन जायेगा कि बाहर के विविध सुखों की अपेक्षा भी भीतर के सुख के वे क्षण अमूल्य थे। इसी तरह अभ्यास पूर्वक आप निर्णय कर सकेंगे कि बाहर का सुख सच्चा सुख नहीं है क्योंकि वह बाहर के नश्वर पदार्थों पर टिका हुआ होता है। पदार्थों की अनुकूलता है तो सुख है—पदार्थ नहीं रहे तो सुख भी चला गया। पदार्थों के रहते हुए कई तरह के तनाव पैदा हो गये तब भी वह सुख नहीं रहा। इस तरह बाहर का सुख वास्तव में सुख नहीं, मात्र सुखाभास होता है। इसके विपरीत भीतर के सुख के जितने अधिक स्रोत आप खोलते जायेंगे, वह सुख बढ़ेगा ही नहीं, बल्कि वह स्थायी भी होता जायेगा और बाहर के तनावों में भी मन को विचलित नहीं होने देगा।

सुख का अनुभव जैसे शाश्वत रूप ले लेगा। यही वास्तविक सुख होता है जो कहीं बाहर पर आधारित नहीं बल्कि भीतर के मन पर आधारित होता है। मन एक बार सध गया तो वह सुखानुभव भी सध जाता है।

निष्कर्ष यह है कि भीतर का सुख पैदा होता है और प्रगाढ़ बनता है दूसरों के दुःखों को दूर करने से—पीड़ितों की सहायता करने से तथा चेहरों पर खुशी की रोशनी जगाने से। उनमें अपने शुभ प्रयासों से जो सुख पैदा किया जाता है और प्रसन्नता के रूप में जो आनन्दानुभव उन्हें होता है, उससे हजार गुना आनन्दानुभव उस व्यक्ति को होता है जो उनको सुखी करने में अपने प्रयास करता है। यही रहस्य है भीतर के सुख का और ऐसा आन्तरिक सुख ही सच्चा सुख होता है। जो सदा एवं सर्वदा आनन्दानुभव कराता ही रहता है। सुकृत करने वाले को कभी दुःख का अनुभव नहीं होता, क्योंकि वह अपने स्वार्थ साधने से बहुत ऊपर उठकर परार्थ में तल्लीन हो जाता है। अपने आप को समर्पित कर देने से ही अपार एवं शाश्वत सुख मिलता है।

### सुख दें औरों को, शान्ति लें आप

यदि आप सुख देंगे औरों को तो सुख मिलेगा आपको, क्योंकि तब वे और (पराये) नहीं रहकर अपने हो जायेंगे। आत्मीयों की जितनी अधिक सेवा की जायेगी और उससे जो अपने को आन्तरिक सुख की प्राप्ति होगी, उसी से अपने आप को शान्ति की अनुभूति होगी। यही अनुभूति प्रगाढ़ होती हुई हमारे सम्पूर्ण जीवन को परम शान्ति से महिमा-मंडित बना देगी।

शान्ति प्राप्ति के इसी पथ पर आगे बढ़ने से जो प्रतिष्ठा मिलती है, उसे ही सच्ची प्रतिष्ठा जानिये क्योंकि यह प्रतिष्ठा होती है विश्वसनीयता की। सबको अपने ही आत्म-सम आत्मीय मान कर जब उनकी सेवा की जाती है तो उनका अपने प्रति गाढ़ा विश्वास जम जाता है। उस विश्वास को ही आप सच्ची पूंजी मान सकते हैं, क्योंकि तब वे सब लोग आपके इशारों पर सत्पथ पर चलने के लिये तत्पर हो जायेंगे। यह आत्मीयता का ही सुखद विस्तार होगा। लोगों का अतुल विश्वास लेकर उसे निभाना भी होता है क्योंकि विश्वास पैदा करने में तो बहुत श्रम व समय की जरूरत होती है लेकिन एक ही झटके में अर्जित सारा विश्वास गुमाया जा सकता है। एक बार खोया हुआ विश्वास फिर प्राप्त करना कठिन होता है। इस पर एक कथा याद आ गई है।

प्राचीन काल की यह घटना है जब राजा लोग भरे दरबार में न्यायदान का कार्य किया करते थे। वहीं सारा मामला सुना और उसी वक्त फैसला

किया—यही उस वक्त की न्याय पद्धति थी। एक व्यापारी बहुत दुःखी और अशान्त हो गया था—यहाँ तक कि पागल होने ही वाला था। तभी एक सुन्न पुरुष ने उसे सलाह दी कि वह राजा के दरबार में पहुंचकर न्याय की गुहार लगावे। वह राजा के दरबार में पहुंचकर बुरी तरह से रोने लगता है, तब आश्वासन पाकर वह अपनी दुःख गाथा सुनाने लगा। उसने कहा—महाराज, मैं और मेरा एक मित्र दोनों धनोपार्जन के लिये परदेश गये थे और वहां मेरी सत्यनिष्ठा के कारण हमारा व्यापार खूब जमा। मेरी इतनी प्रतिष्ठा हो गई कि लोग बिना दस्तखत या रसीद के अपने रुपये जमा करा जाते थे। मेरा हमेशा ईमानदारी पर जोर रहता था लेकिन मेरे मित्र का सोचना सही नहीं था। वह कहा करता था कि व्यवसाय में ईमानदारी से काम नहीं चलता है। इस पर मेरा उसके साथ हमेशा मतभेद चला करता था सो हम अलग हो गये। उसने अपना व्यापार खूब झूठ-कपट पर चलाया। पहले-पहले उसने कमाई भी खूब की लेकिन बेईमानी कब तक छुपती? आखिर उसने अपना विश्वास गुमा दिया और अपनी सारी पूंजी से हाथ धो बैठा। इतना लाचार हो गया कि कोई उसे मजदूरी तक देने को तैयार नहीं होता था। वह भूखों मरने लगा।

एक दिन मेरा वह मित्र मेरे पास आया और अपना दुःखड़ा रोने लगा। उसने कहा कि अब वह वापस जा रहा है सो आप भी साथ में चलिये। मैंने अपनी असमर्थता जाहिर की किन्तु उसे सीख दी कि वहां भी अपना नया व्यापार ईमानदारी से करेगा तभी जमेगा। उसने अकेले ही लौटने का इरादा जाहिर किया और मेरे घर पर कोई सन्देश देना हो तो पूछा। मैंने कुशलता के समाचार कहलाये और अपनी धर्मपत्नी को देने के लिये सवा सवा लाख के दो हीरे उसे दे दिये। मेरा मित्र चला गया।

मार्ग में उसका मन बिगड़ गया और उसने वे हीरे खुद रखने का निश्चय कर लिया। घर पहुंचकर उन हीरों को अन्य गिरवी रखकर उसने कपड़े की दुकान लगाई। जब मेरी धर्मपत्नी को उसके आगमन की खबर लगी तो वह मेरी कुशल क्षेम पूछने उसके पास गई। उसने बताया कि मैं वहां सबकुछ गंवा कर भिखारी की तरह घूम रहा हूँ और उसके कहने पर भी इसी कारण मैं नहीं लौटा हूँ। यह सुनकर मेरी सती साध्वी धर्मपत्नी अत्यन्त दुःखी हो गई और उस कारण अशक्त हो गई।

इधर मैं कुछ समय बाद अपना सारा कारोबार समेट कर अपनी सम्पत्ति कई वाहनों में भर कर रक्षकों की एक फौज के साथ अपने घर पहुंचा। वहां अपनी धर्मपत्नी की दुर्दशा देखते ही मेरी आंखों से आंसू बरसने लगे। सारी

कहानी सुन कर मुझे दुःख भी हुआ और गुस्सा भी आया। मैं तुरन्त मेरे मित्र के घर पर गया। मैंने उससे पूछा कि तुमने मेरी धर्मपत्नी को कुशलता का सन्देश भी नहीं पहुंचाया और दोनों रत्न भी नहीं दिये—इसका क्या कारण है? उसने इस पर मेरी धर्मपत्नी पर ही कलंक लगाते हुए कहा कि वह झूठ बोल रही हैं क्योंकि उसका एक अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध जुड़ गया है। वह बड़ी मायावी है और आपके सामने ढोंग कर रही होगी। मेरी धर्मपत्नी मेरी विश्वासपात्र रही थी किन्तु ऐसे कलंक की बात सुनकर मैं बहुत ही दुःखी और अशान्त हो गया हूँ। कृपा करके आप ही मेरे दुःख को मिटा कर मुझे शान्ति दीजिये।

राजा ने सारी कहानी सुनकर पूछा कि क्या उसके कोई साक्षी हैं? उस व्यापारी ने इनकार किया तो राजा ने आश्वासन देकर उसे घर भेज दिया। कहा कि शीघ्र ही उसके सारे मामले की जांच करके उसे न्याय दिया जायेगा। राजा चतुर था, उसने गहराई से चिन्तन करके न्याय का मार्ग खोज ही लिया। एक दिन उसने उस व्यापारी के मित्र को दरबार में बुलावा भेजा। उससे सारी बात पूछी गई तो वह साफ-साफ झूठ बोल गया कि उसने दोनों हीरे व्यापारी की धर्मपत्नी को परदेश से आते ही खुद सौंप दिये थे। उसके कोई साक्षी हैं—यह पूछने पर उसने तुरन्त उत्तर दिया—इस बात के चार गवाह हैं और वे चारों नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। राजा ने चारों को बुलवाया। उन्होंने भी हीरे सौंपने की घटना को अपनी आंखों देखी बताई। तब राजा ने पांचों को अलग-अलग बिठा दिया और एक-एक को अपने अन्दर के कक्ष में बुलाया। वहां कांच के छोटे-बड़े कई टुकड़े रख लिये गये। प्रत्येक को उन हीरों के आकार के टुकड़े छांटने को कहा गया। पांचों झूठे थे—इस कारण पांचों द्वारा उन दोनों हीरों के समान छांटे गये कांच के टुकड़े एकदम अलग-अलग आकार के थे। फिर पांचों को एक साथ दरबार में बुलाकर उनके द्वारा छांटे गये अलग-अलग आकार के कांच के टुकड़े सब को दिखाये गये और पूछा गया कि क्या वे वास्तव में सच बोल रहे हैं? यह सब देखते ही व्यापारी का मित्र थर-थर कांपने लगा और राजा के पैरों में गिरकर अपने किये की माफी मांगने लगा। तभी व्यापारी सेठ को भी बुलवा लिया गया।

मित्र ने आंखों से आंसू बहाते हुए कहा—महाराज, मैं बहुत दुष्ट हूँ। मैंने झूठ ही नहीं बोला है बल्कि अपनी बेईमानी में सेठ की सती साध्वी धर्मपत्नी पर दुराचरण का झूठा कलंक भी लगाया है। यह सब फरेब मैंने सिर्फ दोनों हीरों को गायब करने के लिये ही किया। मैं अब सच बोलकर निवेदन करना चाहता हूँ कि मेरे इस व्यापारी मित्र की धर्मपत्नी एकदम पतिव्रता है और मैंने इसको



हीरे नहीं दिये। आप मुझे मेरे अपराध के लिये कड़े से कड़ा दंड दीजिये, मैं उसे भुगतने के लिये तैयार हूँ। यह बात सुनकर उस व्यापारी की अशान्ति दूर हो गई तथा वह शान्त और प्रशस्त बन गया। उसने कहा—राजन्! मुझे हीरों की चिन्ता नहीं थी, मैं तो अपनी सती साध्वी धर्मपत्नी पर झूठा कलंक लगाये जाने से दुःखी था। यह मेरी इज्जत का सवाल हो गया था। अब सारी स्थिति साफ हो गई है इसलिये मेरा निवेदन है कि मुझे हीरे भी नहीं दिलवाये जायें तथा मेरे मित्र को दंड भी नहीं दिया जाये, क्योंकि वह अपने पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर ही सुधर जायेगा।

इस कहानी से सार निकलता है कि दूसरों को दुःख पहुंचाकर स्वयं को अन्ततोगत्वा कितना दारुण दुःख भुगतना पड़ता है लेकिन दूसरों को सुख पहुंचाने की निष्ठा रखने वाला पुरुष अन्त में जाकर अपने दुःख को भी भूल जाता है और दुःख देने वाले को भी सुख पहुंचाने के लिये तैयार हो जाता है। आन्तरिक सुख का ऐसा ही अनूठा प्रवाह होता है कि समर्पण की भावना से उस प्रवाह में बहकर ही सच्चा सुख मिलता है। यही सच्चा सुख शान्ति का वाहक होता है।

### समस्याओं को सुलझाकर शान्ति लाभ लीजिये

समस्याओं की जटिलता में उलझ कर दुःखी मत होइये और न अशान्ति व तनाव की आग में जलकर झुलसिये बल्कि आन्तरिक आनन्द का सुखानुभव करते हुए कठिन से कठिन समस्याओं को सुलझाइये तथा साथ में शान्ति लाभ भी कीजिये—ऐसा शान्ति लाभ जो कभी क्षय नहीं होता। आत्मा के अन्तस्तल से उभरने वाली ऐसी शान्ति निरन्तर अभिवृद्ध होती जाती है और स्व कल्याण एवं लोक कल्याण को संबद्ध बनाते हुए इस संसार में भी जीवन विकास की नई प्रेरणा बिखेरती जाती है। जब शान्ति से ओत-प्रोत अपना और समाज का जीवन हो जाता है तब समस्याएँ पैदा ही नहीं होती हैं तथा छोटी मोटी समस्याएँ पैदा भी हो गईं तो चुटकी बजाते ही सुलझा ली जाती हैं। शान्ति का ऐसा ही चमत्कार होता है।

शान्ति को जीवन में सर्वत्र व्याप्त बना देने के प्रश्न पर सभी लोगों को गंभीरता पूर्वक चिन्तन करना चाहिये। शान्ति लाभ ही समस्याओं को सुलझा लेने का मूल है—इस पर जब तक आज का मानव मूल को प्राप्त करने की कोशिश नहीं करेगा तब तक वह अपनी जटिल समस्याओं की उलझन से बाहर नहीं निकल सकेगा। मूल पर चिन्तन करना तथा मूल को खोज कर समस्याओं का समाधान निकालना—आज के मानव का प्रथम पुरुषार्थ बन जाना चाहिये।

यह वास्तविकता है कि सत्य की सदा विजय होती है किन्तु सत्य का सफल अनुसरण करने के लिये अहिंसा के विस्तृत आचरण के साथ शान्ति और मुख्य रूप से आन्तरिक शान्ति का अर्जन करना अतिआवश्यक होता है। आन्तरिक शान्ति का स्रोत आप जान चुके हैं कि व्यक्ति जितना अधिक समर्पित जीवन जीने वाला बनता जायेगा, उतना ही अधिक वह दूसरों को आत्मीय बनाकर सुख पहुंचायेगा एवं अपने अन्तःकरण को सच्चे सुख से भर लेगा। यह सच्चा सुख ही उसे सदा शान्त बनाये रखेगा और शान्ति के साथ वह सभी प्रकार की समस्याओं का सुन्दर समाधान निकाल लेने में सक्षम बना रहेगा।

अतः सुज्ञ पुरुषों का कर्तव्य है कि ऐसी आन्तरिक शान्ति एवं क्षमता को प्राप्त करने के लिये परमात्मा के चरणों में समर्पित हो जावें और राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकारों पर विजय प्राप्त करते हुए स्व कल्याण एवं लोक कल्याण को एक साथ सिद्ध करने का सफल पुरुषार्थ करें।

दिनांक 27.09.86

(जलगांव)

## 2

## समत्व-साधना

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

जिनेश्वर देव के परम पावन भावमय चरणों को अपने अन्तःकरण में स्थान देते हुए अपनी निजात्मा को परिमार्जित करने का स्वर्णिम अवसर आज हमें प्राप्त हुआ है एवं वीतरागता के कुल में नवीन जन्म लेने का प्रसंग आया है।

वीतरागता का कुल कौन-सा तथा नवीन जन्म कैसा? वीतराग वाणी का श्रवण तो प्रति दिन हो रहा है किन्तु उन उपदेशों पर आन्तरिकता के साथ चिन्तन-मनन कितना होता है, उसी पर इस प्रश्न का उत्तर निर्भर करता है। वीतरागता के कुल का अभिप्राय है उन आत्माओं का वर्ग जो अपने रागभाव को व्यतीत कर देती हैं अर्थात् समत्व के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो जाती हैं। और निजात्मा का उस कुल में नवीन जन्म तभी हो सकता है जब वह भी अपने राग भाव को समूल नष्ट करने की दिशा में संकल्पपूर्वक आगे बढ़े। समत्व साधना ही वीतरागता के कुल का प्रधान लक्षण मानी गई है।

वीतरागता की उपलब्धि के लिये समत्व साधना का जो स्वरूप जैन दर्शन में बताया गया है, वह अद्वितीय है। कई विचारवान पुरुष मिलते हैं और वे अपने उद्गार प्रकट करते हैं कि जैन दर्शन एवं धर्म के सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से जीवन में वास्तविक शान्ति उत्पन्न करने वाले हैं। वे यह भी मानते हैं कि इन सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारकर प्रत्येक मानव शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रीति से अपने आप को अद्भुत शक्तियों का पुंज बना सकता है। वह अपने जीवन को भी श्रेष्ठ बनाता है तो लोक कल्याण के कार्य में भी समर्पण-भाव से प्रवृत्ति करता है।

ऐसे महान् जैन धर्म का आज विश्व में उतना प्रचार-प्रसार नहीं है, जितना कि सर्व कल्याण की दृष्टि से होना चाहिये। भारत में जैन धर्म के अनुयायियों की काफी संख्या है किन्तु मेरा अनुभव है कि जैन धर्म के सिद्धान्तों

की मार्मिकता को समझने वाले तथा उससे अपने आप को प्रभावित मानने वालों की संख्या उनसे भी अधिक है। जो जन्मजात जैन धर्मानुयायी हैं, वे वंश-परम्परा से इस धर्म के सिद्धान्तों को कितनी तत्परता से अपने जीवन व्यवहार में स्थान देते हैं— इस वास्तविकता पर कुछ विवाद हो सकता है, पर जो इन सिद्धान्तों से प्रभावित हैं, उनकी इनके अनुसरण के प्रति बड़ी ललक होती है। वे जैन धर्म को मर्यादा के रूप में स्वीकार करें या नहीं— यह दूसरी बात है किन्तु वे इन सिद्धान्तों को अपने जीवन व्यवहार में लाने के लिये अतीव आतुर रहते हैं। इस तथ्य का आपके सामने धर्मपाल भाइयों का ज्वलन्त उदाहरण है। अनेक बुद्धिजीवियों से मेरी भेंट होती रहती है जो जन्मजात जैन नहीं हैं लेकिन जैन दर्शन की प्राभाविकता को सर्वोपरि मानते हैं। इन्हीं अनुभवों के आधार पर मेरा मानना है कि यदि जैन सिद्धान्तों का समुचित रूप से प्रचार-प्रसार हो तो अपने देश में ही नहीं विदेशों में भी इसकी प्राभाविकता व्यापक कल्याण का कारण बन सकती है।

### सर्वश्रेष्ठ विशेषता है समता की भावना

जैन दर्शन की यदि किसी एक सर्वश्रेष्ठ विशेषता के विषय में पूछा जाये तो कहना होगा कि वह उसकी समता की भावना है। यह समता एकमुखी नहीं बहुमुखी मानी गई है। यह बहुअर्थी भी होती है।

मूल समता या समानता मानी गई है सभी आत्माओं के बीच में— चाहे वे सिद्ध गति को प्राप्त कर चुकी हैं अथवा अभी तक संसार में ही परिभ्रमित हो रही हैं। आत्मा के मूल स्वरूप की समानता से यह समता मानी गई है। आत्मा का मूल स्वरूप परम निर्मल तथा अरूपी होता है। वह स्वरूप रूपी बनता है संसार में जड़ शरीर को प्राप्त करके। चेतन और जड़ की संयुक्तता ही संसार है और जब चेतन जड़ के साथ का अपना सम्बन्ध हमेशा-हमेशा के लिये तोड़ देगा, तब आत्मा अपने मूल स्वरूप में पहुँच जायेगी और सिद्ध हो जायेगी।

आत्मा का सम्बन्ध जड़ से जुड़ता है, इस कारण जड़त्व से ग्रसित भी होता है। शरीर को धारण करने से ही आत्मा दृश्यमान जीवन प्राप्त करती है तो संसार के दृश्यमान पदार्थों का प्रयोग भी करती है। निर्ममत्व भाव से शरीर और सभी पदार्थों को वह काम में लेवे तब तक तो कोई बात नहीं, किन्तु यह उपयोग ममत्व पैदा कर देता है। शरीर मेरा है, परिवारजन मेरे हैं, धन-सम्पत्ति मेरी है, पद अधिकार मेरा है— ऐसा ममत्व पैदा ही नहीं होता बल्कि गहरा होता

जाता है—यही सबसे दुविधा है। इसे राग भाव कहते हैं। ममत्व से राग होता है और राग से द्वेष जन्म लेता है। जो हमारे मनोऽथवा इष्ट हैं, उनके प्रति राग होता है और जो अमनोऽथवा अप्रिय हैं अथवा जो हमारे मनोऽथवा इष्ट का अनिष्ट करना चाहते हैं, उनके प्रति द्वेष पैदा हो जाता है। राग की प्रतिक्रिया को द्वेष कह दीजिये। राग, द्वेष के घात-प्रतिघातों का नाम ही सांसारिकता है—जड़ग्रस्तता है। इन्हीं से मन, वचन एवं काया का शुभाशुभ योग व्यापार होता है तथा उसके अनुसार आत्मा के साथ पुण्य या पाप कर्मों का बंध होता है। यह कर्मबंधन ही आत्मा की बेड़ी बन जाता है। कर्म बंधन का क्षय किये बिना आत्मा अपने मूल स्वरूप यानी कि सिद्ध गति को प्राप्त नहीं कर सकती है। यह कर्म समूह भी पुद्गल स्वरूप जड़ होता है। एक जीवनान्त से दूसरे जन्म के बीच में कुछ समय के लिये जब आत्मा के साथ शरीर संयुक्त नहीं होता, तब भी यह कर्म समूह तो संलग्न होता ही है। आत्मा का जड़ से समूल पृथक्त्व सम्पूर्ण कर्म नाश के बाद ही होता है।

आत्मा की इस स्वरूप प्रक्रिया में समता और विषमता दोनों का बोध स्पष्ट होता है। समता की दृष्टि से सभी आत्माएँ एक समान होती हैं, लेकिन ममता ने जो उनमें अन्तर डाला है, वही उनकी विषमता है। ममता के त्याग के साथ विषमता घटती रहती है और समता बढ़ती रहती है। द्वेष को त्याग देना अपेक्षा से सरल माना गया है जबकि राग का त्याग बहुत कठिन होता है। मोह नष्ट हो जाये तो दूसरे सारे कर्म स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण राग को नष्ट कर देने वाले महापुरुष ही वीतराग कहलाते हैं। अब यदि आप वीतराग देवों को मानते हैं, वीतराग की आत्म-विकास की प्रणाली में विश्वास रखते हैं और ममता को छोड़कर समता के समरस में आनन्द की डुबकियाँ लगाना चाहते हैं तो सोचिये कि आप वीतराग कुल के हुए या नहीं? वीतराग कुल में तो आप हैं, फिर आप को नवीन जन्म की बात क्यों कही गई है?

अपना लक्ष्य विस्मृत कर देने पर किसी कुल में जन्मे लोगों को भी उनके कुल धर्म का ज्ञान कराना आवश्यक हो जाता है। वीतराग कुल में जन्म लेकर भी यदि आपकी आत्मा ममता के बन्धनों से जकड़ी हुई है और राग में रची-पची रहकर समता से विमुख हो रही है तो आपको कुल धर्म का ज्ञान कराना भी जरूरी है और उसकी व्यवहार-दीक्षा देना भी जरूरी है। और आप अगर ऐसी शिक्षा-दीक्षा ले लेते हैं तो वह आपका नवीन जन्म ही तो कहलायेगा। वह नवीन जन्म ही आपको समता एवं समत्व-साधना से सार्थक परिचय करा सकेगा। जैन दर्शन की इस सर्वश्रेष्ठ विशेषता को तभी आप आत्मसात् कर सकेंगे।

## समता ही मानव जीवन की मूल आकांक्षा

अपने बुद्धि-बल के कारण मानव अन्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ समझा जाता है और इस हेतु से समाज, राष्ट्र और विश्व की समस्याओं के प्रति उसका दायित्व भी सबसे बढ़कर होता है। इस दायित्व से मानव ने मुंह मोड़ रखा हो-ऐसी बात भी नहीं है। धर्म, दर्शन, अर्थ, राजनीति तथा समाज के विभिन्न क्षेत्रों में आज जो सम्पादित प्रगति दिखाई देती है, वह मानव की ही देन है। यदि हम मानव की व्यक्तिशः चर्चा करें तो हर युग में ऐसे महामानव हुए हैं, जो वीतराग भी हुए, ज्ञानी-विज्ञानी भी हुए तथा इन्हीं महामानवों ने आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग भी दिखाया। इन्होंने अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास तक उपार्जित किया। किन्तु यदि हम मानव की सामाजिक स्थिति की चर्चा करते हैं तो उस सामान्य विकास से भी अभी मानव-समाज पीछे है और खास तौर से समता की भावना को सामाजिक रूप से क्रियान्वित करने में पीछे है। यह अवश्य है कि वह लगातार इस दिशा में आगे बढ़ता रहा है और उसने महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ भी प्राप्त की हैं।

आत्माओं की समानता का सिद्धान्त स्वयं महामानवों के चिन्तन का ही तो नवनीत है। इसे चिन्तन ही क्यों कहें-अपनी सर्वज्ञता में इन्हीं महामानवों ने इस वस्तुस्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन किया। वीतराग देवों के उपदेश उसी तत्त्व-दर्शन के सारभूत संकलन हैं। वे ही आज आत्मिक ज्ञान विज्ञान के ज्योतिर्स्तम्भ हैं।

महामानवों की इस प्रेरणा ने ही प्रत्येक सामान्य मानव के हृदय में भी समानता की भावना जागृत की है। ज्ञात समय का इतिहास भी इस तथ्य का प्रमाण है कि चाहे दमनकारी राजतंत्र रहा हो या तानाशाहों का राज, सामान्य लोगों ने भी अपनी स्वतंत्रता एवं समानता के लिये कठिन संघर्ष किया है। वर्तमान युग में प्रचलित लोकतंत्र, समाजवाद या साम्यवाद की शासन प्रणालियाँ समानता की उसी उग्र भावना की प्रतीक हैं। आज की जो राष्ट्रीय व सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं, उनमें प्रत्येक नागरिक का अपना हस्तक्षेप रहे यानी कि किसी के विशिष्ट अधिकार न हो-इसी हेतु मत प्रणाली शुरू हुई कि प्रत्येक को मत का समान अधिकार मिले। कानून के शासन की भी शुरुआत हुई यह कि कानून के सामने कोई छोटा बड़ा नहीं-सभी बराबर। कानून के विरुद्ध बड़ा आदमी काम करे तब वह भी वही सजा पावे जो किसी भी छोटे आदमी को मिलती हो।

अभिप्राय यह कि मानव समाज की गति धीमी रही हो लेकिन समानता प्राप्त करने की दिशा में अवश्य रही है। इससे स्पष्ट होता है कि समानता इस

मानव जीवन की मूल आकांक्षा है, अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति में वह निरन्तर गति कर रहा है और समानता के विरोधी अपने ही निहित स्वार्थी साथियों के साथ संघर्ष भी कर रहा है। सांसारिक क्षेत्र की विभिन्न व्यवस्थाओं में मानवीय समानता स्थापित करने की उसकी आकांक्षा मानव को आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आत्मीय समानता को प्राप्त कर लेने की दिशा में जागरूक बनाती है। बाहर और भीतर जब समता की ललक तीव्र बन जायेगी तब आशा की जा सकती है कि संसार का वातावरण भी बहुत कुछ संशोधित हो सकेगा। तब बाह्य समता एवं सुखदावस्था के साथ आत्माभिमुखता प्रबल होगी एवं मानव के सामान्य रूप से महामानव बन सकने की आकांक्षा भी साकार बन सकेगी। यदि समता मूल आकांक्षा में है तो समता उच्चतम विकास में भी परिलक्षित अवश्य होगी।

‘सम्यक्’ शब्द को भी भली-भांति समझ लेना चाहिये। सम्यक् का अर्थ है ‘सम की ओर ले जाने वाला’। ‘सम’ की स्थिति को हमारे सम्पूर्ण दर्शन तथा सभ्यता एवं संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है। यहां तक कि हमारी भाषा के सभी सार्थक शब्द ‘सम’ प्रत्यय से जुड़े हुए हैं। इसका अर्थ है कि हमारे आदर्श के रूप में समता का स्थान सर्वोच्च है। सम की सर्वत्र कल्पना ही हमारी गति को समता की दिशा में निरन्तर सक्रिय बनाये रखती है, अतः हमने अपने प्रत्येक कार्य और प्रत्येक चरण की सफलता की कसौटी ही समता को माना है। यह सम्यक् शब्द भी इस दृष्टि से समता का ही वाहक है। इस कारण हमारे विचार एवं व्यवहार का मूल बिन्दु समता ही हो जाता है। सत्य वस्तुस्थिति तो यह है कि समता ही साधन है और समता ही साध्य है। वस्तुतः समता की ही सम्पूर्ति में हमने जीवन के सार्थक अस्तित्व को स्वीकार किया है।

समता का स्वरूप एकांगी नहीं है। उसका विस्तार भीतर भी होना चाहिये तथा बाहर भी। भीतर समता का अनुभाव जब जागृत बनेगा तो वह बाहर फूटे बिना और सक्रिय हुए बिना रह नहीं पायेगा। बाहर के वातावरण में तथा विभिन्न क्षेत्रों में जब समता का प्रसार होता है तो वह जन-जन की भीतरी समता को भी अवश्य प्रोत्साहित करता है। आत्मिक समता ही सांसारिक समता के विविध रूपों में प्रतिबिम्बित होती है। यदि ऐसा न हो तो भीतरी समता भी उतनी फलदायी नहीं मानी जा सकेगी। भीतरी उत्कृष्ट समता का धारक पुरुष सूर्य के समान तेजस्वी एवं प्रभावी होता है। क्या सूर्य को किसी भी आवरण में हमेशा के लिये छिपाया जा सकता है? कितने ही आवरण डाले जायें, लेकिन सूर्य की आभा प्रकाशित होकर ही रहती है। उसी प्रकार

भीतरी समता का अजस्र स्रोत बाहर प्रस्फुटित हुए बिना और सबको समता रस का पान कराये बिना रह ही नहीं सकता है। हकीकत में भीतर की समता ही सर्वाधिक प्रभावी रूप से बाहर की समता को प्रोत्साहित करती है जबकि बाहर की समता का सामूहिक स्वरूप व्यक्ति की भीतरी समता को प्रारंभिक स्थिति में प्रेरित करता है।

जीवन की चरम परिणति को इसी दृष्टि से समतामय कहा गया है। सम्यक् निर्णय शक्ति से प्रारंभ होने वाली समता ही जीवन के विभिन्न स्तरों में विकसित एवं परिपुष्ट बनती हुई अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को प्राप्त करती है।

### समता की प्रगति का मूल्यांकन

सम्यक् निर्णय की कसौटी ही यह है कि वह समता की ओर उन्मुख हो। समता की ओर उन्मुख होने का मापक यंत्र यह होगा कि वह निर्णय किस रूप में अपनी आन्तरिक विषमताओं को समाप्त करता है तथा सम स्थिति में पहुंचाता है? इस मापक यंत्र का माप लेगा कौन? यह जांच या माप स्वयं जागृत आत्मा तो करेगी ही, आपके किसी भी व्यवहार में आने वाला या आने वाले व्यक्ति भी उसकी जांच कर सकेंगे अथवा उसका माप ले सकेंगे। आपके व्यवहार की उनके मन पर कैसी प्रतिक्रिया होती है, वास्तव में वही उसकी जांच है—उसका माप है। वह प्रतिक्रिया, हो सकता है कि बहुत ही स्थूल हो फिर भी आपके निर्णय का यत्किंचित् मूल्यांकन उसमें झलकता हुआ अवश्य प्रतीत होगा। वह प्रतिक्रिया आपकी स्वयं की जांच को भी सही रूप से आंक सकती है। आपकी समग्र वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में समता की प्रगति किस गति से हो रही है—उसका मूल्यांकन इसी प्रकार किया जा सकता है, जो विभिन्न स्तरों पर तथा समय पर अवश्य किया जाता रहना चाहिये।

समता के स्वरूप को आप अधिकांश समझ चुके हैं। समता का विलोम शब्द होता है विषमता, जिसका अर्थ है—असमानता। कहां होती है असमानता या कि विषमता? यह भी आप जान चुके हैं। जहां मोह है, वहां राग और द्वेष है तथा राग और द्वेष का जितना विस्तार है, उतनी ही नानाविध विषमताओं की दरारें हैं। ये दरारें मोहाविष्टता के कारण निरन्तर चौड़ी और जीवन घातिनी बनती जाती हैं क्योंकि मोह का साथी होता है अज्ञान। आंखों पर यानी कि चेतना की खुली दृष्टि पर जब अज्ञान और मोह की पट्टी बंध जाती है, तब जीवन विकास का मार्ग कतरई नहीं दिखाई देता है—विषमताओं की दरारों में ही वह उलझता, फंसता और अपना सत्त्व खोता हुआ संज्ञाशून्य बनता रहता



है। यह मोहावेग होता है जड़ पदार्थों एवं जड़ सम्बन्धों से सुख प्राप्त करने की मृगतृष्णा के रूप में जो लालसा कभी पूरी होती नहीं लेकिन जिसके पीछे भटकते रहने का आवेश भी कम होता नहीं। ऐसी ही आत्म-पतन की विडम्बना होती है।

अतः जब भी आत्मानुभूति में तनिक मात्र भी सम्यक् निर्णय की जागृति कौंधती है तो इन सारी विषमताओं की कठिन दरारें भीतरी दृष्टि से दिखाई देने लगती हैं और तब महसूस होता है कि बिना किसी सारपूर्ण उपलब्धि के इन दरारों में भटकते हुए अपने जीवन का कितनी मूर्खता से सर्वनाश किया जा रहा है। वह विचारणा ही ज्ञान की पहली किरण बनती है जिसके प्रकाश में उन दरारों से बाहर निकलने का भी पहला सम्यक् निर्णय उपजता है। फिर तो अंधकार और प्रकाश के बीच एक सतत संघर्ष आरंभ हो जाता है। इस संघर्ष में अन्तरात्मा की जागृति जितने अंशों में प्रभावक बनती जाती है, उतने ही अंशों में विषमताओं की दरारें पाटी जाती रहती हैं। ऐसा प्रयास विचार, वाणी और व्यवहार के तीनों माध्यमों से संयुक्त बनकर सफलता की ओर अग्रसर बनता रहता है।

सफलता का तब यही लक्षण प्रकट होता है कि पहले जो 'यह मेरा है, वह भी मेरा है और मैं अपने 'मेरे' को अपने पास रखने के लिये कुछ भी करूंगा' ऐसी चेष्टा बराबर चलती रहती थी, वह बदल जाती है। तरह-तरह के परीक्षणों से यह धारणा बलवती हो जाती है कि बाहर कुछ भी मेरा नहीं है। जिस धन-सम्पत्ति को मैं मेरी मानता था, वह मेरी आवश्यकता की घड़ी में ही धोखा दे जाती है और मुझे दीन-हीन बना देती है। जिन सांसारिक सम्बन्धों को मैं अपने परम सहायक के रूप में देखता था, वे ही मेरी दुःख की वेला में दूर हो जाते हैं और पीड़ा की गहराइयों में अकेला ही छटपटाते रहने के लिये मुझे छोड़ देते हैं। और तो और मेरा अपना शरीर भी जब मुझे उसके उपयोग की सर्वाधिक आवश्यकता अनुभव होती है तब दुर्बल और श्रीहीन हो जाता है। इस प्रकार के अनुभव पर आधारित चिन्तन के क्षणों में ही समझ में आता है कि मेरा अपना मन स्वयं ही कितना भ्रमित था जो मेरी कार्यक्षम इन्द्रियों को भी भ्रमित कर रहा था और मेरे सारे बाहरी सम्बन्धों को भी असन्तुलित बना रहा था।

इसी चिन्तन से उपजता है सम्यक् ज्ञान का प्रकाश और उसमें ही क्षमता उत्पन्न होती है सम्यक् निर्णय की। तब नई धारणा का निर्माण होता है कि मेरा

कुछ नहीं है—जो कुछ मैं हूँ “मैं” हूँ अपने आत्म रूप में और सभी प्राणी जो कुछ हैं वे भी हैं अपने आत्म रूप में। कई प्राणी इस प्रकार की अनुभूति ले पाते हैं और कई अक्षम और अशक्य हैं। उनकी अक्षमता एवं अशक्यता को दूर करना मेरा आत्मिक कर्तव्य है क्योंकि आत्म-रूप में वे सब मेरे हैं और मैं उन सबका हूँ। मेरा कर्तव्य अति विस्तृत है इसलिये अपना सब कुछ देकर भी अपने इस कर्तव्य का पूर्ण रूप से निर्वाह कर सकूँ—यही मुझे करना चाहिये। बस इस बिन्दु पर समझिये कि सम्यक् निर्णय की समर्थता प्राप्त हो चुकी है तथा जीवन की गति समता की दिशा में प्रतिबद्धता के साथ मुड़ चुकी है। समता की प्रगति का मूल्यांकन इसी धारणा के साथ किया जाना चाहिये।

### समता की साधना का प्रश्न

किसी भी विषय पर बारम्बार चिन्तन से तदनु रूप विचार का निर्माण होता है और वह विचार बार-बार के परीक्षणों से खरा साबित होता है तभी वह धारणा के रूप में ढलता है। इस रूप में निर्मित धारणा ही पुरुषार्थ को शक्ति देती है और देती रहती है। समत्व अर्थात् समता को जब साध्य-साधन के रूप में स्वीकार करके अभ्यासपूर्वक धारणा का निर्माण करने की प्रक्रिया में जुटा जाता है तो उसे समत्व साधना का नाम दिया जा सकता है। आप जानते हैं कि बिना साधना के कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। फिर जीवन को समतामय बनाने के लिये तो निरन्तर साधना का क्रम चलाते रहना नितान्त अनिवार्य है।

प्रारंभिक रूप से किसी भाई या बहिन को जब ऐसी साधना में प्रवृत्ति करने को कहा जाता है तो तुरन्त ही उसकी निराशा का स्वर प्रकट होता है कि कहां उसके पास समय है और कहां उसके योग्य मानसिकता है? आप लोग टीवी, सिनेमा देखने, निरर्थक बातें करने, परिवार-समाज में व्यर्थ के झगड़े करने या शरीर को सजाने संवारने में समय की कमी महसूस नहीं करते हैं, किन्तु वहां पर आपको समय की कमी लगती है जहां अपनी आत्मा का विकास करने के लिये किसी भी धार्मिक क्रिया या अभ्यास को करने का अवसर आता है। विचार करके देखिये कि क्या आपकी यह दलील उचित है? परम पावन जिनेश्वर के सिद्धान्तों और तत्त्वों का ज्ञान करने के लिये ही आपको समय नहीं मिलता है। सच तो यह है कि इस दलील के पीछे आपकी वैसी मानसिक वृत्ति छिपी हुई है जो विषमताओं से ग्रसित है। समता के मार्ग के प्रति आपकी इस उपेक्षा का, आप नहीं जान पा रहे हैं कि युवा पीढ़ी पर कितना दुष्प्रभाव पड़ रहा

है। इसलिये दूसरों के दोषों पर से अपनी दृष्टि हटाकर स्वयं को बाहर-भीतर से देखने की चेष्टा करें।

समता की साधना का प्रश्न न आपके समयाभाव से अथवा न आपकी सुविधा-असुविधा से जुड़ा हुआ रहना चाहिये। यह तो मूल प्रश्न है जिसके समाधान के आधार पर आपके आत्म-विकास की समस्या ही नहीं, सम्पूर्ण परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व की विषमताओं की कठिन समस्याएँ सुलझती हैं। यह साधना प्राथमिक रूप से ही महत्त्वपूर्ण है। आज यहीं पर तपश्चर्या के प्रसंग से जिस प्रकार का उत्साहप्रद वातावरण बन रहा है, उससे भी प्रेरणा ली जानी चाहिये तथा आन्तरिक चिन्तन के माध्यम से समता की साधना की ओर सार्थक प्रवृत्ति करनी चाहिये। शब्द तो एक वाहन है, उससे भी इस कारण अधिक महत्त्व उसमें अन्तर्निहित भाव को दिया जाना चाहिये। उसी भाव को हृदयंगम करने तथा तदनुसार आचरण को ढालने से आत्मविकास का प्रसंग उपस्थित किया जा सकता है। आप प्रतिदिन ध्यानपूर्वक वीतराग देव की वाणी का श्रवण करें, उन शब्दों के भाव में रमण करें तथा समता की साधना का वरण करें—यह श्रेयकारी है। महासतियांजी श्री ज्ञानकुंवरजी ने महासती श्री उर्मिलाजी की दीर्घ तपस्या के विषय में बताया है कि विद्वत्ता के साथ-साथ जब तपश्चर्या का शुभ संगम होता है तो वह सोने में सुगंध के समान हो जाता है। पढ़ना, लिखना और व्याख्यान देना एक बात है तो तपश्चर्या का आचरण, आन्तरिक जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न तथा आसक्ति को समाप्त करने की ओर गतिशीलता ऐसे व्यक्तित्व को समता साधना का आधार स्तंभ बना देती है। ऐसे व्यक्तित्व समाज और राष्ट्र में नैतिकता, आस्तिकता तथा आध्यात्मिकता को अनुप्राणित बनाते हैं। आप भी अपनी बुद्धि लगाकर इस पर चिन्तन कीजिये और अपनी आध्यात्मिक सक्रियता को जागृत बनाइये।

### युवकों को समता का अर्थ समझाइये!

आज का युवक कभी भी धर्म विमुख नहीं हो सकता है यदि उसे समझाया जाये कि सब ओर फैली हुई विषमताएँ किस प्रकार प्रतिभा और योग्यता को खिलने से पहले ही निगल जाती है और नई पीढ़ी के सम्यक् उत्थान को ही प्रतिबाधित बना देती है अतः समता का अनुसरण करके सबके लिये उत्थान के समान अवसर पैदा किये जा सकते हैं। यदि समता के वास्तविक मर्म को युवक एक बार हृदयंगम कर लेगा तो वह उसकी साधना में निष्ठापूर्वक जुट जाने से कभी भी दूर नहीं रहेगा। युवा पीढ़ी के धार्मिक क्षेत्र से दूर रहने का आज

दोष युवकों को कम और उनके माता-पिता को अधिक दिया जाना चाहिये जो अपने तदनु रूप आचरण से उन्हें प्रभावित नहीं कर पाते हैं। सन्तान अपने माता-पिता के कहने का कम लेकिन उनके करने का ही अधिक अनुकरण करती है। अतः यदि माता-पिता स्वयं अपना आचरण संशोधित नहीं करते हैं तथा समता की साधना में अपनी गहरी अभिरुचि नहीं दिखाते हैं तो फिर वे अपने ही पुत्र-पुत्रियों को कैसे दोष दे सकते हैं कि उन की अभिरुचि धर्म की ओर नहीं बनती है?

माता-पिताओं को इस दृष्टि से अपने सर्वतोमुखी आचरण पर आलोचना करनी चाहिये और सुननी चाहिये। ताकि पहले वे अपने ही जीवन व्यवहार का रूपान्तरण कर सकें और अपनी नई पीढ़ी को भी उस ओर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सकें। आप भी जानें और अपनी सन्तान को भी समझावें कि समता रूप धर्म जीवन का मूल महत्त्वपूर्ण अंग होता है जिसकी स्वरस्थता के बिना सच्चे सुख और सच्ची शान्ति का अनुभव नहीं लिया जा सकता है। सम्यक् ज्ञान पूर्वक आप यदि अन्तरावलोकन करना सीख लेंगे तो अपने चारों ओर फैले विस्तृत वातावरण को भी शुभता में बदल देने की सफलता प्राप्त कर सकेंगे। एक बार यदि आप ऐसा परिवर्तन ले आयेंगे तो आपके सारे दायित्वों का भार युवक वर्ग खुशी-खुशी अपने हाथ में ले लेगा और अपनी उमंग व कर्मठता से धर्म और समता की साधना को इस प्रकार अपनायेगा कि वह इस परिवर्तन को स्थायी रूप प्रदान कर देगा। यह क्रान्ति युवक ही कर सकता है।

### समत्व साधना ही सर्वतोमुखी उन्नति की आत्मा

भीतर-बाहर, यहां-वहां, परिवार या समाज में अथवा राष्ट्र और विश्व में सर्वत्र सर्वतोमुखी उन्नति के अभियान को यदि यथार्थ रूप में सम्बल प्रदान करना है तो समत्व साधना को अपनाइये। समत्व साधना से जिस रूप में ममता के जटिल बंधन कटते जायेंगे, उस रूप में अपना अन्तःकरण ही सदाशयी नहीं बनेगा बल्कि सदाशयता की सुकोमलता जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यापक और विस्तृत बन जायेगी।

वीतराग देव के सिद्धान्त इतने अनुपम और प्राभाविक हैं जो समत्व साधना को सर्वोच्च महत्त्व देते हैं। यह साधना दो रूपों में चलती है। एक ओर यह हृदय की और बाह्य जीवन की विषमताओं को मिटाते चलने की प्रेरणा देती है तो दूसरी ओर आत्मीय समानता के अनुभाव को प्रबल बनाकर सबके लिये एक तथा एक के लिये सब के आदर्श को प्राणवान बनाती है।

भीतर की विषमताओं की समाप्ति इस पूरी साधना का मूल बिन्दु है जिसके लिये आभ्यन्तर एवं बाह्य तपश्चर्या का प्रावधान किया गया है। तप की अग्नि विषमताओं के मल को जला देती है और मन व आत्मा को सोना ही नहीं, कुन्दन बना देती है। आत्मस्वरूप में निखार आना ही समता साधना का प्रमुख लक्ष्य है क्योंकि एक उज्ज्वल एवं जागृत आत्मा ही सर्वत्र समता साधना को प्रभावशील बना कर सर्वतोमुखी उन्नति की आधारशिला स्थापित कर सकती है। मानव तन को इस दृष्टि से अपनी समत्व साधना का सशक्त साधन बनाइये और सब क्षेत्रों में एक नई क्रान्ति लाइये।

दिनांक 28.09.86

जलगांव

## 3

## आध्यात्मिक पाठशाला

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

समत्व साधना के लिये सामान्य रूप से भव्य आत्माओं के प्रशिक्षण की अपेक्षा रहती है। ऐसे प्रशिक्षण के लिये ही तीर्थंकर देवों की यह पवित्र आध्यात्मिक पाठशाला है जिसमें मैं मानूँ कि आप जैसे जिज्ञासु विद्यार्थियों का समागम हुआ है। इस प्रशिक्षणदायिनी पाठशाला में वस्तुतः आप लोगों के अन्तःकरणपूर्वक अध्ययन करने की नितान्त आवश्यकता है।

किसी भी प्रशिक्षण के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम, शिक्षणार्थी-छात्र, पाठशाला तथा प्रशिक्षक गुरु की आवश्यकता होती है। इस आध्यात्मिक पाठशाला का पाठ्यक्रम भी सर्वज्ञतापूर्वक निर्धारित है तथा पंचमहाव्रतधारी गुरु वीतराग देवों के मार्गदर्शन का प्रशिक्षण देने के लिये सर्वदा तत्पर रहते हैं। लेकिन इन तीनों का संयोग तभी सफल बन सकता है जब प्रशिक्षणार्थी छात्रों की भी तत्परता हो यानी कि आप अपने जीवन-विकास की यात्रा को निष्ठा एवं पुरुषार्थ के साथ प्रारंभ करने के लिये उत्साहशील बन जायें। सचमुच में इस आध्यात्मिक पाठशाला का प्रमुख रूप से अस्तित्व आप लोगों के ऊपर निर्भर है। आप लोगों का उत्साह इस दिशा में जब सक्रिय बनता है, तब पहली आवश्यकता यह होती है कि वीतराग देवों के सिद्धान्तों का आप सही विधि से समुच्चय रूप में ज्ञान करें ताकि प्रशिक्षण हेतु आपकी तत्परता जागृत बन जाये। इन सिद्धान्तों पर चिन्तन-मनन करते हुए विश्लेषण की भी आवश्यकता रहती है जिसके प्रभाव से सम्यग् ज्ञान के साथ सम्यग् दर्शन की भी संयुक्तता हो जाती है। इस ज्ञान एवं अध्ययन की प्रारंभिक अवस्था के विषय में ज्ञानी जनों ने संकेत दिया है कि जिस आध्यात्मिक पाठशाला में ज्ञानार्जन एवं प्रशिक्षण हेतु प्रवेश लें, उसके प्रति अटूट श्रद्धा भी होनी चाहिये। पाठशाला में प्रवेश लेकर अध्ययन करना चाहें किन्तु उसमें पढ़ाये जाने वाले पाठ के प्रति ही यदि श्रद्धा

न हो या न बने तो वह अध्ययन फलदायी कैसे हो सकेगा? ज्ञान और दर्शन का तालमेल बैठना जरूरी होता है। किसी भी विद्या को ग्रहण करने की इच्छा बनावें, उसके पहले उस विद्या का परिचय करना पड़ेगा ताकि उसके प्रति निष्ठा का निर्माण हो। इसी प्रकार इस आध्यात्मिक पाठशाला में आप अध्ययन कर रहे हैं तो आप यह परीक्षा अवश्य कर लें कि वीतराग देवों के सिद्धान्तों एवं उपदेशों के प्रति आपकी सच्ची श्रद्धा है या नहीं?

ज्ञान और क्रिया के मध्य में दर्शन का निरूपण इसी दृष्टि से किया गया है कि जानने के साथ ही मानना जरूरी है क्योंकि मानने के साथ जाने हुए पर आचरण करना सहज भी होता है और सुदृढ़ भी। किसी भी विद्या पर जब तक हार्दिक विश्वास नहीं जमता है तब तक उस विषय का अध्ययन भी हृदय में नहीं उतरता है। श्रद्धा और आस्था के अभाव में वैसा अध्ययन ऊपरी तौर पर भले ही चलता रहे, उससे न तो आचरण को प्रेरणा मिलती है और न ही वैसा अध्ययन जीवन निर्माण की दृष्टि से लाभदायक बनता है।

### आध्यात्मिक पाठशाला का पहला पाठ

कल्पना करें कि एक व्यक्ति परिश्रमपूर्वक धनार्जन करता है तथा मूल्यवान रत्नों का संचय करता चला जाता है क्योंकि संचय करने की सामान्य रूप से परिग्रही बुद्धि होती है। तो क्या संचय करने की क्रिया मात्र से उन रत्नों का लाभ उठाया जा सकता है? संचित रत्नों के प्रति वह एक सतर्कता अवश्य बरतता है कि वे पूर्णतया सुरक्षित रहें। वह उनको काम में ले या न ले, उनकी सुरक्षा जरूर चाहता है। खाते-पीते, सोते-जागते वह बराबर अपने संचित रत्नों को लक्ष्य में रखता है। इतना सब करने पर भी जड़ पदार्थ अन्ततोगत्वा नश्वर ही होता है अतः भगवान् महावीर का यह जागृतिपूर्ण सन्देश है कि नश्वर पदार्थों के मोह से दूर हटकर अनश्वर सिद्धान्तों का संचय करो और उसे भी रत्नों के संचय के समान निरुद्देश्य पड़ा न रखो। उस संचय को आस्था के साथ आत्माचरण में उतारो। सिद्धान्त का कोरा ज्ञान कर लिया— इतना मात्र न तो पर्याप्त है और न ही उपयोगी। वह सिद्धान्त जीवन के व्यवहार में क्रियान्वित होना चाहिये। इसे इस आध्यात्मिक पाठशाला का पहला पाठ मानें।

आध्यात्मिक सिद्धान्तों के संचय के साथ ही क्रियान्वयन आरंभ कर दें, क्योंकि कोरा संचय कभी लाभदायक नहीं होता। भौतिक एवं जड़ पदार्थों का कोरा संचय तो आत्मा की मोह दशा को प्रगाढ़ बनाता है तथा आत्मा को वीतराग देवों के मार्ग से दूर हटाता है। धन को इस जीवन का आधार मानकर

जब मानव इधर-उधर की अनेक वस्तुओं का संचय करता है तथा भवन, धन, वैभव के अर्जन करने में भीषण कष्ट उठाता है, तब उस मोहावेश में वह कितने पापकर्मों का बंध करता है। भूखा प्यासा रहकर वह अपने शरीर को पूरा संत्रास भी देता है और अपनी आत्मा को भी कर्मबंध से क्लेशित करता है तो क्या उससे किसी भी रूप में उसका जीवन विकास संभव होता है? जीवन भर वह धन के पीछे खप जाता है लेकिन सच्चे विकास की दिशा में एक कदम भी वह आगे नहीं बढ़ पाता है। जब मृत्यु का समय निकट आता है तब भी क्या उसका वह धन संचय उसे मृत्यु से बचा सकता है? यह आप सब जानते हैं कि कितना भी धन वैभव अपने पास में क्यों न हो, वह मृत्यु को एक क्षण के लिए भी दूर नहीं धकेल सकता है। फिर इस धन के संचय मात्र का क्या उपयोग है? क्यों इस निरर्थक संचय के लिये पूरा का पूरा अमूल्य मानव जीवन नष्ट कर दिया जाता है?

अतः भौतिक सत्ता और सम्पत्ति अपनी विपुलता के साथ में भी इस जीवन को न बचा सकती है, न इसकी सुरक्षा कर सकती है—ऐसा समझ कर इस के लिये मोहाग्रस्त बने रहकर आत्म-स्वरूप को मलिन बनाना, मन-मस्तिष्क में घातक तनाव पैदा करना, परिवार, समाज और राष्ट्र में राग-द्वेष की कटुता बढ़ाना अथवा अपना सारा जीवन बिगाड़ कर अत्यन्त अहित करना भव्य आत्मा के लिये श्रेयकारी नहीं है। अध्यात्म शास्त्र का यह पहला पाठ है। इस पाठ को पढ़ने वाला पुरुष ही वीतराग देव की वाणी का कुछ अधिकारी बन सकता है। इस पहले पाठ की जो जानकारी नहीं करता और उसे अपने आचरण में नहीं उतारता, वह इहलोक एवं परलोक रूप दोनों स्थितियों को बिगाड़ लेता है।

### संग्रह बुद्धि मनुष्य को घोर परिग्रही बनाती है

आज का मनुष्य विविध वस्तुओं एवं धन-सम्पत्ति का संग्रह करके उसका पूरे राग भाव से संरक्षण करता है। अपना सब कुछ अमूल्य तत्त्व खपा करके भी वह भौतिक पदार्थों के संचय में लगा हुआ है यह जानते हुए भी कि उसकी तृष्णा का कहीं भी अन्त नहीं आने वाला है। फिर भी उसने अपना सारा श्रम और सारी शक्ति उसी दिशा में लगा रखी है। संग्रह बुद्धि मनुष्य को घोर परिग्रही बनाती है, इस कारण संग्रह और संरक्षण दोनों में वह मूर्च्छावान बना रहता है। यदि वह अपने उसी श्रम और उसी शक्ति को वीतराग देवों की वाणी के अध्ययन एवं चिन्तन में लगावे और उसको अपने जीवन व्यवहार में आचरित करे तो वह अपने लिये कितना सुन्दर उपार्जन कर सकता है और अपनी आत्म-विकास की यात्रा को कितनी सार्थकता के साथ सफल बना सकता है!



किन्तु यह मननीय बिन्दु होता है। इसे पूरा विवेक लगाकर ही समझा जा सकता है। खेद की बात यह होती है कि अधिकांश व्यक्ति ऐसा करते नहीं हैं। यह आध्यात्मिक उपार्जन शरीर पर बोझ डालने वाला नहीं, आत्मा के भार को भी हलका बनाने वाला है तथा मन मस्तिष्क को परिभ्रमित करने वाला नहीं, उसकी भ्रान्तियों और कुंठाओं को नष्ट करने वाला है, फिर भी उपयुक्त विवेक के अभाव में अधिकांश व्यक्ति ऐसे आध्यात्मिक उपार्जन की दिशा में अपनी अभिरुचि नहीं बनाते हैं। उन्हें कभी सामायिक प्रतिक्रमण के पाठ याद करने व आत्मालोचना तथा आत्मसाधना की जानकारी लेने को कहा जाये तो वे कहने लगते हैं कि उन्हें याद नहीं होता-समझ में नहीं आता। आश्चर्य होता है कि उन्हें खाने-पीने की बराबर याद रहती है और परिवार व पड़ोस में झगड़े करना समझ में आता है, लेकिन अच्छी बातें उन्हें याद नहीं रहती-भली सीख समझ में नहीं आती। बुरी बातें या कि बुराई की घातें तो उन्हें बिना सिखाये ही समझ में आ जाती हैं।

संग्रह वृत्ति में अपनी बुद्धि को तेजी से चलाने वाले लोग भी वीतराग वाणी को समझने में कुंद हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? भौतिक पदार्थों के संग्रह में या कि बुरी बातों और बुराई की घातों में तो उनकी बुद्धि बड़ी बारीकी से काम करती है। कोई-कोई भाई या बहिन ऐसी बातों की खोज करने में बड़ी दिलचस्पी रखते हैं। अगर उन से पूछा जाये कि अमुक के घर में पति-पत्नी का आपस में कैसा चल रहा है अथवा सास-बहू के बीच तनाव तो नहीं है तो वे अपना पोथा खोल लेंगे और सारी बातें मिर्च मसाला लगाकर क्रम वार बता देंगे। अगर वे ऐसी ही दिलचस्पी और अभिरुचि इस आध्यात्मिक पाठशाला और इसका पाठ पढ़ने में बनावें तो क्या आत्मोद्धार का मार्ग सरल नहीं बन जायेगा ?

किन्तु क्या करें-ममत्व और मूर्च्छा में डूबे हुए व्यक्तियों की ऐसी ही मनोदशा होती है। कोई-कोई व्यक्ति इस आध्यात्मिक पाठशाला में अपनी कुछ-कुछ अभिरुचि बनाते भी हैं और अपने गुरुदेवों से प्रेरणा पाकर वीतराग वाणी का अध्ययन भी करते हैं लेकिन उसके पीछे उनकी भावना इतनी ही रहती है कि उनके वैसा कर लेने से महाराज खुश रहेंगे। कहीं यह जिक्र कर दिया जाये कि उन्हें कई थोकड़ों व शास्त्र के बोलों का अच्छा अध्ययन है तो वे फूल उठते हैं। बाहर से वे धर्मात्मा कहला जायें- इतने में ही वे सन्तोष कर लेते हैं। तो उनका वह अध्ययन भी सार्थक नहीं बनता है क्योंकि वह उनके आचरण में नहीं उतरता है। इतनी मात्र अभिरुचि के साथ यदि कोई जीवन भर भी इस

आध्यात्मिक पाठशाला में अध्ययन करता रहे, तब भी उसके जीवन में किसी शुभ परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती है।

यह संग्रह बुद्धि पर ही तीव्र कटाक्ष है कि चन्दन जैसी मूल्यवान लकड़ी का गट्टर गधे की पीठ पर रखा हो लेकिन वह उसके मूल्य या उसकी उपयोगिता को समझ नहीं सकता है—उसके लिये तो वह भार स्वरूप ही होता है। उसी प्रकार वीतराग वाणी का अध्ययन कर लिया जाये लेकिन उसके आशय या लक्ष्य को न समझा जाये तथा उस पर आचरण न किया जाये तो वह गधे पर चन्दन का गट्टर ही तो हुआ। आज मानव सभी तरह की विद्याएँ सीख लेता है, थोकड़ों व शास्त्रों का अध्ययन भी कर लेता है और प्रवचन भी सुन लेता है लेकिन फिर भी कोरे कागज की तरह कोरा का कोरा ही रह जाता है। वीतराग वाणी के अनुसार अपने जीवन को ढालने का वह प्रयत्न नहीं करता है क्योंकि उसके मन में संग्रह-बुद्धि जमी हुई रहती है। जिनमें कुछ विवेक होता है, वे बाहर से आध्यात्मिक आडम्बर बता देते हैं ताकि सामान्य जन उन्हें धर्मात्मा मानें और वे अपनी तृष्णा का कारोबार पूरी तेजी से चलाते रहें। संग्रह बुद्धि को बनाये रखकर वे घोर परिग्रही हो जाते हैं लेकिन अपना चेहरा बचाने के लिये इस आध्यात्मिक पाठशाला में आवागमन जारी रखते हैं। किन्तु इससे उनके जीवन में कोई शुभ परिवर्तन आवे—ऐसी आशा नहीं रखी जा सकती है। दोहरापन जताने वाले ऐसे व्यक्ति अनेक प्रकार से कर्मबंध करते हैं तथा अंत में अपयश के भागी होते हैं।

### श्रावक व साधु कक्षाओं के पाठ श्रद्धा के साथ

इस आध्यात्मिक पाठशाला में आगे की कक्षाएँ होती हैं श्रावक व साधु की कक्षाएँ। तीर्थंकर देवों ने चतुर्विध संघ की स्थापना करके दो वर्ग निर्धारित किये—एक साधु-साध्वी का वर्ग तथा दूसरा श्रावक-श्राविका का वर्ग। श्रावकों एवं श्राविकाओं की कक्षा का पाठ्यक्रम होता है बारह अणुव्रत तथा साधु-साध्वियों की कक्षा का पांच महाव्रतों के रूप में पाठ्यक्रम होता है। इस धरातल पर रहते हुए भगवान् ऋषभनाथ ने केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् अणुव्रत और महाव्रत के पाठ पढ़ाये। यह मौलिक ज्ञान था जो तीर्थंकर देवों के मुखारविन्द से ही प्रस्फुटित हो सकता है। यह आध्यात्मिक पाठशाला का निर्धारित पाठ्यक्रम है—इसमें अन्य कोई भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है। इसमें विद्यार्थी को सच्चा विद्यार्थी ही बनकर दिखाना चाहिये।

इस प्रसंग से यह सत्य समझ लिया जाना चाहिये कि वीतराग देवों द्वारा उपदेशित अणुव्रत, महाव्रत या अन्य व्रत के सम्बन्ध में कोई अपना नाम

जोड़कर अवैध परिवर्तनों के साथ प्रचार करे तो वह अक्षम्य कहलायेगा। चाहे वह अपने आप को बड़ा आध्यात्मिक पुरुष कहलवाता हो किन्तु वीतराग देवों द्वारा प्ररूपित किये हुए अणुव्रतों को अपने नाम से प्रचलित करना—यह एक बहुत बड़ा दोष है। यह समझना कि मैं ही अणुव्रतों का निर्माण कर रहा हूँ, अहम्मन्यतापूर्ण है।

कोई-कोई दूसरों द्वारा रचे साहित्य को चुरा कर अपने नाम से प्रकाशित करा देते हैं—यह भी वाङ्मय-चौर्य है। उसे उसका मूल निर्माता तो नहीं ही कहा जा सकता है किन्तु ऐसी चोरी व धोखादेही को निन्दनीय माना जाता है। असल में वीतराग देवों द्वारा उपदेशित तत्त्वों पर जिनकी सच्ची आस्था नहीं होती है और जो अपने जीवन में सम्यक् दृष्टि का निर्माण नहीं कर पाते हैं, वे ही मिथ्यात्व के वशीभूत होकर ऐसे कुकृत्य करते रहते हैं। इससे वे अपने जीवन को भी विकारयुक्त बनाते हैं।

इस कारण इस आध्यात्मिक पाठशाला में पढ़ने वाले प्रत्येक विद्यार्थी को—चाहे वह श्रावक की कक्षा में पढ़ता हो या साधु की कक्षा में—वीतराग देव की वाणी पर अटूट आस्था रखनी चाहिये तथा विनम्रतापूर्वक उन्हीं के नाम से उनकी वाणी का वचन-प्रवचन अथवा प्रचार-प्रसार करना चाहिये। सम्यग् ज्ञान और सम्यग् आस्था को संयुक्त बनाने से ही सम्यक् चारित्र की सफल साधना हो सकती है और इसी से शान्ति का आह्लादकारी अनुभव लिया जा सकता है। अतः वीतराग देव की आध्यात्मिक पाठशाला में श्रद्धा के साथ अध्ययन किया जाना चाहिये। श्रद्धा के संयोग से ही अक्षर ज्ञान के साथ उसका भाव विज्ञान स्पष्ट होता है, तत्त्वों का आन्तरिक रहस्य हृदय में उतरता है तथा उसके अनुकरण से आचरण का पक्ष सुदृढ़ बनता है। ऐसा होने पर ही विद्यार्थी को शान्ति लाभ मिलता है।

### सम्यक्त्व धारणा की प्रार्थना कक्षा

श्रावक और साधु की कक्षाओं से भी पहले इस पाठशाला की प्राथमिक कक्षा होती है सम्यक्त्व की कक्षा। देव, गुरु व धर्म के प्रति सच्ची आस्था का निर्माण करना ही सम्यक्त्व है। सर्वज्ञों द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान् करने का नाम सम्यक्त्व है। इसके कई प्रकार से भेद किये गये हैं जो द्रव्य, भाव, उपशम आदि के भेद से एक, दो, तीन, चार, पांच व दस होते हैं। सम्यक्त्व के दो-दो भेद चार प्रकार से होते हैं—1. द्रव्य-विशुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गल तथा भाव-आत्मा की केवली प्ररूपित तत्त्वों में

श्रद्धा 2. निश्चय—ज्ञान को विशुद्ध बनाने वाला आत्मपरिणाम तथा व्यवहार—सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर विश्वास करना। 3. नैसर्गिक—गुरु के उपदेश के बिना स्वतः स्फूर्त श्रद्धा तथा आधिगमिक—गुरु आदि के उपदेश एवं शास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न श्रद्धा। 4. पौद्गलिक—समकित मोहनीय के पुद्गलों के वेदन के साथ प्राप्त क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तथा अपौद्गलिक—समकित मोहनीय के सर्वथा नाश या उपशम के साथ क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व।

सम्यक्त्व के दो प्रकार से तीन-तीन भेद भी कहे गये हैं— 1. (अ) कारक—सदनुष्ठान में श्रद्धा तथा उसका आचरण। (ब) रोचक—सदनुष्ठान में मात्र रुचि की उत्पत्ति, आचरण नहीं। (स) दीपक—स्वयं मिथ्यादृष्टि व तत्त्व श्रद्धान् से शून्य किन्तु उपदेश आदि से दूसरों में तत्त्वों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है। 2. (अ) औपशमिक—दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम। (ब) क्षायिक—तीनों प्रकृतियों व चारों कषायों के क्षय होने पर प्राप्त परिणाम—विशेष। तथा (स) क्षायोपशमिक—उदयप्राप्त मिथ्यात्व के क्षय से एवं अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व के उपशम से उत्पन्न परिणाम।

सम्यक्त्व के तीन लिंग (लक्षण) बताये गये हैं— (1) श्रुत धर्म में राग (2) चारित्र्य धर्म में राग तथा (3) देव गुरु की वैयावृत्य का नियम। इसकी तीन शुद्धियाँ भी कही गई हैं— (1) जिनेश्वर देव (2) जिनेश्वर देव द्वारा प्रतिपादित धर्म तथा (3) जिनेश्वर देव की आज्ञानुसार विचरने वाले साधु—ये तीनों ही इस संसार में सारभूत हैं—ऐसा विचार करना सम्यक्त्व की शुद्धियाँ हैं।

शास्त्रों में कहा गया है कि सम्यक्त्व रूप रत्न से श्रेष्ठ अन्य कोई रत्न नहीं है। यही सबसे बड़ा बन्धु, घनिष्ठ मित्र तथा उत्तम लाभ है। इस अनन्त संसार में भटकता हुआ जीव जब ग्रंथि भेद करता है अर्थात् कर्मों की स्थिति को घटाकर मिथ्यात्व की गांठ को खोल डालता है, तब उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जिस पुरुष के हृदय में मेरु पर्वत के समान सम्यक्त्व जम जाता है, उसे तिर्यच और नरक गति का भय नहीं रहता। राग-द्वेष को जीतने वाले जिनेश्वर देव द्वारा कहे गये उपदेश सर्वथा सत्य हैं जिनमें बुद्धिमान् पुरुष को कतई शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि सन्देह अनर्थ का मूल बनता है। निःशंक ऐसा मुमुक्षु पुरुष आकांक्षा दोष से भी रहित होना चाहिये। इसी प्रकार सम्यक्त्व की धारणा में विचिकित्सा, जुगुप्सा तथा परपाखंड प्रशंसा के दोष भी नहीं आने चाहिये। एक सम्यक्त्व धारी पुरुष को ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों के धारण करने वालों की प्रशंसा तथा गुणों की वृद्धि के लिये उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिये। गुणों की स्तुति करने से उनके प्रति श्रद्धा बढ़ती है जिससे सम्यक्त्व सुदृढ़ होता है। फिर

सम्यक्त्वी आत्मा को भी उन गुणों की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्वी आत्मा को स्वयं सम्यक्त्व में स्थिर रहना चाहिये, सम्यक्त्व से गिरते हुए जीवों को उसमें स्थिर करना चाहिये तथा भ्रातृभाव से प्रेरित होकर समान धर्म वालों के साथ वात्सल्य रखना चाहिये।

संक्षेप में सम्यक्त्व का यह स्वरूप है कि तत्त्व (वस्तु) का जैसा स्वरूप है, उसको उसी प्रकार जानकर श्रद्धा करना।

जैसे सामान्य पाठशाला में भी प्राथमिक कक्षा में जिस छात्र की नींव मजबूत बन जाती है, वह ऊपर की कक्षाओं में निरन्तर प्रगति करता हुआ एक दिन उस पाठशाला का सफल स्नातक बन जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक पाठशाला का भी जो विद्यार्थी सम्यक्त्व की प्राथमिक कक्षा में सुदृढ़ सम्यक्त्वी बन जाता है, वह श्रावक एवं साधु की कक्षाओं में अविचलित भाव से प्रगति करता हुआ वीतरागता के स्नातकत्व तक भी श्रद्धा और पुरुषार्थ पूर्वक पहुंच जाता है। इस सम्यक्त्व को सम्पूर्ण आत्मविकास की आधारशिला माना गया है। सम्यक्त्व सुदृढ़ तो आत्मविकास सफल अन्यथा सारी यात्रा गामी-प्रतिगामी हो जाती है।

### सम्यक्त्व की नींव हिलती है तो सब हिल जाता है

सम्यक्त्व की नींव पर ही आत्म-गुणों के उच्च-उच्चतर स्थानों की उपलब्धि होती है। आत्मविकास की ऐसी गुण-अवस्थाओं को चौदह भागों में विभाजित किया गया है। इनमें पहली अवस्था अविकसित होती है तथा दूसरे व तीसरे गुणस्थान में आत्मविकास का किंचित् स्फुरण होता है क्योंकि इस काल में सम्यक्त्व की धारणा का सृजन होना आरंभ हो जाता है फिर भी प्रबलता अविकसित की ही रहती है। चौथे गुणस्थान में विकास की ओर निश्चित कदम बढ़ते हैं क्योंकि सम्यक्त्व की धारणा सुदृढ़ बन जाती है। फिर श्रावकत्व तथा साधुत्व के गुणस्थानों में निरन्तर प्रगति करती हुई आत्मा चौदहवें गुणस्थान में अपने मूल स्वरूप की पूर्णता को उपलब्ध कर लेती है। फिर उसका मोक्ष सुनिश्चित हो जाता है।

किन्तु इन गुणस्थानों में आत्मा के विकास की न्यूनाधिकता सम्यक्त्व में उसकी स्थिरता पर अवलम्बित रहती है। यदि सम्यक्त्व की नींव हिल जाती है तो सम्पादित उच्चतर प्रगति भी हिल जाती है—स्थिरता, समाधि, अन्तर्दृष्टि, स्वभावमरण या स्वोन्मुखता—इन सब शब्दों का अर्थ एक ही है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन एवं चारित्र्य की शुद्धि के तारतम्य पर निर्भर है। दर्शनशक्ति

(सम्यक्त्वपूर्ण श्रद्धान्) का जितना अधिक विकास, जितनी अधिक निर्मलता होती है, उतना ही अधिक सद्भिश्वास, सद्गुरुचि, सद्भक्ति, सत्श्रद्धा और धर्म का आग्रह दृढ़ होता है। इसके बाद चारित्र्य शक्ति का विकास होता है और क्षमा, सन्तोष, गांभीर्य, इन्द्रियजय आदि गुणों का आविर्भाव होता है। इन दोनों शक्तियों की विशुद्धि आत्मा की स्थिरता को बढ़ाती है। लेकिन आगे की प्रगति में जब यही विशुद्धि घटती है तो आत्म पतन की शृंखला शुरू हो सकती है। पहले तीन गुणस्थानों में दर्शन और चारित्र का विकास इसलिये नहीं होता कि उनमें उन शक्तियों के प्रतिबंधक दर्शन मोह और चारित्र मोह की अधिकता होती है। आगे के गुणस्थानों में ये प्रतिबंधक मन्दतर होते चले जाते हैं, इसीलिये इन शक्तियों का विकास होता चला जाता है। इसके विपरीत जिस प्रकार वायु के सामान्य झोंकों से दीपक की लौ कम ज्यादा होती रहती है, उसी प्रकार स्थिरता और निर्मलता में न्यूनाधिकता होती रहती है परन्तु दीपक बुझता नहीं है। सातवें गुणस्थान से विकास पाती हुई आत्मा ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान तक पहुंच जाती है। उपशम श्रेणी वाली आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान में जाती है और वहां की स्थिति पूरी करके वापस दसवें गुणस्थान में आ जाती है। फिर नीचे हिले यानी कि उपशान्त कर्म उदय में आ जावें तो उस आत्मा का पतन नीचे के गुणस्थानों में हो जाता है। क्षपक श्रेणी वाली आत्मा दसवें से सीधी बारहवें गुणस्थान में चली जाती है और वहां से उसका पतन नहीं होता। उपशम और क्षय का यह अन्तर होता है।

### पाठशाला का स्नातक होता है केवलज्ञानी

बारहवें गुणस्थान में आत्मा की दर्शन एवं चारित्र की दोनों शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो जाती हैं। इसकी स्थिति को पूरा करके आत्मा जब तेरहवें गुणस्थान में पहुंचती है तो उसके चारों घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है और उसे केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की उपलब्धि हो जाती है। इस दृष्टि से केवलज्ञानी को इस आध्यात्मिक पाठशाला का स्नातक मान सकते हैं, जो अपने आत्म-स्वरूप से पूर्णतया विकसित होकर स्व-कल्याण साध लेता है तथा लोक-कल्याण में अपने आप को पूर्णतः नियोजित कर लेने के लिये सर्वथा समर्थ हो जाता है।

चारों घाती कर्मों के सर्वथा क्षय हो जाने के बाद मन, वचन और काया (शरीर) रूप तीन योगों का सम्बन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता पूर्ण नहीं होती है, वह चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण होती है। चौदहवें गुणस्थान में आत्मा के

पहुंचते ही शरीर छूट जाता है और आत्मा अपने स्वभाव में तल्लीन हो जाती है। वह सिद्ध हो जाती है तथा सदा एक समान स्वभाव रमण में लवलीन रहती है। आत्मा की शक्तियों का पूर्ण विकास होना ही मोक्ष है।

आप भी वीतराग देवों की इस आध्यात्मिक पाठशाला में प्रविष्ट तो हैं ही, तो क्या वहां की विद्या में पारंगत होकर इसका स्नातक बनने की पवित्र अभिलाषा नहीं रखते हैं? उत्तर तो आप हाँ में ही देंगे, लेकिन यह कहानी सुनिये कि आप भी इस धनाढ्य सेठ व उसके पुत्र की तरह विद्या सिद्ध कर पायेंगे या नहीं। एक धनाढ्य सेठ था, उसके पास अपार धन सम्पत्ति थी, लेकिन मन में सन्तोष नहीं था। उसकी इच्छा थी ऐसी विद्या सीखने की जिसके बल पर आकाश में उड़ सके और फिर स्थान-स्थान से बहुमूल्य रत्नों का संग्रह कर सके। उसे ज्ञात हुआ कि एक सिद्धयोगी है जो उसे आकाश में उड़ने की विद्या सिखा सकता है। वह उसके पास पहुंचा और अपनी इच्छा उसे बतायी। सिद्धयोगी ने कहा कि वह ऐसी विद्या जानता अवश्य है किन्तु उसने उसका कभी प्रयोग नहीं किया है। फिर भी वह उसे विद्या सिखा सकता है किन्तु इस शर्त पर कि वह अपनी सारी मोह माया का त्याग कर दे। सेठ ने बहुत अधिक धन परोपकार में खर्च करने का वचन देकर विधिपूर्वक वह विद्या उससे सीख ली। घर आकर विधि के उपकरण उसने तिजोरी में रख दिये और विचार करता रहा कि वह उस विद्या का प्रयोग करे या नहीं? इस असमंजस का कारण उसका शरीर मोह था। वह सोचता था कि सिद्धयोगी ने प्रयोग तो किया नहीं था और वह प्रयोग करे और आकाश से नीचे गिर जाये तो मृत्यु अवश्यंभावी है। सोचते-सोचते ही सेठ का समय बीतता गया और उसकी मृत्यु का समय निकट आ गया। सारा परिवार उसके समीप एकत्रित हो गया।

सेठ ने अपने पुत्र को पास में बुलाकर उसके कान में कहा कि उसकी एक इच्छा अपूर्ण रह गई है—वह विधि जानते हुए भी आकाश में उड़ने का साहस नहीं कर सका है। विधि के उपकरण तिजोरी में रखे हुए हैं सो तुम अवश्य प्रयोग करके आकाश में उड़ना। इतना कहकर सेठ मृत्यु को प्राप्त हो गया।

एक दिन सेठ के पुत्र ने विधि के उपकरण तिजोरी में से निकाले और सारी विद्या का अध्ययन करके जंगल में पहुंचा। एक वृक्ष के नीचे बैठकर साधना के द्वारा उसने उड़ने की पूरी व्यवस्था की। विधि के अनुसार वृक्ष के नीचे जलती हुई भट्टी पर तेल से भरी कड़ाही रखी गई थी, तेल उबल रहा था। ठीक उसके ऊपर वृक्ष से झूलता हुआ कच्चे धागों का मंच बनाया गया था। उस मंच पर उसे बैठकर ऊपर आकाश में उड़ना था। वह सोचने लगा कि अगर उसके मंच

पर बैठने के बाद कच्चे धागे नहीं टूटे तो वह आकाश में उड़ जायेगा, वरना उबलते हुए तेल की कड़ाही में गिर पड़ेगा। अब वह क्या करे? वह बार-बार पेड़ पर चढ़ने लगा और निराशा के साथ बार-बार नीचे उतरने लगा। इतने में उधर से गुजरता हुआ एक व्यक्ति इस हरकत को देखने लगा। उसने सारी बात जानकर कहा—मैं राजा के यहां से दो बहुमूल्य रत्न चोरी करके लाया हूँ और राजा के सिपाही मेरा पीछा कर रहे हैं इसलिये तुम साहस नहीं कर पा रहे हो तो यह प्रयोग मैं कर लेता हूँ क्योंकि मुझे तो मरना ही है। वह जल्दी-जल्दी उस विद्या को सीखने लगा। वह मृत्यु के भय से निश्चिन्त हो चुका था अतः ज्यों ही उसने प्रयोग किया कि वह आकाश में उड़ गया। पीछे से राजा के सिपाही आये और उन्होंने राजा के रत्न उस सेठ के पुत्र के पास देखे तो उसे पकड़ ले गये। उसे मृत्यु-दंड घोषित हुआ और उसकी सारी सम्पत्ति भी छीन ली गई।

कहने का आशय यह है कि सारी मोह, माया और शरीर के ममत्व तक का भी त्याग करने पर ही कोई भी विद्या सिद्ध की जा सकती है। भौतिक विद्या सिद्ध करने की भी जब यह शर्त है तो आध्यात्मिक विद्या तो सर्वस्व तक का बलिदान मांगती है। सम्पूर्ण ममत्व का त्याग किया जाये तथा समग्र रूप से समत्व की साधना की जाये तभी आत्म-विकास की विद्या सिद्ध हो सकती है। इस आध्यात्मिक पाठशाला का स्नातक बनने की यही विधि है।

आप इस पाठशाला में बैठे हुए हैं तो अति गंभीरतापूर्वक विचार कीजिये कि क्या आप इस पाठशाला के प्रतिभाशाली छात्र सिद्ध होना चाहते हैं अथवा घोर ममत्व में जकड़े रहकर इस पाठशाला का भी अपयश फैलाना चाहते हैं? पाठशाला में प्रविष्ट रहते हुए आपको सम्यक् निर्णय लेना चाहिये।



## 4

## आन्तरिक शोध-संशोध

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

तीर्थकर देवों की पवित्र पावन देशना जन जीवन के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करती है। यह आह्लाद आन्तरिक होता है और अपने अन्तरतम को जगाता है। इसी आह्लाद के सुफलस्वरूप दृष्टि की गति भी भीतर में उतरती है और वैसी अन्तर्दृष्टि अपने आत्म-स्वरूप को देखती है, सांसारिक गतिविधियों को देखती है तथा मूल्यों का तुलनात्मक अंकन करती है। इससे वर्तमान गति की विपरीतता का आभास होता है तथा जीवन में सदाशयपूर्ण परिवर्तन लाने का संकल्प बनता है।

वास्तव में मनुष्य के जीवन का वर्तमान रूप आश्चर्यजनक है। मनुष्य के शरीर और उसके अंग-उपांगों की दृष्टि से तो सभी मनुष्यों में बाहरी समानता-सी प्रतीत होती है किन्तु इस शरीर के भीतर की शक्तियों का रूपक भिन्न-भिन्न ही नहीं, आश्चर्यजनक रीति से विपरीतताओं और विसंगतियों को लिये हुए प्रतीत होता है। भावनाओं, विचारों और वृत्तियों का इतना भेद कि अपूर्ण ज्ञानी तो उसकी थाह भी नहीं ले पाता है। परम ज्ञानी आत्माएँ ही भीतर के संसार का अन्तरावलोकन कर सकती हैं जहां भावों की गति, विगति या प्रगति के चित्र-विचित्र दृश्य दिखाई देते हैं।

शरीर के भीतर रहे हुए, बनते और बिगड़ते हुए आन्तरिक दृश्यों से ही अनुमान लगता है कि आत्मिक निर्मलता की कैसी वस्तुस्थिति है? वहां बहुलांश में निर्मलता का वातावरण है अथवा मलिनता का? सम्पूर्ण कार्यों, क्रियाकलापों एवं प्रवृत्तियों का जनक मुख्यतः आन्तरिक भाव ही होता है—वह भाव चाहे प्रत्येक समय में प्रत्यक्ष रहता हो अथवा अप्रत्यक्ष या अनुभूत होता हो अथवा अननुभूत, इसी भाव के अनुसार कोई भी गतिविधि जन्म लेती है, चलती है और अपना परिणाम प्रकाशित करती है। इस दृष्टि से मूल रूप में भाव

का बड़ा महत्त्व होता है। इस भाव का स्वरूप शुभ होता है या अशुभ—इसी पर आन्तरिक निर्मलता या मलिनता का अंकन होता है। इस रूप में मलिनता को दूर करके वहां निर्मलता का संचार करने के लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है, उसे ही आन्तरिक शोध-संशोध का नाम दिया जा सकता है। भीतर की खोज करना और उसके अनुसार संशोधन करना—यह प्रत्येक विवेकशील आत्मा का आध्यात्मिक कर्तव्य है।

### कैसी आश्चर्यजनक होती है आन्तरिक शोध ?

पहले आन्तरिक शब्द को भी समझ लीजिये। एक तो इसी शरीर का भीतर का भाग होता है अर्थात् शरीर के वे अवयव जो बाहर दिखाई नहीं देते हैं, जैसे दिल, फेफड़े, पाचन संस्थान, रक्त नलिकाएँ आदि। इन भागों में कोई रोग हो या गठान बन गई हो तो उसकी चिकित्सा डॉक्टर-सर्जन कर लेते हैं। इन भीतरी भागों के रोगों की तलाश करनी हो तब भी चिकित्सा विज्ञान की तरह-तरह की मशीनों से भीतर की तसवीरें ली जा सकती हैं और ज्ञात किया जा सकता है कि किस अवयव की दशा कैसी है और उसमें किस प्रकार का रोग विद्यमान है ? उस तलाश या खोज के आधार पर रोग का निदान तथा भीतर का संशोधन किया जाता है। किन्तु इन सबका शोध-संशोध न दुरूह होता है और न ही किसी प्रकार से आश्चर्यजनक।

शरीर के भीतर का जो दूसरा संसार है, वही आश्चर्यजनक है। यह अन्तःकरण का संसार है—आत्मा का संसार, जहां प्रतिपल भावों की लहरें उठती और चलती रहती हैं। जैसे भीतर के शारीरिक अवयवों, मांसपेशियों या कि नाड़ी संस्थानों का शोध-संशोध होता है—उनकी जांच-परख व चिकित्सा होती है, उसी प्रकार आन्तरिक संसार के मन और आत्म-स्वरूप का भी शोध-संशोध होता है—उनकी भी जांच-परख व चिकित्सा की जा सकती है। अन्तर यह है कि शरीर सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन इन बाहर के चर्म चक्षुओं द्वारा सम्पूर्ण होता है तथा बाहर की स्थूल बुद्धि का उपयोग ही पर्याप्त रहता है किन्तु आन्तरिक शोध-संशोध के लिये आन्तरिक चक्षुओं के प्रयोग की अपेक्षा रहती है। इन आन्तरिक चक्षुओं को ज्ञान चक्षु कहा जाता है। ज्ञान चक्षुओं की सहायता से ही भीतर के दृश्य देखे जा सकते हैं और भीतर की चिकित्सा के लिये तैयारी की जा सकती है। इन ज्ञान चक्षुओं की दृष्टि-पूर्णता उपलब्ध होती है केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की सम्प्राप्ति में। भौतिक शास्त्र का बड़ा से बड़ा वैज्ञानिक भी केवलज्ञानी के पाद-अंगुष्ठ जितना भी ज्ञानी नहीं होता है।

केवलज्ञान एवं केवलदर्शन से परिपूर्ण महापुरुष ही अन्तःकरण के भीतर के आत्म-स्वरूप का चित्र स्पष्टतः देख सकते हैं। किसी व्यक्ति की आत्मा कितनी निर्मल है या कितनी मलिन है और वह किस समय में किस प्रकार के भावों में भ्रमण कर रही है—यह सब कुछ वे हाथ में रखे आंवले के समान स्पष्ट रूप से जान लेते हैं। वे यह भी जान लेते हैं कि अमुक आत्मा ने अब तक कैसे कार्य किये हैं और भविष्य में वह क्या-क्या कार्य करने वाली है? उनके परिपूर्ण ज्ञान में आत्मा के साथ होने वाले कर्म बंध तथा उसके फल भोग का चित्र भी स्पष्ट रहता है।

ऐसे परिपूर्ण केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की उपलब्धि अवश्य आश्चर्यजनक लगती है किन्तु कोई भी भव्य आत्मा अपने परम पुरुषार्थ के बल पर इस श्रेष्ठतम उपलब्धि तक पहुंच सकती है। यों कहें कि आन्तरिक शोध-संशोध की अति उत्कृष्ट अवस्था तक पहुंच जाने पर यह उपलब्धि समीप आ जाती है। आन्तरिक शोध की अवस्था बड़ी आश्चर्यजनक होती है। जो स्थूल दर्शन से पहली बार सूक्ष्म दर्शन की ओर मुड़ते हैं, उन्हें आन्तरिक हलचलों को देखकर बड़ा ही विस्मय होता है। इस दर्शन के बाद जब शोध का कार्य शुरू होता है और चलता है, तब तो यह विस्मय बराबर बढ़ता ही जाता है। भाव श्रेणियों का उत्थान-पतन और वृत्तियों की विचित्रताएं अपने सहज-असहज परिवर्तनों से आश्चर्यान्वित करती रहती हैं।

### आन्तरिक शोध की पहली उपलब्धि

आन्तरिक शोध की पहली उपलब्धि के रूप कर्मवाद का विज्ञान सामने आता है। संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा का सम्पूर्ण गति चक्र स्वोपार्जित कर्मानुसार ही चलता है। शरीर की यह रचना भी उसी के परिणाम स्वरूप है। वीतराग देवों ने कर्म बंध की प्रक्रियाओं का जो सम्पूर्ण स्वरूप विस्तार के साथ बताया, उसे गणधरों ने आत्मसात् किया। फिर सुधर्मा स्वामी ने उसे ग्रहण करके शब्दों के माध्यम से प्रकट किया। कर्मवाद का यह विषय अति गहन है और आज के मानव की उतनी गहराई में उतरने की शायद शक्यता नहीं है। कारण, उसकी बुद्धि अधिकांश बाहर के स्थूल दृश्यों तक ही सीमित बनी रहती है।

कर्मों के स्कंध किस प्रकार आकर आत्मा के साथ जुड़ जाते हैं—इसका सूक्ष्म वर्णन आगमों में उल्लिखित है जिसका ज्ञान आगमों का अध्ययन करके किया जा सकता है। इसका संक्षिप्त विवरण यहां इस अभिप्राय से दिया जा रहा है कि कर्मवाद के रहस्य को विशेष रूप से समझने की आपकी जिज्ञासा जागृत

हो तथा उसके आधार पर अपने जीवन की वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का रूपान्तरण करने का आपका मानस बन सके।

इस संसार में चेतन और जड़ का संयोग बना हुआ है। आत्मा का वास किसी न किसी शरीर में होता है—चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म। कर्म भी जड़ होते हैं और जहां आत्म-प्रदेशों का विस्तार होता है, वहीं कर्म रूप कार्माण वर्गणा के पुद्गल भी फैले हुए रहते हैं। इन आत्म-प्रदेशों में किसी भी प्रकार की हलचल मचती है मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से। आत्म-प्रदेशों की उस हलचल से उसी क्षेत्र में फैले हुए अनन्तानन्त कर्म योग्य पुद्गल हलचल की तारतम्यता के अनुसार आत्मा के साथ बंध को प्राप्त हो जाते हैं। फिर उनका मेल दूध-पानी जैसा हो जाता है। ये बंधे हुए कार्माण वर्गणा के पुद्गल ही कर्म कहलाते हैं। मिथ्यात्व, कषाय आदि के कारणों से आत्मा के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। कर्म का यह लक्षण भाव और द्रव्य दोनों रूप से घटित होता है। आत्मा के राग-द्वेष आदि रूप वैभाविक परिणाम भाव कर्म हैं तो कार्माण वर्गणा के पुद्गलों का सूक्ष्म विकार द्रव्य कर्म है। राग-द्वेष आदि के वैभाविक परिणामों में उपादान कारण रूप यह आत्मा होती है, अतः आत्मा भाव कर्म की कर्ता उपादान रूप तथा द्रव्य कर्म में निमित्त कारण बनती है। यों भाव कर्म और द्रव्य कर्म का परस्पर बीज और अंकुर की तरह कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है।

संसार की सभी आत्माएँ मूल आत्मस्वरूप की अपेक्षा से एक-सी हैं। फिर भी वे पृथक्-पृथक् योनियों में भिन्न-भिन्न शरीर धारण किये हुए हैं व विभिन्न स्थितियों में रहती हैं। एक राजा है तो दूसरी रंक, एक हृष्टपुष्ट है तो दूसरी दुर्बल या एक बुद्धिमान् है तो दूसरी मूर्ख। एक ही माता की कोख से जन्म लिये हुए दो भाइयों के स्वभाव में भी भिन्नता दिखाई देती है। यह विभेद अकारण नहीं है। सुख-दुःख आदि की विषमताओं का भी कोई कारण होना चाहिये जैसे अंकुर का कारण बीज होता है, तो विषमताओं का बीज यह कर्म है।

अब यह प्रश्न उठता है कि आत्मा और कर्म का आपस में सम्बन्ध कैसे जुड़ता है? इसमें एक बात यह भी है कि आत्मा अमूर्त होती है और जड़ होने से कर्म मूर्त— फिर मूर्त और अमूर्त का गठजोड़ कैसे होता है? यह कोई नई बात नहीं। स्वयं जड़ और मूर्त रूप शरीर के साथ अमूर्त आत्मा जुड़ी हुई है या नहीं? जड़ और चेतन का संयोग ही तो संसार है। संसारी आत्मा अनन्त काल से कर्म सन्तति से सम्बद्ध चली आ रही है और वह कर्म के साथ दूध-पानी की तरह एकरूप हो रही है इसलिये आत्मा का वर्तमान स्वरूप सर्वथा अमूर्त नहीं है। कर्म

बंध होने से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है, जिससे मूर्त कर्म का उस पर अनुग्रह, उपघात आदि होना युक्तियुक्त है।

सभी प्राणी अच्छे या बुरे कार्य करते रहते हैं। किन्तु बुरे कार्य का दुःख रूपी फल कोई आत्मा नहीं चाहती। कर्म स्वयं जड़ है, लेकिन चेतन के संयोग से कर्मों में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वे अपने शुभाशुभ विपाक को नियत समय पर स्वयं ही आत्मा पर प्रकट करते हैं। चेतन का सम्बन्ध पाकर जड़ कर्म स्वयं फल दे देता है और आत्मा को भी उसका फल भोगना होता है। इसमें ईश्वर या किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। कार्य करने के समय ही परिणामानुसार आत्मा में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं जिनसे प्रेरित होकर कर्ता आत्मा कर्म के फल आप ही भोग लेती है और कर्म भी चेतन से सम्बद्ध होकर फल को स्वतः प्रकट कर देते हैं।

### आत्मा के साथ कर्मबंध की शुभाशुभता

कार्माण वर्गणा के पुद्गल रूप कर्म स्वयं शुभाशुभ नहीं होते। आत्मा अपने शुभाशुभ परिणामों के अनुसार कर्मों को शुभाशुभ रूप में परिणत करते हुए ही ग्रहण करती है। प्रकृति, स्थिति और अनुभाग की विचित्रता तथा प्रदेशों के अल्प-बहुत्व का भेद भी कर्म बंध के समय में ही होता है। इस प्रकार कर्म भी आत्मा द्वारा ग्रहण किये जाकर शुभाशुभ रूप में परिणत होते हैं। संक्षेप में कहा जाये तो योग और कषाय कर्मबंध का कारण है। इनमें भी कषाय मुख्य कारण है। कषाय सहित होने से आत्मा कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करती है और क्रोध, मान, माया, लोभ रूप अथवा राग-द्वेष रूप कषाय साधारण प्राणियों की प्रवृत्ति के मूल में रहती है। यही राग-द्वेषात्मक वृत्ति-प्रवृत्ति मनुष्य को कर्म-जाल में फंसाती है। राग-द्वेष की स्निग्धता से ही कर्म का बंध होता है। इसके तीव्र होने से उत्कट कर्मों का बंध होता है। राग-द्वेष की कमी के साथ जब अज्ञान घटता जाता है और ज्ञान विकास पाता जाता है तो कर्मबंध भी तीव्र नहीं होता है। यह राग-द्वेष से प्रभावित जो कर्म बंध होता है, वह पाप कर्म होने से अशुभ कहलाता है किन्तु राग-द्वेष के घटने के साथ कर्मबंध की तीव्रता में जो कमी आती है, वह पुण्य बंध होने से शुभ कहलाती है। इस आत्मा के साथ होने वाले कर्मबंध की शुभाशुभता का स्वरूप इस रूप में रहता है।

एक बार बंधे हुए कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं किन्तु द्वेष की परिणति से नित्य नये कर्म बंधते रहते हैं। इस प्रकार

सांसारिकता का क्रम चलता रहता है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त हो ही नहीं सकती है। जैसे सोना मिट्टी में एक-मेक बना हुआ भूमि के भीतर होता है किन्तु ताप आदि के प्रयोगों द्वारा सोने को मिट्टी से एकदम पृथक् कर दिया जाता है और उसे शुद्ध बना दिया जाता है। उसी प्रकार दान, शील, तप, भावना आदि के प्रयोगों से आत्मा कर्म मल को दूर कर देती है और अपने ज्ञानमय शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। आत्मा से एक बार कर्म सर्वथा पृथक् हुए कि फिर वे कर्मबंध को प्राप्त नहीं होते क्योंकि तब उस आत्मा के कर्मबंध के कारण रूप राग-द्वेष आदि का अस्तित्व ही नहीं रहता है। जैसे बीज के सर्वथा जल जाने पर अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है।

कर्म कैसे क्षय हों और मोक्ष की प्राप्ति कैसे संभव बने—इसके लिये रत्न-त्रय का मार्ग बताया गया है। ये रत्न-त्रय हैं—सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् चारित्र। ज्ञान के देदीप्यमान आलोक से दर्शन की स्निग्धता जमती है और ज्ञान व दर्शन के संयोग से चारित्र गुण पूर्ण कर्मठता के साथ प्रकट होता है। रत्न-त्रय की आराधना पहले पाप कर्मों के अशुभ बंध को रोकती है और शुभ कर्मों का बंध कराती है किन्तु अन्ततः शुभाशुभ कर्मों का सर्वथा क्षय करके आत्मा को उसके मूल स्वरूप में सदा-सदा के लिये अवस्थित कर देती है।

कर्मवाद की थ्योरी वह मूल विषय है, जिसके धरातल पर आन्तरिक शोध का अभियान आरंभ किया जा सकता है। अपने ही अन्तःकरण में प्रवेश करके खोजना होगा कि अपनी निजात्मा के कर्मबंध की कैसी अवस्था है? कितने कर्मों का स्कंध है? उनमें कितने पुण्य कर्म हैं तो कितने पाप कर्म? शुभता और अशुभता को एक तुला में रखें तो कौन-सा पलड़ा भारी रहेगा? अशुभ कर्मों के मूल को धोने का क्या उपाय कर रहे हैं? शुभ कर्मों को भोगते समय उन्मादवश नये पाप कर्मों का बंध तो नहीं कर रहे हैं? और सबसे बड़ी बात यह कि प्रतिदिन प्रतिपल आपकी वृत्तियों और प्रवृत्तियों का क्या लेखा-जोखा है? क्या उनका रूप ऐसा है कि आप जो नया कर्मबंध कर रहे हैं, वह अधिकांश रूप में शुभ है या कि अशुभता के काले कर्म ही अधिकाधिक रूप में आत्मस्वरूप की मलिनता को बढ़ाते जा रहे हैं? इन सब प्रश्नों की सही-सही विगत पाना और उसका हिसाब रखना ही आन्तरिक शोध है। यह कर्मबंध की शुभाशुभता का लेखा-जोखा ही हमें वास्तविक वस्तुस्थिति से परिचित कराता है कि हमें अपना आन्तरिक संशोध किस रूप में करना चाहिये?

## आन्तरिक संशोध का अगला चरण

आन्तरिक शोध की सफलता पर ही आन्तरिक संशोध की सफलता निर्भर करती है। भूलों की पूरी जानकारी हुए बिना उनको सुधारने का काम कामयाबी के साथ कैसे किया जा सकता है? शोध से जब यह विदित हो जायेगा कि हमारी पूर्वाजित कर्मबंध की अवस्था क्या है और वर्तमान में अपना योग व्यापार किस प्रकार का चल रहा है तो तदनुसार संशोधन का पुरुषार्थ किया जा सकेगा। पुरुषार्थ तदनु रूप भी करना होगा क्योंकि जितनी अधिक मलिनता होगी या कि कर्मों के गाढ़े आवरण होंगे, संयम, तप आदि का पुरुषार्थ भी उतना ही कठिन होगा जिससे आत्म-स्वरूप की निर्मलता अधिकाधिक रूप में निखर सके।

आन्तरिक शोध और संशोध की दिशा में वही सफलतापूर्वक आगे बढ़ सकता है जो तीर्थंकर देवों और उनमें भगवान् महावीर की देशनाओं का गहराई से चिन्तन मनन करके उनके अनुरूप अपने जीवन के विचार और व्यवहार को ढाल लेता है। जब तक यह अध्ययन नहीं होगा तब तक कर्म-सिद्धान्त भी भली-भांति समझ में नहीं आ सकेगा जिसके बिना समग्र आचरण को हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से मुक्त करके अशुभ कर्मबंध को रोकना संभव नहीं हो सकेगा। कर्म-सिद्धान्त को जानने वाला एक प्रकार से आध्यात्मिक चिकित्सक बन जाता है जो स्वयं के आत्मस्वरूप की निर्मलता की सुरक्षा करने के साथ-साथ दूसरों को भी इस तथ्य का भान दिला सकता है कि वे क्या-क्या करके और क्या-क्या नहीं करके अपने आपको आध्यात्मिक रूप से निरोग कैसे बना सकते हैं? वह आन्तरिक परिस्थितियों की नब्ज को देख सकता है और बता सकता है कि इस समय उसके मन में किस प्रकार की विचार श्रेणी चल रही है और उसका क्या परिणाम होगा। यही नहीं, यदि विचारों की उत्कृष्ट श्रेणी चल रही हो तो वह उस आन्तरिकता का ज्ञान लेकर प्रसन्न हो उठता है।

याद रखिये इस संसार का और जीवन का सारा खेल विचारों की शुभता या कि अशुभता पर चलता है। एक-एक व्यक्ति की शुभता और अशुभता से तदनु रूप वातावरण बनता है तथा उस वातावरण का तदनु रूप सामूहिक असर पड़ता है। एक व्यक्ति की अशुभता उसके पाप कर्मबंध का कारण तो होती ही है सामाजिक विकृति का भी कारण बनती है। वातावरण का सामूहिक प्रभाव कैसा होता है—क्या इसका अनुभव आप यहां धर्मस्थानक में नहीं करते हैं? आप जब यहां पर पहुंचते हैं और सन्त-सतियों के दर्शन करते हैं—स्वधर्मी भाइयों

से खुशी-खुशी मिलते हैं तथा सब ओर आन्तरिक आह्लादकारी वातावरण को महसूस करते हैं तो क्या आपके विचारों में शुभ परिवर्तन नहीं आता है? इसे आप अनुभव करते हैं किन्तु उस अनुभव को स्पष्ट नहीं बनाते हैं जिससे वह अनुभव उपेक्षित-सा रह जाता है। आप उसी समय उस अनुभव पर जरा गहराई से मनन करें तो आपको प्रतीत होगा कि सन्त-सतियों के त्यागमय एवं आनन्दमय जीवन से आपकी आन्तरिकता भी खिलती है और आपका ध्यान सहज रूप में उनकी ओर मुड़ता है। उस समय आपके मन का केन्द्रीकरण धर्मस्थानक के वातावरण में होता है। अब यह वातावरण सबके मिलने से बनता है किन्तु यही वातावरण सबको प्रभावित करता है और एक दूसरे के जीवन से प्रेरणा लेने का अवसर प्रदान करता है।

शुभता का भी वैयक्तिक और सामूहिक प्रभाव होता है तो अशुभता का भी। शुभता से शुभता बढ़ती है और अशुभता अधिक अशुभता फैलाती है। एक व्यक्ति की शुभ अथवा अशुभ वृत्ति एवं प्रवृत्ति केवल उस व्यक्ति को ही प्रभावित नहीं करती बल्कि उसका सामूहिक प्रभाव भी होता है जो तदनु रूप वातावरण के निर्माण से परिलक्षित होता है। शुभाशुभ वृत्ति-प्रवृत्ति से व्यक्ति की आत्मा के साथ शुभाशुभ कर्म का बंध होता है—यह एक बात। उससे उसके बाहरी जीवन का स्वरूप भी ढलता है वह दूसरी बात और तीसरी बात यह कि समूह या समाज के जितने क्षेत्र में उसका व्यवहार होता है उसके माध्यम से उन-उन लोगों पर भी उसका शुभाशुभ असर पड़ता है।

इस दृष्टि से जब आन्तरिक संशोध के विषय पर विचार किया जाये तो उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक और विस्तृत होना चाहिये क्योंकि संशोधन की धारा व्यक्ति से लेकर समाज तक चलेगी और सब तरह की मलिनताएं मिटेंगी तभी निर्मलता की धारा बह सकेगी जो सबको स्पर्श करेगी। आज के जीवन में ऐसा नहीं होता कि पूर्णतया मलिन समाज में व्यक्ति पूर्णतया निर्मल बन जाये या कि निर्मल समाज में व्यक्ति की मलिनता चल सके। अतः यह आन्तरिक संशोध अन्तःकरण से प्रस्फुटित होकर सर्वत्र व्यापी बनेगा तभी सर्वप्रभावी बन सकेगा।

### संशोधन की प्रेरणा संयमी जीवन से लें

संशोधन की प्रेरणा संशोधित जीवन से ही ली जा सकती है और संशोधित जीवन होता है संयमी जीवन, जो संयम की साधना से आत्म-मल को प्रक्षालित करने का सफल प्रयास कर रहा होता है। यह आप जानने की कोशिश



करें तो आपको लगेगा कि साधु-साध्वियों का त्यागमय संयमी जीवन निम्नतम साधक या जिज्ञासु को भी प्रेरणा प्रदान कर रहा है। संयमी जीवन रत्नत्रय की साधना करते हुए अपने आत्म-स्वरूप को निर्मलतर बनाने के सुप्रयास में मगन रहता है। वीतराग देवों की पवित्र वाणी को वस्तुतः साधु-साध्वी अपने जीवन में आचरित करने का यत्न करते रहते हैं। इस सन्त जीवन को यदि श्रावक एवं श्राविकाएँ भी तुलनात्मक दृष्टि से देखें तथा अपने वर्तमान जीवनाचरण की समीक्षा करें तो अवश्य ही उन्हें अपने आन्तरिक शोध-संशोधक की क्रियाशील प्रेरणा मिल सकती है।

तुलनात्मक दृष्टि से श्रावक-श्राविका वर्ग को यह विदित हो सकेगा कि गृहस्थ जीवन में रहते हुए वे सैकड़ों प्रकार की समस्याओं से घिरे रहते हैं। परिवार, समाज, व्यापार-व्यवसाय और राष्ट्र की विविध समस्याओं में वे अपने जीवन को सुलझाना चाहते हैं किन्तु उलझने बढ़ती ही जाती हैं। आप तो इस कठिन परिस्थिति से गुजर रहे हैं कि महंगाई दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है जिससे निम्न-मध्यम वर्गों का जीवन निर्वाह मुश्किल होता जा रहा है। ऐसी कठिन दशा में जागरूक श्रावक या श्राविका तक को विचार होने लगता है कि मैं अपने परिवार के निर्वाह की पूर्ति करूँ तो निर्वाह भी भली-भांति नहीं होता तथा अतिरिक्त समय भी नहीं मिलता, फिर सामाजिक या धार्मिक कार्य का सम्पादन कैसे करूँ? रात-दिन के परिश्रम के बाद भी आज सामान्य जन का भरण-पोषण तक नहीं हो पाता है। वह अपने दुःखों की पीड़ा को बाहर कह भी नहीं सकता है और भीतर ही भीतर घुलता रहता है। इस तरह उसका मन अशान्त और खिन्न बना रहता है। ऐसी मानसिकता के साथ जब कोई श्रावक या श्राविका सन्त-सतिवर्ग के संयमी जीवन पर चिन्तन करता है तो उसके हृदय में धर्म के आह्लाद की प्रकाश रेखा अवश्य चमक उठती है क्योंकि उस जीवन में उसे अपना उद्धार दिखाई देता है। रात-दिन की तनावों भरी जिंदगी और झंझटों भरी परिस्थितियों से छूट कर संयमी जीवन को अपना लें तो शान्ति का अनुभव संभव हो सकेगा। ऐसे विचारवान श्रावक या श्राविका का हृदय वैराग्य भाव से छलक उठता है और वह उस अशान्त जीवन से छुटकारा पाने के लिये तत्पर बन जाता है।

ऐसी भावमय अवस्था में वैसे श्रावक या श्राविका को आत्म-शोध की अनुभूति होती है तो आत्म-संशोध की प्रेरणा मिलती है। संयमी जीवन को देख-समझकर ही संयम की अभिलाषा बलवती बनती है क्योंकि इच्छाओं के दुःख-द्वन्द्वों से छूटने के संकल्प मात्र में भी शान्ति का अनुभव मिलने लगता

है। उसे संयमी जीवन में अपने शान्त सुखद भविष्य का सुन्दर चित्र दिखाई देता है। तभी तो ऐसे विरागी पवित्र दर्शन करके अनुभव करते हैं कि उनके नेत्र पवित्र हो गये और पवित्र वाणी सुनकर गद्गद हो जाते हैं कि उनके कर्ण पवित्र हो गये। फिर समुच्चय में वे अपनी उज्ज्वल भावना प्रकट करते हैं कि अब दीक्षा लेकर आत्म-विकास की सम्पूर्ति करने का उनका संकल्प बन गया है। ऐसी शुभ भावना से वे अपने अशुभ कर्मों को तोड़ते हैं और अपने जीवन को निर्मल बनाते हैं।

### आन्तरिक संशोध में भावना का महत्त्व

आन्तरिक संशोध के पुरुषार्थ में भावना का बड़ा महत्त्व होता है। संशोधन की अन्तिम सीमा तक पहुंच जाने के बाद भी कभी-कभी भावना की निम्न श्रेणी का ऐसा थपेड़ा लगता है कि साधी हुई प्रगति पलभर में मिट्टी हो जाती है। सम्पूर्ण आत्म-पतन न भी हो, तब भी आत्म-विकास की ऊँचाइयों से नीचे गिरना तो हो ही जाता है। यह भावना का प्रवाह ऐसा होता है कि जिसकी श्रेणी उत्कृष्ट होती चली जाये तो युगों या वर्षों का विकास पल में सम्पन्न हो जाता है। भावना की उच्च एवं निम्न कोटियों के कई उदाहरण आप सुनते रहते हैं और अपने व्यावहारिक जीवन में भी देखते हैं कि दृश्यमान कार्य से भी भावना को सर्वत्र विशेष महत्त्व दिया जाता है। आन्तरिक संशोधन का प्रधान रूप से ऐसा विषय है जिसके सम्पन्न होने या न होने पर भावना का ही सर्वाधिक प्रभाव होता है।

वस्तुतः देखा जाये तो भावना ही वाणी और व्यवहार की मूल होती है। कोई भी व्यक्ति जिस रूप में हृदयस्थ भावना-प्रवाह में बहता है, वह उसे कितना ही छिपाने की कोशिश करे फिर भी उसकी वह भावना व्यक्त या अव्यक्त रूप से उसके वचनों में प्रकट हो ही जाती है। किसी व्यक्ति के कार्यों में भी उसकी आन्तरिक भावना की झलक दिखाई देती है। अन्तःकरण में संशोधन की भावना प्रबल बनती है तभी संयमी जीवन को आचरण में अपना लेने में उसकी सफल क्रियान्विति हो सकती है। भावाभिभूत होकर जब कोई साधनारत होता है तो उसकी वह साधना चमत्कार पूर्ण बन जाती है।

इसी भावना की झलक कोई भी किसी दूसरे के साथ बातचीत करने में या कि उसके लक्षण, परिधान या अन्य व्यवहार में देख सकता है। यदि आप मुखवस्त्रिका बँधी हुई देखते हैं तो वह इस भावना की सूचक होती है कि वह साधु है अथवा सामायिक में बैठा हुआ है। इससे इस बात का भी परिचय होगा

कि जो मुखवस्त्रिका बांधे हुए है, वह अहिंसक साधना में है तथा उसके हाथों किसी भी जीव की हिंसा नहीं होगी। इस प्रकार मुखवस्त्रिका अभयदान देने वाली भावना की प्रतीक हो जाती है।

भावना का ही आधार या सम्बल मुख्य होता है कि आन्तरिक शोध-संशोध का कार्य किस रूप में सफल हो? भावना का प्रवाह उत्कृष्टतर होता चला जाये तो पलों में इस आत्म-स्वरूप की शोध भी पूरी हो जाये, संशोधन भी सफल बन जाये तथा केवलज्ञान की उपलब्धि तक आत्मा का विकास त्वरित गति से पहुँच जाये। इस प्रवाह के बीच में ऊँची-नीची दशा हो तो संशोधन झूल भी सकता है और प्रवाह ही पलट जाये तो संशोधन विकारों के धुँ में ओझल भी हो सकता है। भावनाओं का प्रवाह प्रभावक होता है।

### एकै साधे सब सधै, एक जाये सब जाय

आत्म-शोध एवं संशोध का ऐसा महत्वपूर्ण कार्य है कि यदि यह सध जाये तो समझिये कि आपका आत्म-विकास भी सध जाता है और उसके साथ परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व की नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति भी सध सकती है। किन्तु यदि यह कार्य ही विफल हो जाता है तो उस व्यक्ति का आत्म-पतन ही नहीं होता है बल्कि उसके आत्म-पतन से पतन का विकारपूर्ण वातावरण भी चारों ओर छा जाता है।

अतः वीतराग वाणी को ध्यानपूर्वक सुनें तथा उसके अनुसार अपने जीवन में ऐसी जागृति लावें कि आप अपने आत्मबल को खोज सकें और अपनी आत्मा को पूर्ण विकसित स्वरूप प्रदान करने के लिये उसका समुचित रूप से संशोधन कर सकें।

## 5

## तत्त्व-चिन्तन

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

महावीर प्रभु की पतितपावनी वाणी का आश्रय लेकर ही हम जीवन के अज्ञात तत्त्वों, रहस्यों और तथ्यों को उद्घाटित करना चाहते हैं। इन तत्त्वों, रहस्यों तथा तथ्यों का उद्घाटन स्वयं तीर्थकर देवों ने जिस विधि से किया, वही विधि वस्तुतः सभी भव्य आत्माओं के लिये हितावह है। इस विधि के अनुपालन में प्रारंभिक स्तरों पर किन्हीं कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है किन्तु सामान्य अभ्यास में ढल जाने के बाद अनुपालन आसान और आह्लादकारी हो जाता है।

लौकिक दृष्टि से भी आप जानते हैं कि सामान्य मार्ग के निर्माण में भी काफी कठिनाइयाँ आती हैं। रेल या सड़क मार्ग निकाले जाते हैं तो न जाने कितने पहाड़ों को तोड़ना होता है या कि नदी-नालों पर पुल बनाने पड़ते हैं किन्तु जब मार्ग बन जाता है तो रेल या बस, कार द्वारा सामान्य जन भी उस पर से सरलतापूर्वक अपने-अपने गंतव्य स्थानों को पहुंच जाते हैं। एक बार मार्ग बन जाने पर फिर किसी प्रकार की यात्रा की कठिनाइयाँ नहीं रहती हैं। रेल की पटरी बन जाती है और रेल चलने लग जाती है तब सामान्य जन को तो रेल के डब्बे में बैठने का उपक्रम मात्र ही करना होता है। रेल में सवार होने के बाद यथास्थान पहुंचना हो जाता है। उसमें एक-एक यात्री का निर्माण-श्रम बच जाता है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग के विषय में चिन्तन कीजिये। तीर्थकर देवों ने उस मार्ग का निर्माण कर रखा है। रेल की पटरी बनी हुई है और रेल का आना-जाना भी चालू है। आपको तो सिर्फ इस रेल में बैठना है लेकिन बैठने में भी कितना प्रमाद किया जा रहा है—यही दशा विचारणीय है। हमें चिन्तन करने की आवश्यकता है कि जिन तीर्थकर देवों ने परमात्म-स्वरूप का वरण किया है, उन्होंने इस स्वरूप तक पहुंचने के मार्ग को बनाने में बड़े-बड़े परीषहों

के पहाड़ काटे हैं, विषय-कषाय की ऊबड़-खाबड़ जमीन को समतल बनाया है, ममता और तृष्णा की नदियों पर समता के पुल बांधे हैं तथा सद्गुण-सम्पादन के शान्तिमय दृश्य उपस्थित किये हैं। यह एक ऐसा राजमार्ग हो गया है कि जो भी भव्य जन जिनशासन की रेल में बैठ जायेगा, वह एक न एक दिन अवश्य परमात्म-स्वरूप के गंतव्य स्थल तक पहुंच जायेगा।

### तत्त्व ज्ञान और तत्त्व चिन्तन आवश्यक

रेलमार्ग बना हो, रेल चलती हो—फिर भी यह सोचना और निर्णय लेना आवश्यक होता है कि हमें किस नगर या गांव जाना है अतः उस नगर या गांव जाने वाली रेल में बैठना है। उस रेल में बैठने के लिये टिकट कहां से लेनी होगी तथा उसके लिये कितने दाम की जरूरत होगी? उस गंतव्य के बीच में कौन-कौन से स्टेशन आर्येंगे और उनकी क्या-क्या विशेषताएँ हैं? यह सब जांच-परख तो रेल में बैठने वाले व्यक्ति को स्वयं ही करनी होती है जिसके लिये उसको समय-सारिणी आदि के साधन उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग की रेल में बैठने के पहले एक साधक को भी ऐसी सारी जानकारी गंभीरतापूर्वक कर लेनी चाहिये। इसमें सद्गुरु उसके सबसे बड़े सहायक होते हैं जो उसे आवश्यक तत्त्व ज्ञान प्रदान करते हैं। किन्तु तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भी उन तत्त्वों पर चिन्तन तो स्वयं साधक को ही करना होता है। तत्त्व चिन्तन से ही उसे मार्ग-निर्देशन प्राप्त होता है तथा मार्ग की महिमा भी प्रतीत होती है।

तत्त्व चिन्तन साधना या कि आत्मविकास की यात्रा का महत्वपूर्ण कृत्य माना गया है। कोई व्यक्ति सोचे कि उसे अति शीघ्र गति से कोलकाता पहुंचना है तो वह वहां पहुंचने के द्रुतगामी मार्ग का ज्ञान करता है। रेल मार्ग के अलावा उसे वायु मार्ग का भी ज्ञान होता है। फिर जैसा उसका सामर्थ्य होता है, वह उस मार्ग से कोलकाता पहुंचने का प्रयास करता है। तदनुसार तत्त्व चिन्तन भी वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा परमात्म-स्वरूप तक पहुंचने के विभिन्न मार्गों का ज्ञान होता है और साधक अपने पुरुषार्थ की क्षमता के अनुसार अपना मार्ग चुन सकता है। मार्ग चुनने में और मार्ग का परिचय पाने में महान् साधकों का योगदान उसे प्राप्त हो सकता है। तत्त्व ज्ञान और तत्त्व चिन्तन से उसे श्रेष्ठ आत्मबल की उपलब्धि होती है जिसके सम्बल से वह इतना समर्थ और विवेकशील हो जाता है कि वह मार्ग में यात्रा करते हुए स्थिरचित्त रहे तथा संकटों का सफलतापूर्वक सामना करते हुए निर्द्वन्द्व भाव से अपनी यात्रा को शान्तिपूर्वक गतिशील बनाये रखे।

## तत्त्व क्या और उनके रहस्य कैसे ?

एक दृष्टिकोण के अनुसार परमार्थ को तत्त्व कहा है। परम अर्थ क्या ? जो अर्थ है वही हित होता है तथा परम हित यही है कि परम पद को प्राप्त किया जाये। परम पद होता है परमात्मा का, अतः प्रत्येक भव्य आत्मा के लिये यह परमार्थ है कि वह अपना समस्त विवेक और पुरुषार्थ परमात्म-स्वरूप का वरण करने में नियोजित करे। इस तत्त्व के प्रधान रूप से तीन वाहक माने गये हैं—

1. देव— कर्म शत्रुओं का नाश करने वाले, अठारह दोष रहित, सर्वज्ञ, वीतराग एवं हितोपदेशक अरिहन्त भगवान् ही सच्चे देव होते हैं। ये ही मार्ग के निर्माता हैं तथा मार्गदर्शक हैं। इस प्रधान तत्त्व को जो प्राणपण से ग्रहण कर लेता है, वह उन्हीं के समकक्ष पद तक पहुंच जाता है। ये देव पथ, पार्थेय और लक्ष्य सब कुछ होते हैं जिनका अवलम्बन लेकर पथिक निराबाध ही नहीं होता बल्कि उस पथ पर अडिग चलकर गंतव्य तक भी पहुंच जाता है।

2. गुरु— ये देव को दिखाने वाले हैं अतः देव के सच्चे अनुयायी भी होते हैं तो देव से बढ़कर भी माने जाते हैं। ये गुरु परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ, कनक-कामिनी के त्यागी, पंच महाव्रतधारी, पांच समिति व तीन गुप्ति युक्त, षट्काया के जीवों के रक्षक, सत्ताईस गुणों से विभूषित और वीतराग देवों की आज्ञानुसार ही विचरण करने वाले होते हैं। ऐसे धर्मोपदेशक साधु-महात्मा ही गुरु हैं।

3. धर्म— धर्म आत्मा की विकास यात्रा का मर्म होता है। सच्चा धर्म वही जो सर्वज्ञ भाषित हो, दयामय और विनयमूलक हो, आत्मा और कर्म का भेद विज्ञान कराने वाला हो तथा मोक्ष तत्त्व का प्ररूपक हो। ऐसा धर्म परम हितावह तत्त्व है।

यों निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा ही देव है क्योंकि आत्मा ही अपनी स्वरूप विशुद्धि करके देव-पद तक पहुंचती है। देव आत्मा से भिन्न नहीं है क्योंकि जिन्हें आज हम देव मानते हैं, उन्होंने भी अपनी आत्म विशुद्धि की तथा देव पद प्राप्त किया। इस रूप में देव पद प्रत्येक भव्य आत्मा का परम पुरुषार्थ है— परमार्थ है। इसी प्रकार ज्ञान ही गुरु है। गुरु भी ज्ञान देते हैं और पथ प्रदर्शक होते हैं किन्तु ज्ञान जब आत्मा ग्रहण कर लेती है तथा अपने स्वरूप को आलोकित बना लेती है तब वह ज्ञान गुरु ही तो हो जाता है क्योंकि वह ज्ञान ही आत्मा का सच्चा और अन्ततः पथ प्रदर्शक होता है। इस रूप में उपयोग ही धर्म है। धर्म का अर्थ होता है— स्वभाव को प्राप्त करना और स्वभाव में रमण करना। ऐसा वही आत्मा कर सकती है जो विवेकशील हो तथा अपने विवेक

का सदा और सर्वत्र उपयोग करती हो। यह विवेक ही अहिंसा धर्म का श्रेष्ठ रीति से पालन करवाता है कि अन्य प्राणियों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचाया जाये तथा उनके संरक्षण व हित का पहले ध्यान रखा जाये। वस्तुतः ऐसा उपयोग ही मूल रूप से धर्म है।

परमार्थ रूप इस तत्त्व का ज्ञान किया जाये तथा देव गुरु धर्म के स्वरूप पर व्यवहार और निश्चय से चिन्तन किया जाये तो निजात्मा की आन्तरिकता में जागृति का नव प्रकाश प्रसारित होता है और परमार्थ को साध लेने की अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। तत्त्व चिन्तन के आधार पर ही विभिन्न सिद्धान्तों एवं साधनों का ज्ञान होता है तथा साधना की प्रक्रियाओं पर चलने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

### आत्मा ही तत्त्व चिन्तन का मूलाधार

आत्मा ही देव है और यदि आत्मा को यथार्थ अर्थ में देव बनाना है तो तत्त्व चिन्तन को ही मूलाधार बनाना होगा, क्योंकि तत्त्व-चिन्तन से उसे अपने कर्मबंधन से मुक्त होने का ज्ञान और पुरुषार्थ प्रयोग का अवसर प्राप्त होगा। इसी से आत्मा को अपने मूल स्वरूप की स्मृति होगी, जड़ के साथ अपने जटिल सम्बन्धों की दुरूहता ज्ञात होगी और उन समग्र सम्बन्धों को यत्नपूर्वक तोड़ने की प्रेरणा मिलेगी। तत्त्व चिन्तन वह प्रकाश होता है जो आत्म-विकास के पथ को कभी ओझल नहीं होने देता और इसी कारण पथ विभ्रम हो जाने की आशंका भी मिट जाती है।

तत्त्व की एक और व्याख्या की गई है और वह यह है कि जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है, वही तत्त्व है। सद्भाव पदार्थ को ही तत्त्व कह लीजिये। तत्त्वों में तत्त्व वही है जो सत्य है। इसी सत्य के संदर्भ में जब संसार में रहने वाली आत्मा तथा उसके जड़ सम्बन्धों एवं उनसे मुक्ति के विषय में विचार किया जाये तो तत्त्व के नौ भेद सामने आते हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) जीवतत्त्व— जीव उसे कहते हैं जिसे सुख-दुःख का ज्ञान और संवेदन होता है। जीव का लक्षण उपयोग माना गया है। संसारी जीवों के चार प्रकार हैं—(अ) प्राण—विकलेन्द्रिय अर्थात् दो, तीन एवं चार इन्द्रियों वाले जीवों को प्राण कहा जाता है। (ब) भूत—वनस्पति काय को भूत कहते हैं। (स) जीव—पंचेन्द्रिय प्राणियों को जीव नाम से पुकारा जाता है। (द) सत्त्व—पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय और वायुकाय—इन चार प्रकार के स्थावर जीवों को सत्त्व कहते हैं। श्री भगवती सूत्र में जीव के भिन्न-भिन्न धर्मों

की विवक्षा से जीव के छः नाम दिये गये हैं— (अ) प्राण—प्राणवायु को खींचने और बाहर निकालने अर्थात् श्वासोच्छ्वास लेने के कारण। (आ) भूत—तीनों कालों में विद्यमान रहने के कारण। (इ) जीव—जीवन धारण करने तथा आयु कर्म व जीवत्व का अनुभव करने के कारण। (ई) सत्त—शुभाशुभ कर्मों से सम्बद्ध होने तथा अच्छे-बुरे कार्य कर सकने की शक्यता या सत्ता होने के कारण। (उ) विज्ञ—कड़वे, कसैले, मीठे, खट्टे आदि रसों को जानने के कारण। तथा (ऊ) वेद—सुख-दुःखों को भोगने व वेदने के कारण।

गुणवत्ता की दृष्टि से जीव के तीन भेद किये गये हैं— 1. संयत—जो सर्व सावद्य-हिंसापूर्ण व्यापार से निवृत्त हो गया है ऐसे छठे से चौदहवें गुणस्थानवर्ती तथा सामायिक आदि संयम वाले साधु को संयत कहते हैं। 2. असंयत—पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान वाले अविरति और अत्रती जीव को असंयती कहा गया है, तथा 3. संयतासंयत—जो कुछ अंशों में तो विरति का सेवन करता है और कुछ अंशों में नहीं करता है ऐसे देश विरति को अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को संयतासंयत जीव कहा जाता है। चारित्र रूप गुणवत्ता के ही आधार पर जीव के पांच भाव बताये गये हैं। विशिष्ट हेतुओं से या स्वभाव से जीवों का भिन्न-भिन्न रूप में होना भाव है जो उपशम आदि पर्यायों से परिलक्षित होते हैं। ये हैं— 1. औपशमिक—जो उपशमजन्य होता है। प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार से कर्मों का उदय रुक जाना उपशम कहलाता है। सर्वोपशम मोहनीय कर्म का ही होता है। औपशमिक भाव से सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति होती है। 2. क्षायिक—जो कर्म के सर्वथा क्षय होने पर प्रकट होता है। इसके प्रकटीकरण के नौ रूप हैं—केवलज्ञान, केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यलब्धि, सम्यक्त्व तथा चारित्र। 3. क्षायोपशमिक—उदय में आये हुए कर्म का क्षय तथा अनुदीर्ण अंश का विपाक की अपेक्षा से उपशम होना। इसमें प्रदेश की अपेक्षा से कर्म का उदय रहता है और अठारह प्रकार की उपलब्धियाँ होती हैं। 4. औदयिक—यथायोग्य समय पर उदय को प्राप्त आठ कर्मों का अपने-अपने स्वरूप में फल भोगना उदय है और उदय में होने वाला भाव औदयिक भाव है। इसके इक्कीस भेद होते हैं। 5. पारिणामिक—कर्मों के उदय, उपशम आदि से निरपेक्ष जो भाव जीव को केवल स्वभाव से ही होता है, वह पारिणामिक भाव है—जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व रूप इसके तीन भेद होते हैं।

यों जीव तत्त्व के 563 भेद बताये गये हैं। ये इस प्रकार हैं— नारकी— 14, तिर्यच— 48, मनुष्य— 303 और देवता— 198।



(2) अजीवतत्त्व—जड़ पदार्थों को या सुख-दुःख के ज्ञान तथा उपयोग से रहित पदार्थों को अजीव कहते हैं। जीव रहित वस्तुओं के परिवर्तन से होने वाली उनकी विभिन्न अवस्थाओं को अजीव परिणाम कहते हैं जो इस प्रकार हैं—

1. बंधन परिणाम—अजीव पदार्थों का परस्पर मिलना बंधन परिणाम है जैसे स्निग्ध पदार्थ से रूक्ष पदार्थ बंध जाता है।
2. गति परिणाम—अजीव पुद्गलों की गति होना, जैसे प्रयत्न विशेष से पानी के ऊपर तिरछी फेंकी हुई ठीकरी बीच में रहे हुए पानी का स्पर्श करती हुई अथवा नहीं करती हुई बहुत दूर तक चली जाती है।
3. संस्थान परिणाम—पुद्गलों का आकार विशेष में परिणत होना। संस्थान छः होते हैं।
4. भेद परिणाम—पदार्थ में भेद का होना जैसे खंड (टुकड़े), प्रतर (श्रेणियाँ), अनुतर (पोलापन), चूर्ण (चूरा) और उत्कारिका (छिलके)।
5. वर्ण परिणाम—पांच प्रकार के रंगों के रूप में परिणमन होना।
6. गंध परिणाम—सुगंध और दुर्गंध रूप में पुद्गलों का परिणमन।
7. रस परिणाम—रस के पांच रूपों में पुद्गलों का परिणत होना।
8. स्पर्श-परिणाम—आठ प्रकार के स्पर्श रूपों में पुद्गलों का परिणमन।
9. अगुरुलघु-परिणाम—अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं का परिणाम जैसे भाषा, मन, कर्म आदि।
10. शब्द परिणाम—शब्दों के रूप में पुद्गलों का परिणत होना।

अजीव के 560 भेद बताये गये हैं। इनमें अरूपी अजीव के 30 भेद-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश से तीन-तीन तथा दसवां काल द्रव्य। रूपी अजीव के संस्थान वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के उपभेदों से 530 भेद।

(3) पुण्यतत्त्व—कर्मों की शुभ प्रकृतियाँ पुण्य कहलाती हैं। पुण्य नौ प्रकार से बांधा जाता है—अन्न पुण्य, पान पुण्य, लयन पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य और नमस्कार पुण्य। बंधे हुए पुण्य का फल बयालीस प्रकार से भोगा जाता है—साता वेदनीय, उच्चगोत्र, मनुष्य गति-आनुपूर्वी तथा आयु, देवगति-आनुपूर्वी तथा आयु, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस व कार्माण शरीर तथा अंगोपांग, वज्रऋषभ नाराच व समचतुरस संस्थान, शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, श्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, शुभ विहायोगति, निर्माण व तीर्थकर नाम, तिर्यचायु, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, शुभग सुस्वर, आदेय व यशः कीर्ति नाम।

पुण्योपार्जन करने वाली आत्माएँ जब मनुष्य जीवन को प्राप्त करती हैं तो उन्हें दस प्रकार से शुभ फल प्राप्त होते हैं— 1. खेत, घर, उत्तम धातुएं, पशु,

नौकर आदि से भरपूर कुल में जन्म। 2. बहुसंख्यक अच्छे मित्रों का संयोग। 3. बहुत सगे-सम्बन्धियों की प्राप्ति। 4. ऊँचा गोत्र। 5. कान्ति और शोभायुक्त। 6. निरोग शरीर। 7. तीव्र बुद्धि की उपलब्धि। 8. उदार स्वभावी। 9. यशस्वी। एवं 10. विविध बलों से सम्पन्न।

पुण्य की तीन अवस्थाएँ हैं—(अ) उपादेय—मनुष्य भव, आर्यक्षेत्र आदि की शुभ प्राप्तियाँ न हो तब तक पुण्य उपादेय होता है क्योंकि इनके बिना चारित्र की प्राप्ति नहीं होती है। (ब) ज्ञेय—जब चारित्र की प्राप्ति हो जाये और साधकावस्था आ जाये तब पुण्य मात्र जानने लायक रह जाता है। तथा (स) हेय—चारित्र की पूर्णता प्राप्त हो जाने पर पुण्य छोड़ने लायक हो जाता है क्योंकि उसको छोड़े बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। पुण्य नौका की तरह संसार समुद्र को पार कराने में सहायक होता है किन्तु दूसरे किनारे पर पहुंचकर नौका छोड़नी ही पड़ती है।

(4) पापतत्त्व—कर्मों की अशुभ प्रकृतियाँ पाप कहलाती हैं। पाप अठारह प्रकार से बांधा जाता है—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान (चुगलखोरी), पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, माया-मृषा और मिथ्यात्व दर्शनशल्य। इस प्रकार बांधे गये पाप का फल बयासी प्रकार से भोगना होता है—ज्ञान पर आवरण 5, दर्शन पर आवरण 9, निद्रा 5, असाता वेदनीय, कषाय और नोकषाय रूप मोहनीय 26, संहनन 5, स्थावर दशक, नरकत्रिक, तिर्यच गति-आनुपूर्वी, विकलेन्द्रिय, अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, उपघात नाम, नीच गोत्र, अन्तराय 5, अशुभ विहायोगति।

(5) आस्रवतत्त्व—शुभ तथा अशुभ कर्मों के आने का कारण आस्रव कहलाता है। जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के कारण होता है तथा कषाय की तरतमता के अनुसार उन बंधे हुए कर्मों की काल मर्यादा तथा फलदान की तीव्रता या मन्दता निश्चित होती है। योगों में हलचल होते ही कर्म पुद्गलों में हलचल होती है और वे आत्मा की ओर आने लगते हैं। कर्मों का यह आगमन ही आस्रव है।

कर्मों के आगमन अर्थात् आस्रव के सामान्यतः बीस भेद (कारण) कहे गये हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन व परिग्रह (पांच अव्रत), इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति 5, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग, मन, वचन व काया की अशुभ प्रवृत्ति, भंडोपकरण अयतना से लेना व रखना। आस्रव के अन्य अपेक्षा से बयालीस भेद भी बताये गये हैं।

(6) संवरतत्त्व— समिति, गुप्ति आदि से कर्मों के आगमन को रोकना संवर है। आस्रव का जितना निरोध होता है, उतना ही संवर का विकास होता है। आस्रव की रोक जितनी बढ़ती जाती है, उस परिमाण में आत्मा का विकास उच्चतर गुणस्थानों में होता रहता है। आस्रव-निरोध तथा संवर की रक्षा के लिये तीन गुप्ति, पांच समिति, दस धर्म, बारह भावनाओं, बावीस परीषह विजय तथा पांच चारित्राराधना का उल्लेख किया गया है।

संवर के सामान्यतः बीस भेद हैं अर्थात् बीस प्रकार की आराधना से संवर तत्त्व का विकास साधा जा सकता है जो इस प्रकार हैं— अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह— इन पांच व्रतों का पालन किया जाये, पाँचों इन्द्रियों को वश में किया जाये, सम्यक्त्व, व्रताचरण, कषाय त्याग, अयोग एवं अप्रमाद की प्रवृत्ति की जाये जिससे पांच आस्रवों का सेवन न हो। मन, वचन, काया के योगों को नियंत्रित किया जाये तथा भंडोपकरण यतनापूर्वक लिये व रखे जायें। अन्य अपेक्षा से संवर के सत्तावन भेद भी कहे गये हैं।

समुच्चय में कर्मबंध के कारणों को रोकना संवर है। जल में रही हुई नाव में निरन्तर जल-प्रवेश कराने वाले छिद्रों को किसी पदार्थ से जैसे रोक देने पर पानी आना रुक जाता है वैसे ही जीव रूपी नाव में कर्म रूपी जल प्रवेश कराने वाले इन्द्रिय रूपादि छिद्रों को सम्यक् प्रकार से संयम, तप आदि के द्वारा रोकने से आत्मा में कर्मों का प्रवेश नहीं होता। संवर के विविध अपेक्षाओं से पांच-पांच भेद कहे गये हैं— 1. सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय तथा अयोग। 2. श्रोत्रेन्द्रिय संवर, चक्षुरिन्द्रिय संवर, घ्राणेन्द्रिय संवर, रसनेन्द्रिय संवर व स्पर्शनेन्द्रिय संवर। 3. अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन व अपरिग्रह।

(7) निर्जरातत्त्व— फल भोग या तपस्या के द्वारा कर्मों को धीरे-धीरे खपाना निर्जरा है। कर्मों का नाश करने के लिये दो बातें एक साथ जरूरी होती हैं— एक तो नये कर्मों के आगमन को रोकना तथा दूसरे, पूर्वार्जित व संचित कर्मों का नाश करना। नये कर्मों का आगमन संवर से रुक जाता है। अतः संचित कर्मों की निर्जरा के लिये तपस्या की आराधना करनी चाहिये। तपस्या के दो भेद होते हैं— बाह्य एवं आभ्यन्तर जो प्रत्येक छः-छः प्रकार की होती है। इस दृष्टि से निर्जरा के कुल ये ही बारह भेद बताये गये हैं— अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, (बाह्य) प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा व्युत्सर्ग (आभ्यन्तर)।

यहां निर्जरा और वेदना में अन्तर समझ लेना चाहिये। कर्म का फल पूरी तरह भोगने को वेदना कहते हैं जबकि कर्म फल को बिना प्राप्त किये ही तपस्या

आदि के द्वारा कर्मों को खपा डालना निर्जरा होती है। वेदना से भी कर्मों का क्षय तो होता है किन्तु पूरा फल भोग लेने के बाद। नारकी जीव कर्मों की वेदना तो करते हैं लेकिन निर्जरा नहीं। वेदना और निर्जरा का समय भी भिन्न-भिन्न होता है।

(8) बंधतत्त्व— आस्रव के द्वारा आये हुए कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बंध है।

आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख रूप है किन्तु इसकी अनन्त शक्तियों को कर्मों ने आच्छादित कर रखा है। पुराने कर्म छूटते जाते हैं और नये कर्म बंधते जाते हैं। नये कर्म बंधने के पांच कारण हैं— मिथ्यात्व (यथार्थ तत्त्वों पर श्रद्धा न होना और अयथार्थ पर श्रद्धा होना), अविरति (त्याग प्रत्याख्यान न लेना), प्रमाद (आत्म-विस्मरण एवं धर्म कार्यों में रुचि का अभाव), कषाय (समभाव की मर्यादा से हीन रहना) तथा योग (मन, वचन, काया का व्यापार)। जैसे दीपक बत्ती के द्वारा तेल ग्रहण करके उष्णता या प्रकाश रूप शक्ति से उसे ज्वाला रूप में परिणत कर देता है, उसी प्रकार आत्मा कषाय युक्त मन, वचन और काया से कर्म वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें वैसा-वैसा फल देने वाली शक्ति के रूप में परिणत कर देती है। आत्मा व कर्म का सम्बन्ध ही बंध है।

बंध के चार भेद कहे गये हैं, क्योंकि आत्मा के द्वारा ग्रहण किये जाने पर कर्म पुद्गल जिस समय में कर्म रूप में परिणत होते हैं, उस समय उनमें चार बातें होती हैं— 1. प्रकृति—स्वभाव। 2. काल मर्यादा—अमुक काल तक स्थिर रहने की योग्यता—यह स्थिति बंध है। 3. अनुभाव—फल की तरतमता। 4. प्रदेश—कर्म स्कंध का परिमाण। इसे दूध के दृष्टान्त से समझ लीजिये। गाय, भैंस या बकरी द्वारा खाया गया घास दूध रूप में परिणत होने पर वह भी चार बातों वाला होता है। पहला, दूध का स्वभाव जो मीठा, हलका, भारी आदि हो सकता है। दूसरा, दूध अपने स्वाभाविक गुण के साथ कितने समय तक टिक सकेगा। तीसरा, उसके मधुरता आदि गुणों की तीव्रता या मन्दता कैसी है? चौथा, दूध कितनी मात्रा में मिला है।

आत्मा के साथ सम्बद्ध होने से पहले घास की तरह कार्माण वर्गणा के सभी पुद्गल एक से होते हैं। बकरी भी वही घास खा रही है और गाय-भैंस भी, लेकिन तीनों के दूध में जो अन्तर आता है वह उनके द्वारा खायी गई घास को अपने शरीर के स्वभाव में परिणत करने के कारण आता है। कर्म आठ प्रकार के नहीं

होते बल्कि आत्मा में आठ प्रकार के स्वभाव होते हैं जिनमें कर्म परिणति प्राप्त करके आठ प्रकार के बनते हैं। इन आठों के कुल मिलाकर 148 अवान्तर भेद होते हैं। इसी को प्रकृतिबंध कहते हैं। कर्मों के तत्-तत् स्वभाव में परिणत होने के साथ उनकी काल मर्यादा का निश्चित होना स्थिति बंध है। स्वभाव के साथ ही तीव्र या मन्द फल देने वाली विशेषताओं का होना अनुभाव बंध है। कर्म पुद्गलों का स्वभावानुसार निश्चित परिमाण में विभक्त हो जाना प्रदेश बंध है।

(9) मोक्षतत्त्व— सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा का अपने स्वरूप में लीन हो जाना मोक्ष है। क्रमिक विकास करती हुई आत्मा जब तेरहवें गुणस्थान में पहुंचती है, उस समय चार घाती कर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय) नष्ट हो जाते हैं। इनमें भी पहले मोहनीय का क्षय होता है, बाद में अन्य तीनों का। आवरण हटते ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र तथा अनन्त वीर्य की आत्मिक शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। चौदहवें गुणस्थान में पहुंचने पर योग की प्रवृत्ति भी रोक दी जाती है। योग निरोध से कर्मों का आगमन सर्वथा रुक जाता है तो बाकी बचे चार अघाती कर्मों का भी नाश हो जाता है। उनका नाश होते ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है। चार अघाती कर्मों में वेदनीय कर्म के नाश होने से आत्मा को अव्याबाध सुख, नाम कर्म के नाश से अरूपीपन, गोत्र कर्म के नाश से अगुरुलघुत्व तथा आयु कर्म के नाश से अमरत्व प्राप्त हो जाता है। मुक्त आत्माएँ पुनः संसार में न आती हैं, न जन्म लेती हैं।

मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के चार द्वारों से होती है किन्तु अन्य अपेक्षा से इसके नव द्वार भी बताये गये हैं जो हैं— सत्प्ररूपणा द्वार, द्रव्य द्वार, क्षेत्र द्वार, स्पर्श द्वार, काल द्वार, अन्तर द्वार, भाव द्वार तथा अल्प-बहुत्व-द्वार।

इस प्रकार उपरोक्त नव तत्त्वों के चिन्तन से मूलतः आत्मस्वरूप पर ही चिन्तन होता है और उसे अपने मूल स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देने की प्रक्रिया पर ही चिन्तन होता है। यही चिन्तन सर्व प्रकार से आधारगत चिन्तन है।

आज हमारे भाई चाहते तो अवश्य हैं कि परमात्मा की परम शान्ति के स्वरूप तक पहुंचें, लेकिन आगे का पुरुषार्थ करने से हिचकिचाते हैं। अगर कोलकाता जाना है तो उसका रास्ता भी पूछना पड़ेगा और योग्य मददगार को भी ढूंढना होगा। जहां तक रास्ते का सवाल है, बताने वालों ने सही रास्ता बता दिया है और सद्गुरु के रूप में मददगार भी सुलभ हैं। अब आगे का पुरुषार्थ तो

जाने वालों को ही करना होगा और इस पुरुषार्थ की आधारशिला तत्त्व चिन्तन पर रखनी होगी, क्योंकि यह चिन्तन ही अन्त तक की आत्म-विकास यात्रा में पथ प्रदर्शक होगा।

### चिन्तन की धारा शान्ति की ओर बहे

परम शान्ति के स्वरूप को आत्मसात् करना है तो अपनी तत्त्व चिन्तन की धारा के प्रवाह को उस दिशा में मोड़ो। यह प्रवाह आगे से आगे उधर बहता चले। तो इसकी पहली मंजिल वहां आयेगी, जहां मन, वचन एवं काया का योग व्यापार अशुभता को त्याग कर सर्व शुभता में रमण करने लगेगा। शुभ भाव और अशुभ भाव की गतिविधियों का पूर्ण ज्ञान करके भाव नियंत्रण की दशा तब प्राप्त होने लगेगी।

इस हेतु तत्त्व चिन्तन के स्रोत पर भी विचार करना होगा। आज के कई भाई-बहिनें शास्त्रों का वाचन करते हैं और स्वाध्याय का अभ्यास भी बनाते हैं। किन्तु उनके अर्थ पर गंभीर चिन्तन नहीं होने से यह नहीं बता पाते कि योग व्यापार के संचरण में आत्म-नियंत्रण कैसे प्राप्त किया जायेगा। यह आन्तरिकता का विषय है, इसलिये चिन्तन के स्रोत को आन्तरिकता के साथ जोड़कर ही आगे चलना होगा। सन्तों के प्रवचन को भी आप ध्यानपूर्वक सुनें तो तत्त्वों को समझने में सुगमता रहेगी। नव तत्त्वों के साथ षड् द्रव्यों का भी गहराई से अध्ययन करें और फिर उस पर आत्म चिन्तन करते रहें तो मार्ग स्वतः ही स्पष्ट होता चला जायेगा। इन नव तत्त्वों में मुख्य दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव और इनके निमित्त से शेष सात तत्त्व हैं अतः जड़ और चेतन तत्त्वों को बुनियादी तौर पर जानने की जरूरत है। नव तत्त्व और षड् द्रव्य—इन सभी को भाव कहा है। इन भावों का जब विकारों के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है तो वह निम्न दशा होती है। इसके आगे सोचा जाये तो उन तत्त्वों व वस्तु स्वरूपों को भाव की संज्ञा दी गई है क्योंकि वे भावयुक्त हैं। जो वस्तु जिस गुण से युक्त होती है, उसे असाधारण धर्म से भी पुकारा जाता है। जो भाव और धर्म जिसके बिना नहीं रह सकते हैं उसे असाधारण कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जो भाव जिस धर्म के बिना अन्यत्र नहीं रह सके वह असाधारण तथा जो सभी में पाया जाये वह साधारण भाव होता है। शान्ति की अभिलाषा रखने वालों को भाव के महत्त्व को हृदयंगम करना ही चाहिये।

आप तत्त्वों को भावपूर्वक समझें एवं उन पर सतत चिन्तन करें किन्तु इतना ही करके विराम नहीं लेना है, बल्कि उस चिन्तन के सार को क्रियान्वित

करना है। वही आत्म-विकास की यात्रा का आरंभ होगा जिसमें निरन्तर पुरुषार्थ का प्रयोग करना होगा। यदि इसमें कहीं भी कमी रहती है तो विकारपूर्ण दोष फिर से प्रवेश करने लगेंगे और शुभ भावों में विष फैलाने लगेंगे। अफीम के नशे की तरह यह विष फिर से आत्म-स्वरूप को विस्मृति में डालकर जीवन के विचार-व्यवहार को कलंकित बना देगा। कई नादान लोग तरह-तरह के नशीले पदार्थों का सेवन करके शान्ति की तलाश करना चाहते हैं—यह उनका निपट अज्ञान है। इन नशीले पदार्थों के सेवन से आदमी अविवेक, अनिश्चिन्तता तथा अतिशोक का शिकार होता है तथा अपनी रही सही शान्ति को भी खो देता है। इससे वह भांति-भांति के दुर्गुणों को अपनाकर परिवार और समाज में समस्या बन जाता है। वैसा व्यक्ति कभी तत्त्वों को समझ सके और उन पर चिन्तन करके विकास के मार्ग पर चल सके—इसकी संभावना बहुत क्षीण होती है। अतः सच्ची शान्ति का आस्वादन लेना है और लेते रहना है तो तत्त्व चिन्तन का सतत अभ्यास क्रम बनाइये।

### चिन्तन, शान्ति और चारित्र का त्रिकोण

तत्त्वों पर जितना अधिक चिन्तन किया जायेगा शान्ति का अनुभव तदनुसार परिपुष्ट होता जायेगा। फिर शान्त चित्त से जब चारित्र गुण की आराधना की जायेगी तो शान्ति की प्रगाढ़ता बढ़ती जायेगी। अधिक शान्ति से अधिक कठोर चारित्र का पालन हो सकेगा तो चारित्र की सुदृढ़ता के साथ शान्ति अपने परम स्वरूप की ओर गतिशील होने लगेगी। इस त्रिकोण में सम्यग् ज्ञान एवं सम्यग् दर्शन की श्रेष्ठता तो प्रकट होगी ही, अपितु सम्यक् चारित्र की समुन्नति से आत्म-विकास की यात्रा पूरे प्रगतिशील दौर में सम्पन्न होने लगेगी।

यथार्थ स्वरूप में देखें तो जो तत्त्व-चिन्तन है, वही सत्य की साधना है। वस्तु स्वरूप का यथावत् ज्ञान होना ही तो तत्त्व चिन्तन का सार होता है अतः वही सत्य का साक्षात्कार होता है। सत्य का अनुगमन करते हुए साधना और चारित्र की आराधना का स्वरूप पूरी तरह से निखर उठता है। तब वह तत्त्व चिन्तन ही सर्वोच्च ज्ञान-दर्शन की उपलब्धि के रूप में परिणत होता है। अतः तत्त्वों के मार्मिक चिन्तन पर आप सब पूरा बल दें।

## 6

## तीर्थकरों की वाणी

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

तीर्थकर देवों ने आत्म-विकास के सम्बन्ध में जो कुछ मार्गदर्शन किया है, वह भव्य जनों पर उनकी अपार करुणा का प्रतीक है। तीर्थकर प्रभु को जब तक केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति नहीं होती है, अपने आत्म-स्वरूप की विशुद्धि के लिये साधना में रत रहते हैं। केवलज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर उन्हें आत्म-स्वरूप की शुद्धता की पूर्णता प्राप्त हो जाती है, अतः साधना की आवश्यकता अल्प रह जाती है। उनके चार घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे उन्हें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र तथा अनन्त वीर्य की सम्प्राप्ति हो जाती है। तब वे देशना देना आरंभ करते हैं अतः देशना का एक-एक शब्द सारपूर्ण, सत्य, सार्थक एवं सदाशयता से भरा-पूरा होता है।

तीर्थकर देव स्वयं के अनुभव से जानते हैं कि भव्य जन दुःख-दुन्दुहों से भरे इस संसार समुद्र को पार करना चाहते हैं अतः उनकी करुणा जागृत होती है। वे कारुणिक भाव से तब इस संसार समुद्र को पार करने की तात्त्विक विधि का उपदेश फरमाते हैं जो त्रिकाल सत्य होता है। उसमें शंका या अश्रद्धा लाने का कोई कारण नहीं होता। निश्चित रूप से यह सत्य हृदयंगम किया जा सकता है कि तीर्थकर-वाणी सभी प्रकार से आत्म-विकास की आधारशिला है, भित्ति है और अनुपम अट्टालिका है।

तीर्थकरों की वाणी को जो आरंभ से अन्त तक शिरोधार्य करता है, उस साधक का परम कल्याण अवश्यमेव होता है। कारण, यह वाणी उस प्रकाशमान ज्योति के समान है जो कभी अस्त नहीं होती, बल्कि मन्द भी नहीं होती और सदैव सबको अपने दिव्य आलोक में निज एवं लोक कल्याण का पथ प्रदर्शित करती रहती है। सत्य वस्तुस्थिति तो यह है कि यह वाणी उद्भूत ही लोक कल्याण के लिये हुई है। केवलज्ञान एवं केवलदर्शन के प्राप्त होने पर



चरम तीर्थकर भगवान् महावीर स्वामी ने संसार की समस्त आत्माओं को देख लिया— उनके वर्तमान स्वरूप को जान लिया। उनके ज्ञान में यह भी प्रत्यक्ष हो गया कि कौन-सी आत्मा सुखी है और कौन-सी दुःखी तथा उनके सुख और दुःख के कारण क्या-क्या हैं? यह सब जानने और देखने के बाद जब तक उनका आयुष्य रहा, वे आत्मरमण भी करते रहे और सांसारिक आत्माओं को परम कल्याण का मार्ग भी दिखाते रहे।

### तीर्थकर और तीर्थकरत्व का सद्भाव

चार घाती कर्मों का नाश करके जब तीर्थकरत्व प्राप्त होता है तब वे महापुरुष मन, वचन, काया के योगों का प्रयोग अपने लिये नहीं करते हैं, अपितु संसार के कल्याणार्थ करते हैं तथा भूमंडल पर विचरण करते हुए अपनी पवित्र देशनाएँ देकर जन-जन को जागृति का सन्देश देते हैं। वे अपने वचन के माध्यम से जन-जन के आत्म-विकास हेतु निःस्वार्थ एवं करुणा भाव से अपने आप में आत्म-तल्लीन रहते हुए समग्र आत्माओं के उद्धार के लिये अमृतमय उपदेश प्रदान करते हैं। ये उपदेश अमूल्य होते हैं तथा युग-युग तक भव्य आत्माओं को अपने विकास पथ पर जागरूक बनाते रहते हैं। यही विशेषता है कि उन तीर्थकर देवों के दिव्य उपदेश दीर्घकाल के पश्चात् आज भी ज्योतिर्स्तम्भ के समान ज्ञान और क्रिया की उत्कृष्टता का प्रकाश फैला रहे हैं।

वे पुण्य आत्माएँ तीर्थकर बन गईं और अपने उच्चतम आत्मस्वरूप के साथ अनन्त सुख और शान्ति में अवस्थित हो गईं— इसका यह अभिप्राय नहीं कि अब अन्य आत्माओं को तीर्थकर बनने का कोई अवसर नहीं है। इसके विपरीत उनका तीर्थकरत्व वह ज्योतिर्द्वार है जो खुल जाता है अन्य भव्य आत्माओं द्वारा तीर्थकरत्व प्राप्त कर लेने का पुरुषार्थ सफल बना देने के अमित प्रोत्साहन के साथ। वह ज्योतिर्द्वार एक प्रकार से प्रेरणा द्वार बन गया है कि सभी भव्य आत्माएँ अपने भीतरी उत्कृष्ट स्वरूप की अनुभूति लें तथा अपनी पूर्ण विशुद्धि साध कर उस द्वार में प्रवेश पा लें। यह तीर्थकर देवों का ही उपदेश है कि जो तीर्थकरत्व का स्वरूप उन्होंने अपने भीतर प्रकट किया, वही स्वरूप आवरणों में ढका हुआ सभी आत्माओं के भीतर में विद्यमान है और वैसी ही मन, वचन एवं काया की शक्तियाँ उपलब्ध हैं। आवश्यक यही है कि जितनी शक्तियाँ वर्तमान काल में प्रकट हैं, उनका सम्बल लेकर अथक पुरुषार्थ किया जाये एवं छिपी हुई अधिकाधिक शक्तियों को व्यक्त किया जाये। इस प्रकार का पुरुषार्थ यदि हम सतत रूप से करें तो हमारा जीवन भी परम

आनन्द, आह्लाद एवं अद्भुत अनुभूतियों का पवित्र स्रोत बन सकता है। ऐसे तीर्थकरत्व का सद्भाव सभी भव्य आत्माओं के भीतर मौजूद है और जब मूल में वैसी योग्यता मौजूद है तो उसे प्रकट कर लेने का कठिन पुरुषार्थ ही किसी भी उत्थान-कामी साधक के लिये परम आचरणीय होता है।

### भावशुद्धि से पुरुषार्थ का पहला पग उठावें

शान्ति प्राप्त करने की पहली मंजिल तक भी पहुंचने का पुरुषार्थ करना है तो वह भाव शुद्धि के साथ प्रारंभ किया जाना चाहिये। भावशुद्धि से ही पुरुषार्थ का पहला पग उठावें एवं तीर्थकर देवों की पवित्र वाणी का प्राणपण से अनुसरण करें।

भाव तो हमारे मन के भीतर में चलने वाला एक श्रद्धा रूप प्रवाह है—वह अतुल और अबाध है। उसमें पवन वेग से बड़ी-बड़ी लहरें भी उठती हैं लेकिन तूफान की तरह उनका उठना कुछ समय के लिये ही होता है। वे शान्त भी होती हैं और मंथर गति से भी चलती हैं। मन की भाव लहरों का भी ऐसा ही प्रवाह होता है। मन के अन्दर भी जो भावों की लहरें उठती हैं, वे विचारों की तद्रूप अवस्थाओं के अनुसार ही तूफान का वेग भी पकड़ती हैं तो मंथर व गंभीर गति से भी चलती हैं। इस जीवन में चिन्तन के अनुसार भावनाएँ बनती, बदलती और ढलती हैं। मनुष्य कभी सोचता है कि मैं अमुक कार्य कर लूँ लेकिन दूसरे ही क्षण उसके मन में दूसरा विचार उठ जाता है और वह पहले के विचार की भावनाओं को भुला देता है। इतना ही नहीं, दूसरे के बाद तीसरा, चौथा और इस तरह विविध विचार उठते रहते हैं जिनके कारण उसकी भावनाएँ भी अस्थिरता की चपेट में आ जाती हैं, विचार भी विशृंखल हो जाते हैं तथा वह अनिश्चय की स्थिति में विभ्रमित हो जाता है। विचारों के इस विशृंखल प्रवाह को मनुष्य पकड़ नहीं पाता है और उसकी बुद्धि भी एक बार तो हार मान लेती है। कोई इसका लेखा-जोखा लगाने बैठे कि आज सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक मन में कौन-कौन से विचार किस-किस रूप में उठे तो शायद यह तलपट-मिलान दुष्कर हो जायेगा। यह विचारों की अस्थिरता भावों के क्रम को भी बिगाड़ती है तो उनकी शुद्धि को भी प्रदूषित बनाती है। भाव प्रदूषण ही आत्मा की वृत्तियों को विकृत बनाता है।

आत्म-शुद्धि को एक भवन के दृष्टान्त से समझिये। एक भवन होता है जिसके कई दरवाजे और खिड़कियाँ होती हैं। कल्पना करें कि बाहर जोरदार आंधी और अंधड़ चलता है तथा चारों ओर धूल-मिट्टी व कचरा बड़े वेग से

उड़ता है, उस समय भवन के दरवाजे व खिड़कियाँ खुली होंगी तो मिट्टी और कचरा सारे भवन के भीतर पूरी तरह से फैल जायेगा। मारवाड़ की रेत भरी आंधियों में कभी-कभी तो रेती की मोटी-मोटी परतें घरों में जम जाती हैं। फिर उस अशुद्धि को साफ करने में भी बड़ा श्रम करना पड़ता है। किन्तु यदि उसी भवन के दरवाजे और खिड़कियाँ अंधड़ आने से पहले सावधानी पूर्वक बंद कर दी गई हों तो बाहर कितना भी तेज अंधड़ क्यों न हो, भीतर उसकी गंदगी तनिक भी घुस नहीं पाएगी। भवन सुदृढ़ और सुरक्षित हो तो भीषण से भीषण तूफान भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पायेगा—उसकी स्थिति और शुद्धि को कोई खतरा पैदा नहीं होगा। तूफान का खतरा उसी भवन के लिये हो सकता है जिसकी नींव कमजोर हो या कि जिसके दरवाजे-खिड़कियाँ खुली हों।

आत्मा रूपी भवन की भी ऐसी ही अवस्था है। उसकी नींव होती है भाव शुद्धि की तथा उसके दरवाजे और उसकी खिड़कियाँ हैं उसका मन और उसकी इन्द्रियाँ। यदि मन में विचारों की स्थिरता तथा एकरूपता होती है तो भावशुद्धि बनी रहती है। यही भाव शुद्धि आत्मा को सुस्थिर बनाये रखती है। लेकिन आत्मा यदि अपने मन और अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख पाती है तथा उन्हें खुला छोड़ देती है तो बाहर में उठते रहने वाले भौतिक अंधड़ और वासनाओं के ये तूफान मन और इन्द्रियों को बुरी तरह से झिंझोड़ देते हैं। फिर जड़ग्रस्तता तथा मोहाविष्टता की अशुद्धि भीतर वेगपूर्वक प्रविष्ट हो जाती है। वैसी आत्मा तब भीतर में इतने बड़े विकारों से घिर जाती है कि उसका अपना स्वभाव अशुद्धि की मोटी-मोटी परतों के नीचे दब जाता है। भावों की ऐसी अशुद्धि ही आत्मा की दुर्वस्था की कारणभूत हो जाती है। यही कारण है कि जब आत्म-विकास के हेतु किये जाने वाले पुरुषार्थ का पहला पग उठाया जाये तो वह शुभारंभ भाव-शुद्धि के साथ ही होना चाहिये।

### मनःस्थिति से मनुष्य की किंकर्तव्यविमूढता

मन और इन्द्रियों के दरवाजों-खिड़कियों को कब खोलना चाहिये व कब बन्द कर देना चाहिये—इस बात का जब तक पूरा विवेक पैदा नहीं हो तब तक बाहर के आंधी-तूफानों का खतरा बराबर बना ही रहेगा। समय पर उन्हें बन्द करने का प्रसंग नहीं आता है तो वासनाओं के विकार बेरोकटोक भीतर घुस जाते हैं और भीतर के स्वरूप को मैला बना देते हैं। वे भीतर के स्वरूप की पहले की जटिलता को और अधिक जटिल बना देते हैं। ऐसी असावधानी जब बार-बार होती रहती है तो फिर विकृतियों का कोई आर-पार नहीं रहता है तथा

आत्म-स्वरूप के आच्छादनों का भी कोई हिसाब नहीं होता। भौतिक पदार्थों के मोहावेश का विकार मन और इन्द्रियों को लम्बे समय के लिये अनियंत्रित बना देता है। काम, क्रोध, मान, लोभ, राग-द्वेष, मत्सर, माया आदि का प्रबल वेग मन में अशुभ भावों को फैलाता रहता है और उसे शुभ भावों में प्रवृत्त होने से रोकता रहता है। यही जीवन का सबसे बड़ा खतरा है।

सच कहा जाये तो यह अनियंत्रित मनःस्थिति ही सबसे बढ़कर जीवन का खतरा हो जाती है। ऐसी मनःस्थिति में मनुष्य दूसरों के हित को तो भुलाता ही है स्वयं के हित से भी बेभान हो जाता है। स्वयं अशुद्धि में भटक कर भाव-शुद्धि को वह मन से बिगाड़ता है तो आत्म-शुद्धि को भी कलंकित बना देता है। वह कुछ भी सोच नहीं पाता है तथा किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाता है। इस प्रकार मनुष्य की मानसिकता अतीव दयनीय बन जाती है और अस्थिर मनःस्थिति उसे किंकर्तव्यविमूढ़ता के दलदल में फंसा देती है।

आज के मनुष्य की मानसिकता इस दृष्टि से विचार करें तो पता लगाना चाहिये कि कैसी है? और इसका पता यदि अपनी ही मानसिकता की जांच करके लगाया जाये तो शायद यह जानकारी ज्यादा स्पष्ट रूप से हो सकेगी। ज्ञात हो सकेगा कि मनुष्य का मन आज बहुत अस्वस्थ है और उस कारण उसका पूरा जीवन ही अस्वस्थ बना हुआ है अर्थात् 'स्व' में स्थित नहीं है। स्व में स्थित नहीं होने से वह अपने परिवार, समाज या राष्ट्र में भी स्थित नहीं रह पाता है। चारों तरफ की समस्याओं में वह उलझा रहता है और बेचैन होता है, मगर समस्याओं के समाधान निकाल लेने की दिशा में कोई ठोस प्रगति नहीं कर पाता है। अशान्त मनःस्थिति के साथ वह अशान्ति के अंधड़ में इधर-उधर भटकता और टकराता रहता है।

इस अशान्त मनःस्थिति में यदि आज के मनुष्य को कोई त्राणदायक सहायता पहुंचा सकती है तो वह है तीर्थकरों की वाणी—जो सबसे पहले भावशुद्धि का उपदेश देकर मन और इन्द्रियों को नियंत्रित करने का निर्देश देती है।

### भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का भेद विज्ञान समझें

तीर्थकर देवों का मौलिक आह्वान है कि भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के भेद विज्ञान को समझें—जड़ और चेतन की गतिविधियों का पृथक्ता के साथ अंकन करें। इसी से 'स्व' का ज्ञान और परिचय होगा तथा स्व में स्थित होने तथा बने रहने का संकल्प बनेगा।

संसार के इस विशाल रंगमंच पर केवल दो खिलाड़ियों का खेल चल रहा है और ये दो खिलाड़ी हैं—चेतन और जड़। जब तक इन दोनों खिलाड़ियों के खेल को भली-भांति अलग-अलग रख कर नहीं समझेंगे तब तक संसार का खेल भी समझ में नहीं आ सकेगा। शास्त्रकारों ने चेतन और जड़ के स्वरूप तथा उनके भेद विज्ञान को जानने के लिये पच्चीस बोलों का उल्लेख किया है। इन बोलों को यदि बीज रूप से समझ लिया जाये तो आध्यात्मिकता के विशाल वटवृक्ष का समुच्चय ज्ञान भी हो जायेगा।

पच्चीस बोल का थोकड़ा आप में से कइयों ने सीखा, किन्तु बहुत कम लोगों ने इस तथ्य पर विचार किया होगा कि इन पच्चीस बोलों में चेतन और जड़ के सम्पूर्ण स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन आ गया है। पहला बोल चार गति का है कि इनमें से अच्छी गति प्राप्त करनी है तो शुभ भावों में विचरण करो अन्यथा भावों का फल नरक और तिर्यच गतियों में जाने का मिलेगा। प्राणियों के बीच कोई जाति है तो इन्द्रिय शक्ति की। अतः एक से पांच इन्द्रियों की पांच जाति कही गई है सम्पूर्ण प्राणियों की। फिर काया छः प्रकार की, इन्द्रियाँ पांच, पर्याप्तियाँ छः, प्राण दस और शरीर पांच बताये गये हैं। योग प्रवृत्ति की दृष्टि से योग पन्द्रह और उपयोग बारह कहे हैं। वृत्ति-प्रवृत्तियों के फलस्वरूप आठ कर्मों का बंधन होता है और चौदह गुणस्थानों में गमनागमन। पांच इन्द्रियों के तेईस विषय हैं, मिथ्यात्व दस प्रकार का होता है तथा नव तत्त्वों में आत्म-विकास की समग्र प्रक्रिया का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा आठ, दंडक चौबीस, लेश्या छः, दृष्टि तीन, ध्यान चार तथा षट् द्रव्य के तीस भेद बताये गये हैं। इक्कीसवें बोल में दो राशि—जीव व अजीव का विवरण है। फिर श्रावक के बारह व्रतों, साधुजी के पंच महाव्रतों, उनचास भंगी व पांच चारित्र का उल्लेख है। यह स्तोक एक प्रकार से अध्यात्म शास्त्र का छोटा गुटका है। लेकिन कई भाई-बहिन इसको ठीक से समझ नहीं पा रहे हैं। इसमें जो मौलिक तत्त्व हैं, वे उत्थान की अभिलाषिणी आत्मा के लिये नौका बनकर सहारा दे सकते हैं, अतः इन बोलों का बारीकी से ज्ञान करना चाहिये।

भौतिकता की लालसाओं में रचे-पचे लोगों का उस कीड़े जैसा हाल होता है जो गंदगी में ही पैदा होता है और गंदगी में ही रहना पसन्द करता है। वह उस दुर्गंध को भी सुगंध मानता है और अपनी दुरवस्था से बाहर निकलने की इच्छा भी नहीं करता है। आज का भौतिकतावादी मानव भी अपनी दुरवस्था का अनुभव नहीं करता है तथा आध्यात्मिक दिशा में आगे बढ़ने की रुचि नहीं रखता है। वह इनके भेद विज्ञान को भी नहीं समझता है। सांसारिकता

की जटिलताओं में वह कष्ट और अशान्ति तो महसूस करता है लेकिन उसके कारणों की खोज नहीं करता और शुभभावों को नहीं अपनाता है। यही उसकी दयनीयता की स्थिति है।

एक धनाढ्य व्यक्ति महात्मा यीशु के पास गया और बोला—मेरे पास भौतिक वैभव बहुत है लेकिन शान्ति नहीं है। आप मुझे शान्ति की राह दिखाइये। यीशु ने उसे एक झील के पास ले जाकर कहा कि तुम इसमें डुबकी लगाओ और ज्यादा से ज्यादा देर तक पानी की सतह के नीचे रहो। धनाढ्य थोड़ी-थोड़ी देर में पानी के ऊपर आ जाता—अन्दर ज्यादा देर तक ठहर नहीं पाता था। उसने यीशु से कहा—मैं अन्दर ज्यादा देर तक ठहर नहीं सकता हूँ क्योंकि वहां मेरा दम घुटता है। तब यीशु ने समझाया—शान्ति की राह अब तो तुम्हें समझ में आ गई होगी। जल तुम्हें शीतल और आनन्ददायक लगा होगा, फिर भी वहां तुम्हारा दम घुटता है सो तुरन्त बाहर आना चाहते हो। भौतिक वैभव इसी प्रकार का है कि उसमें अज्ञान और अल्प बुद्धि के कारण सुख का आभास लिया जाता है किन्तु यथार्थ में वहां सुख नहीं है। जिसका आन्तरिक विवेक जागृत हो जाता है, उसका भौतिक वैभव में दम घुटने लगता है, इसलिये शान्ति पाने के लिये वह उससे तुरन्त बाहर निकल जाता है। तुम्हें भी सच्ची शान्ति पानी हो तो भौतिक वैभव की सतह से ऊपर उठ आना होगा। आपको यह कथन कैसा लगा? आप भी शान्ति की अभिलाषा रखते हैं तो सोचिये कि क्या आप अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिये समुचित प्रयास भी कर रहे हैं? ध्यान में रखिये कि यह सब बारीकी से चिन्तन करने का विषय है वरना भौतिकता के दलदल से बाहर निकलना कठिन होगा और आध्यात्मिकता की दिशा में गति करने की अभिरुचि भी जागृत नहीं हो सकेगी।

### तीर्थकरों की वाणी का रहस्य

तीर्थकरों की पतित पावनी वाणी का यही रहस्य है कि जब आप आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वों में भेद करना सीख जायेंगे तो आपके सामने आत्म-तत्त्व की अनुभूति स्पष्टतर होने लगेगी तथा यह अनुभूति ही आपको परम शान्ति प्राप्त करने की दिशा में अग्रगामी बनायेगी। कारण यह है कि आत्मानुभूति से आत्म-स्वरूप का दर्शन होता है तथा आत्म-दर्शन से विशुद्धि की लगन लगती है। यह विशुद्धि सबसे पहले भाव विशुद्धि से प्रारंभ होती है एवं भाव विशुद्धि के लिये आत्मालोचना एवं आत्म-दमन की प्रक्रियाओं की अनुपालना करनी होती है। तब यह परस्पर क्रम चल पड़ता है कि आत्म-

विशुद्धि से अधिक जागृति और अधिक आत्म-जागृति से विशुद्धि पूर्णता की ओर प्रगति करती है।

एक सम्राट के पास सुरय्या नाम का एक गुप्तचर विभाग का अधिकारी था। सुरय्या कभी-कभी सन्तों के समीप आया-जाया करता था। कुछ भीतर की अभिलाषा और कुछ बाहर का आडम्बर—यह सुरय्या सन्तों से शान्ति का मार्ग पूछा करता था। एक बार एक सन्त ने उसे श्रावक के व्रत ग्रहण करने का उपदेश दिया और उसकी विधि भी बतायी। उसने सबसे पहले असत्य त्यागने के दूसरे व्रत को स्वीकार करने का निश्चय किया। उसने सोचा कि झूठ छोड़ देने से उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। उसने सन्त से सत्य व्रत स्वीकार कर लिया। इस बीच एक बार सिंहल द्वीप के कुछ अधिकारी उसके राज्य में आये तो वे उसके सत्य-व्रत से प्रभावित हुए तथा बजाय राजकीय अतिथि गृह में ठहरने के वे सुरय्या के साथ उसके निवास पर ठहरे। कुछ दिन ठहर कर वे लौट गये। बाद में उसे पता चला कि उसके वहां से कुछ महत्त्वपूर्ण कागजात और बहुमूल्य वस्तुएँ गायब हैं। उसने सारी बात सम्राट को बता दी। उसने यह भी कहा कि उसे सिंहल द्वीप के अधिकारियों पर इसके लिये सन्देह है। सम्राट ने जांच पड़ताल करायी परन्तु कुछ पता नहीं लगा। इस प्रकार के आरोप से सुरय्या को दूसरे व्रत का पहला अतिचार लगा।

योग ऐसा हुआ कि तभी एक निकटवर्ती राज्य के राजा ने उस राज्य पर आक्रमण कर दिया। सम्राट ने सुरय्या को बुलाकर कहा कि वह गुप्त बातों का पता लगवा कर ऐसी व्यवस्था करे कि आक्रमणकारी सफल नहीं हो सके। सुरय्या अपने काम में जुट गया। एक रात्रि में वह वेश बदलकर शहर में गश्त लगा रहा था तो दीवान के निवास के पास से गुजरते हुए उसे एक कक्ष से आती हुई कुछ फुसफुसाहट सुनाई दी। उसने कान लगाकर सुना तो पता चला कि दीवान किसी से धनराशि ले रहा था और मदद करने का वादा कर रहा था। सुरय्या तुरन्त सम्राट के पास पहुंचा और सुनी हुई बात बतायी। सम्राट ने पता लगाया तो वह दूसरी बात निकली। इस तरह बिना सोचे समझे रहस्य का उद्घाटन करने से सुरय्या को दूसरे व्रत का दूसरा अतिचार लगा।

इसी तरह एक रात को बाहर गश्त करते हुए जब अचानक घर पहुंचा तो शयन कक्ष से उसकी पत्नी के सिवाय एक अन्य पुरुष की आवाज भी आ रही थी। उसने गहराई से सोचा नहीं और पत्नी पर कुल्टा होने का आरोप लगा दिया जिससे क्षुब्ध होकर उसकी पत्नी ने आत्महत्या कर ली। इससे उसे दूसरे व्रत का तीसरा अतिचार लगा। फिर उसने चौथा अतिचार इस तरह लगाया कि

सम्राट द्वारा उसे अधिक सम्मान मिल जाने पर उसने अपने मित्र द्वारा दीवान के प्रति गलत बातों से सम्राट के कान भरवाये और झूठ का सहारा लिया। फिर पांचवां अतिचार उसने सम्राट को झूठे पत्र लिखवा कर लगाया। सम्राट उसके प्रति इससे सशंकित हो गया और जब वह झूठ का पता लगाने लगा तो सुरख्या ने भयभीत होकर अपना अपराध स्वीकार कर लिया। पांचों अतिचार लगाने से उसका सत्य-व्रत भी टूट गया तथा उसकी प्रतिष्ठा भी मिट्टी में मिल गई।

कहने का अभिप्राय यह कि जो भावशुद्धि के साथ तीर्थंकर देवों की वाणी को ग्रहण नहीं करता है, बल्कि आडम्बर भाव दिखाता है तो ध्यान में लीजिये कि उसका आडम्बर चलता नहीं है तथा आखिर में जाकर उसके आडम्बर का भांडा फूट जाता है। तीर्थंकरों की वाणी हृदय से स्वीकार की जानी चाहिये तथा पूर्ण सहजता एवं सरलता के साथ उसका अनुपालन करना चाहिये क्योंकि यह वाणी आत्मा को निर्मल बनाने वाली वाणी है जिसका मायावी रूप के साथ कोई मेल नहीं होता है। जो इस वाणी को सरल और नम्र भाव से स्वीकार करता है, वही इस वाणी के रहस्य तक भी पहुंच सकता है। कोई 'मिच्छामि दुक्कडम्' देता रहे और बराबर कंकर मार कर मटकियाँ फोड़ता रहे तो उसके उस प्रायश्चित्त का क्या मोल? उसी प्रकार तीर्थंकर देवों की वाणी के साथ मायाचार करने वाला भी अप्रतिष्ठित होता है एवं सर्वत्र निन्दा का पात्र बनता है।

### तीर्थंकर को मानिये, तीर्थंकर बनिये!

यह भगवान् महावीर का ही महान् उद्घोष है कि तीर्थंकरत्व या ईश्वरत्व की स्थिति आत्मा से पृथक् स्थिति नहीं है। प्रत्येक भव्य आत्मा अपने सत्पुरुषार्थ से तीर्थंकर बन सकती है—ईश्वर हो सकती है। आत्मा से ही परमात्मा होते हैं और परमात्मा बनने का इस संसार में रहने वाली प्रत्येक भव्य आत्मा को अधिकार है और इसी कारण उसका यह कर्तव्य है कि भाव शुद्धि के साथ आत्म-विकास की वह यात्रा पूरे उत्साह से सम्पन्न करे। उसकी निष्ठा और श्रद्धा उच्च कोटि की बनती है तथा ज्ञान एवं क्रिया की आराधना प्रगाढ़ होती है तो वह आत्मा अपनी परम विशुद्धि के साथ तीर्थंकर बन सकती है—परमात्मा हो सकती है।

यह कोई उद्घोष मात्र नहीं है, बल्कि शास्त्रकारों ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि शुभ नाम कर्म के अन्तर्गत तीर्थंकर नाम भी उसका एक भेद है और कोई भी भव्य आत्मा उल्लिखित शुभ कार्यों का सम्पादन करके तीर्थंकर नाम कर्म का



बंध कर सकती है। तीर्थंकर नाम कर्म बंध के बीस बोल बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) घाती कर्मों के विजेता, अनन्त ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न एवं सर्व वन्दनीय अरिहन्त भगवान् के गुणों की स्तुति, उनकी विनय भक्ति तथा उनकी वाणी की सन्निष्ठा से आराधना करे तो तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है। अरिहन्त और तीर्थंकर एक ही पद है।

(2) सकल कर्मों को नष्ट करके कृतकृत्य बने परम सुखी, परम शान्त, आत्मस्वरूप में तल्लीन सिद्ध भगवान् की विनय भक्ति एवं गुणगान करने से तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है।

(3) बारह अंगों के ज्ञान को प्रवचन कहते हैं तथा उपचार से प्रवचन-ज्ञान के धारक संघ को भी प्रवचन कहा है अतः विनय भक्ति पूर्वक प्रवचन का ज्ञान सीख कर उसकी आराधना करने, प्रवचन के ज्ञाता की विनय भक्ति करने, उनका गुणोत्कीर्तन करने तथा उनकी आशातना टालने से भी आत्मा को तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है।

(4) धर्मोपदेशक गुरु महाराज की बहुमान भक्ति करने, उनके गुणों को प्रकाशने एवं आहार, वस्त्र आदि द्वारा उनका सत्कार करने से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है।

(5) जाति, श्रुत एवं दीक्षा पर्याय के भेद से स्थविर महाराज के गुणों की स्तुति करने, वन्दनादि रूप भक्ति करने एवं प्रासुक आहार आदि द्वारा उनका सत्कार करने से आत्मा तीर्थंकर नाम कर्म बांधती है।

(6) बहुश्रुत ज्ञानधारी से अधिक अर्थ-बहुश्रुत ज्ञानधारी तथा उनसे भी अधिक उभय बहुश्रुत ज्ञानधारी मुनियों की वन्दना नमस्कार रूप भक्ति करने, उनके गुणों की श्लाघा करने, आहार आदि द्वारा सत्कार करने तथा अवर्णवाद व आशातना का परिहार करने से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है।

(7) बारह प्रकार के तप का सेवन करने वाले तपस्वी मुनियों की विनय भक्ति करने, उनके गुणों की प्रशंसा करने, आहार आदि द्वारा उनका सत्कार करने तथा अवर्णवाद व आशातना का परिहार करने से आत्मा तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध करती है।

(8) निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखने से अर्थात् खाते-पीते, उठते-बैठते, जागते-सोते प्रत्येक समय में यतना और विवेक को जागृत रखा जाये तो तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है।

(9) निरतिचार अर्थात् बिना कोई अतिचार लगाये शुद्ध सम्यक्त्व धारण करने से आत्मा तीर्थकर नाम कर्म बांधती है।

(10) ज्ञान आदि का यथायोग्य विनय करने एवं उसकी आस्थापूर्वक आराधना करने से तीर्थकर नाम कर्म का बंध होता है।

(11) भाव पूर्वक शुद्ध आवश्यक प्रतिक्रमण आदि कर्तव्यों का पालन करने से तीर्थकर नाम कर्म का बंध होता है।

(12) निरतिचार शील और व्रत यानी कि मूल गुण और उत्तर गुणों का विधिपूर्वक पालन करने वाली आत्मा तीर्थकर नाम कर्म का बंध करती है।

(13) सदा संवेग भावना एवं शुभ ध्यान का सेवन करने से आत्मा को तीर्थकर नाम कर्म का बंध होता है।

(14) यथाशक्ति बाह्य तप एवं अभ्यन्तर तप की आराधना करने से तीर्थकर नाम कर्म का बंध होता है।

(15) सुपात्र को साधु जनों के योग्य प्रासुक अशन आदि का दान देने से आत्मा तीर्थकर नाम कर्म का बंध करती है।

(16) आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, साधर्मिक, कुल, गण, संघ इनकी भावपूर्वक वैयावृत्य करने से तीर्थकर नाम कर्म का बंध होता है। यह वैयावृत्य तेरह प्रकार का है—आहार लाकर देना, पानी लाकर देना, आसन देना, उपकरण और प्रतिलेखन करना, पैर पूजना, वस्त्र देना, औषधि देना, मार्ग में सहायता देना, दुष्ट-चोर आदि से रक्षा करना, उपाश्रय में प्रवेश करते हुए ग्लान या वृद्ध साधु की लकड़ी पकड़ना, उच्चार, प्रस्रवण एवं श्लेष्म के लिये पात्र देना।

(17) गुरु आदि का कार्य सम्पादन करने से एवं उनका मन प्रसन्न रखने से तीर्थकर नाम कर्म का बंध होता है।

(18) नवीन ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करने एवं उस पर चिन्तन-मनन करने से तीर्थकर नाम कर्म बंधता है।

(19) श्रुत की भक्ति-बहुमान करने से तीर्थकर नाम कर्म का बंध होता है।

(20) देशना द्वारा प्रवचन की प्रभावना करने से आत्मा तीर्थकर नाम-कर्म का बंध करती है।

इन सब सत्कृत्यों की सम्पन्नता के लिये भावशुद्धि एवं भाव प्रवणता आवश्यक है। मन में विनय आदि गुणों की जितनी प्रखरता और प्रगाढ़ता होगी, इन बोलों से सम्बन्धित निष्ठा भी अत्युच्च कोटि की बनेगी।

तीर्थकरों की वाणी की ही यह अद्वितीय विशेषता है कि आप भी तीर्थकर बन सकते हैं। यदि उपरोक्त सत्कृत्यों से तीर्थकर नाम कर्म का बंध हो जाता है तो उसका तीर्थकर बनना सुनिश्चित है। तीर्थकर बनने के बाद परम शान्ति की उपलब्धि भी अवश्यंभावी है। अतः हृदय की उत्कृष्ट भावशुद्धि के साथ तीर्थकर देवों को मानिये, उनकी दिव्य वाणी का अनुसरण कीजिये और इस प्रकार स्वयं तीर्थकर बनने का आदर्श पुरुषार्थ दिखाइये।

दिनांक 02.10.86

(जलगांव)

## 7

## भाव और द्रव्य की पहचान

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

इस धर्म सभा में हमेशा की तरह आज भी अनेक चैतन्य देव उपस्थित हैं लेकिन सोचने समझने की बात यह है कि इनमें से चैतन्य देव की तरफ ध्यान कितनों का है? क्या स्वयं के चैतन्य देव की पहचान कर लेने वाले पुरुष भी यहां है? वस्तुतः इस विषय में प्रत्येक मानव को गहन चिन्तन करने की नितान्त आवश्यकता है।

चैतन्य देव को किस प्रकार जाना और पहचाना जा सकेगा? भाव एक गुण है जो गुण अपने गुणी के आश्रय में रहता है। यह गुण द्रव्य के आश्रय में रहता है तथा द्रव्य को छोड़कर कहीं नहीं जाता है। और द्रव्य का तात्पर्य वस्तु रूप से है। नव तत्त्वों में भी प्रमुख दो तत्त्व हैं—चेतन और जड़ तत्त्व। जो द्रव्य के रूप में कहलाते हैं, उससे ही छः द्रव्य बने हैं। यही भाव की पहचान होती है। सूर्य का प्रकाश सभी की दृष्टि में आ रहा है लेकिन यह प्रकाश आश्रित है या नहीं? प्रकाश आश्रित है और यह सूर्य के आश्रित है। इस प्रकाश को सूर्य से पृथक् किया जाना क्या संभव है? यदि ऐसा पृथक् करने का कार्य किया जा सके तो प्रकाश, प्रकाश नहीं रहेगा और सूर्य भी सूर्य नहीं रहेगा। उसी प्रकार यदि पदार्थों से उनका असाधारण भाव पृथक् किया जाये तो पदार्थ, पदार्थ नहीं रहेगा और भाव भी भाव नहीं रहेगा। भाव और द्रव्य परस्पर सम्बद्ध होते हैं तथा एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। एक दृष्टि से कभी-कभी द्रव्य को भाव तथा भाव को द्रव्य भी समझाया गया है।

शान्ति प्राप्त करने की पहली मंजिल पर पहुंचने के लिये प्रार्थना की पंक्तियों में कवि ने संकेत दिया है कि हम भाव रूप द्रव्य को समझें। जड़, जड़ रूप है और निर्जीव है। चेतन, चैतन्य रूप है और आत्मा है। आत्मा जीव रूप और सजीव है। जब तक वस्तु रूप की यथावत् पहचान नहीं होती, तब तक

शान्ति प्राप्त करने की दिशा में प्रगति भी नहीं होती है। ऐसी स्पष्ट पहचान के अभाव में जो जीव नहीं होता है उसे जीव रूप में मान लिया जाता है और जो जीव है, उसे जड़ रूप कह दिया जाता है। यह सत्य पहचान की विसंगति है, विरोध है। जहां विरोध है, वहां संघर्ष है और जहां संघर्ष है, वहां तनाव है, अशान्ति है। वहां शान्ति नहीं मिल सकती है। जिन भव्य जनों को शान्ति की कामना है, उन्हें तीर्थकर देवों द्वारा उपदेशित नव तत्त्वों का ज्ञान करना चाहिये तथा वस्तुस्वरूप की भाव और द्रव्य के रूप में वास्तविक पहचान करनी चाहिये। पहले चैतन्य देव की पहचान करें जिससे जड़ की पहचान आसान हो जायेगी। दोनों की पहचान से भाव और द्रव्य की भी स्पष्ट पहचान हो जायेगी।

### मूल रूप में वस्तु के स्व की पहचान

वस्तु के स्व की मूल पहचान ही आधारगत ज्ञान होता है क्योंकि यही सत्य का धरातल होता है। धर्म की परिभाषा करते हुए धर्म को भी स्वभाव कहा गया है कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। जिस वस्तु का जो स्वभाव होता है, उसे ही उस वस्तु का धर्म माना जाये। किसी एक वस्तु में रहे हुए उसके विभिन्न स्वभावों की यानी कि धर्मों की यथावत् पहचान करना—यह अनेकान्त सिद्धान्त की विशेषता है। अपेक्षा भेद से परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों का भी एक ही वस्तु में सामंजस्य होता है। जैसे अस्तित्व और नास्तित्व। ये दोनों धर्म यों तो परस्पर विरुद्ध हैं परन्तु अपेक्षा भेद से इन दोनों का एक ही वस्तु में अस्तित्व सिद्ध होता है। उसमें निजत्व की दृष्टि से अस्तित्व गुण है तो उसी में परत्व की दृष्टि से नास्तित्व का गुण भी विद्यमान है।

वस्तु स्वरूप के 'स्व' की पहचान करने के लिये चतुष्टय का उल्लेख है। इस चतुष्टय के इस प्रकार चार भेद हैं—

(1) द्रव्य— गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं जैसे जड़ता आदि घट के गुणों के समूह रूप से घट नामक द्रव्य है। परन्तु चैतन्य आदि आत्मा के गुणों के समूह रूप से घट नहीं है। इस प्रकार घट स्व द्रव्य की अपेक्षा से अस्ति धर्म वाला है और पर द्रव्य (आत्म-द्रव्य) की अपेक्षा से नास्ति धर्म वाला है।

(2) क्षेत्र— निश्चय से द्रव्य के प्रदेशों को क्षेत्र कहते हैं। जैसे घट के प्रदेश घट का क्षेत्र है। इसी प्रकार आत्मा के प्रदेश आत्मा का क्षेत्र है। घट अपने प्रदेशों में रहता है इसलिये वह स्व क्षेत्र की अपेक्षा से सत् तथा आत्म-प्रदेशों में न रहने से आत्मा के क्षेत्र की अपेक्षा से असत् है। व्यवहार में वस्तु के आधारभूत आकाश प्रदेशों को जिन्हें वह अवगाहती है, क्षेत्र कहते हैं। जैसे व्यवहार दृष्टि से

क्षेत्र की अपेक्षा से घट अपने क्षेत्र में रहता है। पर क्षेत्र की अपेक्षा से वह आत्मा के क्षेत्र में नहीं रहता है।

(3) काल— वस्तु के परिणमन को काल कहते हैं। जैसे घट स्वकाल से वसन्त ऋतु (निर्माण से) का है और शिशिर ऋतु का नहीं है।

(4) भाव— वस्तु के गुण या स्वभाव को भाव कहते हैं। जैसे घट स्वभाव की अपेक्षा से जल धारण स्वभाव वाला है, किन्तु पट (वस्त्र) की तरह आवरण स्वभाव वाला नहीं है अथवा घटत्व की अपेक्षा से सद् रूप है और पटत्व की अपेक्षा से असद्-रूप है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु स्व चतुष्टय की अपेक्षा से सद् रूप तथा पर-चतुष्टय की अपेक्षा से असद् रूप है। किसी भी वस्तु के सद् रूप की पहचान के साथ उसके असद् रूप का अनुमान भी इस कारण आवश्यक है कि नास्ति रूप की जानकारी से उस वस्तु का अस्ति रूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस चतुष्टय में द्रव्य और भाव लाक्षणिक होने से विशेष महत्वपूर्ण है। द्रव्य और भाव की अपेक्षाओं से चेतन स्वरूप को समझ लें, सद् रूप में तथा जड़ के नास्तित्व की अपेक्षा से असद् रूप में भी उसे समझ लें तो चेतन का स्वभाव विशेष रूप से स्पष्ट हो जायेगा। यदि कोई अचित्त पत्थर के कोयलों को जान ले और उन कोयलों में ही निकलने वाले हीरे को जान ले तो कोयला क्या है और हीरा क्या है—यह उनके सद् एवं असद् रूपों से स्पष्ट हो जायेगा। कोयले और हीरे के दृष्टान्त से इस शरीर पिंड को जानिये और इसमें रहने वाले चेतन-तत्त्व को भी जानिये। शरीर में किसकी प्रधानता है? चैतन्य रूपी आत्मा में कौन-सी प्रधानता है? इसका विश्लेषणात्मक विज्ञान कौन करेगा? क्या शरीर? नहीं, इसका विज्ञान चैतन्य स्वरूपी आत्मा ही कर सकती है। यह ज्ञान का स्वभाव उसी का है। विज्ञान की दृष्टि से विशेष ज्ञान की उपलब्धि को प्राप्त करना—आत्मा का असाधारण गुण है। यह गुण आत्मा से जुड़ा हुआ है। इसे इस आत्मा से विलग नहीं किया जा सकता है। अगर यह गुण, गुणी से अलग किया जा सकता हो तो गुण, गुण नहीं रहेगा और गुणी भी गुणी नहीं रहेगा। ऐसा त्रिकाल में भी नहीं हो सकता है क्योंकि इनको मिलाकर ही तो वस्तु और वस्तु का स्वरूप बनता है।

किसी भी वैज्ञानिक में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह ऐसा पृथक्त्व कर दिखाए। योगी और साधक भी ऐसा नहीं कर सकता है। न ही ऐसी क्षमता किसी भी प्रकार की प्रक्रिया में रही हुई है। यह पटिया (लकड़ी का) निर्जीव है—इसे

ज्ञान रूप त्रिकाल में भी नहीं कहा जा सकता है। जड़ वस्तु का ज्ञान रूप स्वभाव नहीं होता है। चैतन्य रूप से जड़ का स्वभाव असाधारण नहीं होता है। आज का मानव इस स्वरूप को पहचान नहीं पा रहा है—उसके मन में उलटे-सुलटे विचारों की प्रक्रिया चलती रहती है। वस्तु स्वभाव को उसके सही परिप्रेक्ष्य में यदि वह समझने का प्रयास करे तो वह सत्य के निकट भी पहुंच सकता है और शान्ति के निकट भी पहुंच सकता है।

### भाव और द्रव्य की पहचान मन के संदर्भ से

आप यह जान चुके हैं कि द्रव्य वह गुणी है, जिसके आश्रय से गुण रहता है। इस प्रकार द्रव्य वह है, जिसमें गुण और पर्याय हो। गुण भी आप समझ चुके हैं कि जो द्रव्य के आश्रित रहता है। गुण सदैव द्रव्य के अन्दर ही रहता है—उसका स्वतंत्र कोई स्थान नहीं है। इनके साथ ही पर्याय की विद्यमानता होती है। द्रव्य और गुणों में रहने वाली अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। जैसे सोने के हार को तुड़वा कर कड़े बनवाये गये। सोना द्रव्य इन दोनों अवस्थाओं में कायम रहा किन्तु उसका रूप बदल गया। रूप को ही पर्याय कह दीजिये। पर्याय, गुण और द्रव्य दोनों में रहती है। इस जानकारी के साथ मन के संदर्भ से द्रव्य और भाव की पहचान करें और जानें कि द्रव्य मन और भाव मन का क्या स्वरूप होता है तथा क्या द्रव्य और भाव मन एक दूसरे के बिना प्रवृत्ति करते हैं?

प्रज्ञापना सूत्र में द्रव्य मन और भाव मन की परिभाषाएँ इस प्रकार दी गई हैं कि मन योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके आत्मा जो उन्हें मन रूप में परिणत करती है वही द्रव्य मन है। द्रव्य मन के आधार से आत्मा का जो मनन-व्यापार होता है, वह भाव मन कहा जाता है। मनःपर्याप्ति नाम कर्म के उदय से यह आत्मा मन योग्य द्रव्य ग्रहण कर उसे मन रूप से परिणत करती है। मन रूप से परिणत इन द्रव्यों को ही द्रव्य मन कहा जाता है। मन परिणाम क्रिया वाली अर्थात् मनन रूप मानसिक व्यापार वाली आत्मा ही भाव मन है। आशय यह है कि द्रव्य मन के आधार से होने वाला आत्मा का मनन व्यापार ही भाव मन कहा जाता है। भावमन के होने पर द्रव्य मन अवश्य होता है किन्तु द्रव्य मन के होने पर भाव मन होता भी है और नहीं भी होता है। द्रव्य मन के नहीं होने पर भाव मन नहीं होता लेकिन भाव मन के नहीं होने पर भी द्रव्य मन हो सकता है जैसे भवस्थ केवली। द्रव्य चित्त बिना भाव चित्त नहीं होता जैसे असंज्ञी जीव, किन्तु भाव चित्त बिना भी द्रव्य चित्त होता है जैसे जिन-देव।

भाव मन का अर्थ चैतन्य भी किया जाता है और इस अपेक्षा से भाव मन द्रव्य मन रहित असंज्ञी जीवों के भी होता है। नोइन्द्रिय का अर्थ मन होता है। यद्यपि वहां मनःपर्याप्ति नहीं है और इस कारण द्रव्य मन नहीं है तो भी चैतन्य रूप भाव मन सदा रहता है और उपयोग वाले जीवों की उत्पत्ति होती है अतः नोइन्द्रिय उपयोग वाले उत्पन्न होते हैं ऐसा कहा जाता है।

आज के मानव को मन के स्वरूप को भली-भांति जान लेना चाहिये लेकिन वह इस स्वरूप को यथार्थ अर्थ में तभी जान सकेगा, जब वह बाहरी दृश्यों के प्रति अपने लगाव को घटा लेगा। कारण, भाव मन को द्रव्य मन के अधीन नहीं बनने देना है। भाव मन अर्थात् आत्मा आदेश देने वाली होनी चाहिये कि हे मन! तू मेरा स्वामी नहीं बल्कि सेवक है अतः जैसी मैं तुम्हें आज्ञा दूं, वैसा करो। ऐसी जागृति यदि इस शरीर पिंड में रहने वाले चैतन्य देव में आ जाये तो द्रव्य मन तथा भाव मन की विवेचना भी सुगम बन जाये।

वस्तु स्वरूप का ज्ञान करने के संदर्भ में यह भी जान लेना चाहिये कि उस चतुष्टय-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में कौन किससे सूक्ष्म है? समय रूप काल सूक्ष्म माना गया है। काल की अपेक्षा से क्षेत्र अधिक सूक्ष्म है। क्षेत्र की अपेक्षा द्रव्य और भी अधिक सूक्ष्म है क्योंकि एक आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु आदि पुद्गल रहे हुए हैं। द्रव्य की अपेक्षा भाव अर्थात् पर्याय सूक्ष्म है क्योंकि एक परमाणु की अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। इस प्रकार काल, क्षेत्र, द्रव्य और भाव (पर्याय) क्रमशः सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं। इसलिये वस्तु स्वरूप का जब भाव मन के साथ सम्पूर्ण ज्ञान किया जायेगा तो आत्म-तत्त्व के प्रति भी आकर्षण बढ़ेगा और जड़त्व वाली बुद्धि मन्दतर होगी।

### द्रव्य के लक्षण तथा छः भेद

द्रव्य की परिभाषा ऊपर बता दी गई है कि जो गुण और पर्यायों का आधार हो वह द्रव्य। इस परिभाषा को यों भी कह सकते हैं कि जो उत्तरोत्तर पर्यायों को प्राप्त हो, उसे द्रव्य कहते हैं। इस रूप से द्रव्य के सात लक्षण कहे गये हैं—

1. द्रव्य उसे कहते हैं जो नवीन पर्याय को प्राप्त करता है तथा प्राचीन पर्याय को छोड़ता है। जैसे मनुष्य गति से देवलोक में गया हुआ जीव मनुष्य रूप पर्याय को छोड़ता है तथा देव रूप पर्याय को प्राप्त करता है। इस कारण जीव एक द्रव्य है।

2. द्रव्य वह जो पर्यायों द्वारा प्राप्त किया जाता है और छोड़ा जाता है। जीव रूप द्रव्य मनुष्य रूप पर्याय द्वारा छोड़ा गया है तथा देव पर्याय द्वारा प्राप्त



किया गया है। दो वस्तुओं के मिलने या अलग होने पर दोनों के लिये मिलने या छोड़ने का व्यवहार किया जा सकता है। जैसे सूरजमल और चांदमल के आपस में मिलने पर यह कहा जा सकता है कि सूरजमल चांदमल से मिला और यह भी कहा जा सकता है कि चांदमल सूरजमल से मिला। अलग होने पर भी इसी प्रकार दोनों रूप में कहा जा सकता है। यही कथन पर्यायों के प्राप्त होने व छोड़ने पर है। पहली विवक्षा के अनुसार पहला लक्षण कहा गया है तथा दूसरी विवक्षा के अनुसार यह दूसरा लक्षण है।

3. द्रव्य उसे भी कहते हैं जो सत्ता का अवयव हो अर्थात् जितने पदार्थ हैं वे सभी सत् यानी विद्यमान हैं सो सभी सत्ता वाले हैं। द्रव्य गुण पर्याय आदि भिन्न-भिन्न विवक्षाओं से वे सभी सत् के भेद या अवयव हैं।

4. द्रव्य वह भी कहा जाता है जो सत्ता का विकार हो क्योंकि सभी घट-पटादि-द्रव्य महा सामान्यात्मक सत् के विकार हैं। जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों को यद्यपि किसी का विकार नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वे नित्य हैं, फिर भी पर्याय और द्रव्य की एकरूपता होने से द्रव्य भी पर्याय रूप है। उस दशा में द्रव्य विकार रूप हो सकता है।

5. द्रव्य रूप रस आदि या ज्ञान दर्शन आदि गुणों का समूह भी है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने अन्दर रहे हुए गुणों का समूह है।

6. द्रव्य वह भी है जो भविष्यत् पर्याय के योग्य होता है अर्थात् उसे प्राप्त करता है।

7. द्रव्य वह भी होता है जिसमें भूत पर्याय की योग्यता हो। भविष्य में राजा की पर्याय प्राप्त करने के योग्य राजकुमार को भावी राजा कहा जाता है, उसे द्रव्य राजा भी कह सकते हैं। इसी तरह पहले जिस घड़े में घी रखा था, अब घी निकाल लेने पर भी घी का घड़ा कहा जाता है क्योंकि उसमें पूर्व पर्याय की योग्यता है। इस तरह भूत या भावी पर्याय के जो योग्य होता है, उसे द्रव्य कहते हैं।

इन लक्षणों वाले द्रव्य के छः भेद बताये गये हैं। षट् द्रव्य के रूप में जो इस प्रकार हैं—

1. धर्मद्रव्य— यह द्रव्य पुद्गल और जीवों की गति में सहायक होता है। इसके चार गुण हैं— अरूपिता, अचेतनता, अक्रियता एवं गति-सहायता। इसकी पर्यायें भी चार हैं— स्कंध, देश, प्रदेश एवं अंगुरुलघु।

2. **अधर्मद्रव्य**— यह जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक होता है। इसके चार गुण—अरूपित, अचेतनता, अक्रियता तथा स्थिति सहायता। चार पर्यायों वे ही हैं—स्कंध, देश, प्रदेश एवं अगुरुलघु।

3. **आकाशद्रव्य**— यह जीव और पुद्गलों को स्थान देने वाला द्रव्य है। चार गुण—अरूपिता, अचेतनता, अक्रियता और अवगाहनादान (सब द्रव्यों को जगह देना)। चारों पर्यायों वे ही हैं—स्कंध, देश, प्रदेश एवं अगुरुलघु।

4. **कालद्रव्य**— यह द्रव्य जीव और पुद्गलों में अपरापर पर्याय की प्राप्ति रूप परिणामन करता रहता है। चार गुण—अरूपिता, अचेतनता, अक्रियता और वर्तना (नये को पुराना करना)। चार पर्यायों—अतीत (भूत), अनागत (भविष्य), वर्तमान, अगुरुलघु।

5. **जीवद्रव्य**— इस द्रव्य में ज्ञान दर्शन रूप उपयोग होता है। चार गुण—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र तथा अनन्त वीर्य। चार पर्यायों—अत्याबाध, अनवगाह, अमूर्तिकता तथा अगुरुलघु।

6. **पुद्गल द्रव्य**— यह द्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श से युक्त होता है। चार गुण—रूपिता, अचेतनता, सक्रियता और मिलन-बिखरन (मिलना अलग होना या पूरन-गलन यानी पूर्ति करना और गल जाना)। पांच पर्यायों—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और अगुरुलघु।

इन छहों द्रव्यों के गुण और पर्यायों में परस्पर समानता भी है और भिन्नता भी है। अगुरुलघु पर्याय सभी में समान है। अरूपिता गुण पुद्गल द्रव्य को छोड़ बाकी पांचों में है। अचेतनता गुण जीव द्रव्य को छोड़ बाकी पांचों में है। सक्रियता गुण जीव और पुद्गल में ही है। गति, स्थिति, अवगाहना, वर्तना तथा मिलन बिखरन गुण एक-एक द्रव्य में ही है, औरों में नहीं। ज्ञान आदि चारों गुण केवल जीव द्रव्य में है।

प्रत्येक द्रव्य में आठ पक्ष—नित्य, अनित्य, एक, अनेक, सत्, असत्, वक्तव्य तथा अवक्तव्य बताये जाते हैं तथा इन पक्षों की अपेक्षा से भी आठों द्रव्य परस्पर तुलनीय हैं। इन द्रव्यों में चौभंगी से भी विचार किया गया है। किन्तु सामान्य गुण सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से रहते हैं। ये छः हैं—

1. अस्तित्व—सदा सत्-विद्यमान रहना। इसी गुण से द्रव्य में सद्वृत्ता का व्यवहार होता है। 2. वस्तुत्व—द्रव्य का सामान्य विशेषात्मक स्वरूप। जैसे सुवर्ण घट में घटत्व सामान्य तथा सुवर्णत्व विशेष गुण। द्रव्य में अर्थ क्रिया का होना भी

वस्तुत्व गुण है। 3. द्रव्यत्व—इसका अर्थ है गुण और पर्यायों का आधार होना। 4. प्रमेयत्व—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय होना प्रमेयत्व गुण है। 5. अगुरुलघुत्व—द्रव्य का गुरु यानी भारी तथा लघु यानी हलका न होना उसका अगुरुलघुत्व गुण है। यह गुण सूक्ष्म है और केवल अनुभव का विषय है। 6. प्रदेशत्व—वस्तु के निरंश अंश को प्रदेश कहते हैं और द्रव्यों का प्रदेश सहित होना प्रदेशत्व गुण है। प्रदेशत्व गुण के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है।

### भाव का स्वरूप और उसके छः भेद

कर्मों के उदय, क्षय, क्षयोपशम या उपशम से होने वाले आत्मा के परिणामों को भाव कहते हैं। आत्मा स्वयं द्रव्य है और भाव उसका गुण है। विशिष्ट हेतुओं से अथवा स्वभाव से आत्मा के परिणामों का भिन्न-भिन्न रूप से होना भाव है और उपशम आदि पर्यायों से जो होते हैं, वे भी भाव ही कहलाते हैं। इस प्रकार के भावों के छः भेद कहे गये हैं—

1. औपशमिक भाव—जो उपशम से होता है, वह औपशमिक भाव कहलाता है। प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार से कर्मों का रुक जाना उपशम है। यह भाव दो प्रकार का होता है—सम्यक्त्व और चारित्र। ये भाव दर्शन और चारित्र मोहनीय के उपशम से होने वाले हैं।

2. क्षायिक भाव—जो कर्म के सर्वथा क्षय होने पर प्रकट होता है, वह क्षायिक भाव है। यह भाव नौ प्रकार का होता है—केवलज्ञान, केवलदर्शन, दानलब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि, वीर्य लब्धि, सम्यक्त्व तथा चारित्र। चार घाती कर्मों के क्षय होने पर ये नौ भाव प्रकट होते हैं।

3. क्षायोपशमिक भाव—उदय में आये हुए कर्म का क्षय और अनुदीर्ण अंश के विपाक की अपेक्षा से उपशम होना क्षायोपशमिक भाव कहलाता है। क्षयोपशम में प्रदेश की अपेक्षा कर्म का उदय रहता है। इसके अठारह भेद हैं—चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य की पांच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और चारित्र।

4. औद्दयिक भाव—यथायोग्य समय पर उदय प्राप्त आठ कर्मों का अपने-अपने स्वरूप से फल भोगना औद्दयिक भाव है। यह भाव उदय से होता है। इसके इक्कीस भेद हैं—चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, छः लेश्या, अज्ञान, मिथ्यात्व, असिद्धत्व और असंयम।

5. **पारिणामिक भाव**— कर्मों के उदय, उपशम आदि से निरपेक्ष जो भाव जीव को केवल स्वभाव से ही होता है, वह पारिणामिक भाव है। स्वभाव से ही स्वरूप में यह भाव परिणत होता रहता है। अवस्थित वस्तु का पूर्व अवस्था का त्याग किये बिना उत्तरावस्था में चले जाना परिणाम है और उससे होने वाला भाव पारिणामिक कहलाता है। इसके तीन भेद हैं— जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व।

6. **सान्निपातिक भाव**— सान्निपातिक का अर्थ होता है संयोग। पूर्व के पांच भावों में से दो, तीन, चार या पांच के संयोग से होने वाला यह भाव होता है। ये द्विक, त्रिक, चतुः या पंच संयोग कहलाते हैं। इस भाव के कुल मिलाकर छब्बीस भंग होते हैं।

इस दार्शनिक विषय को समझने में प्रारंभ में कठिनाई हो सकती है लेकिन मन जब भावों की गहराई में उतरने लगेगा तो इस आध्यात्मिक विषय का ज्ञान सरलतापूर्वक हो सकेगा। इसके कठिन लगने का यही कारण है कि आत्म-द्रव्य की अपेक्षा पुद्गल-द्रव्य के प्रति मन में ज्यादा आकर्षण समाया हुआ होता है। वस्तु स्वरूप को एक जिज्ञासु मानव जानना चाहता है लेकिन उसे वह भौतिकता के परिवेश में खोजता है। उसी प्रकार जैसे कई बुद्धिवादी राष्ट्रभाषा को छोड़कर विदेशी भाषाओं में साहित्य की अधिक खोज करते हैं। इसलिये दृष्टिकोण को बदलने की जरूरत है। वस्तु स्वरूप का यथार्थ परिचय दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक स्रोतों से ही पाया जा सकेगा। इस विषय में भौतिकशास्त्री तो अभी क, ख, ग भी नहीं जानते हैं।

### स्वभाव छोड़कर विभाव में भटकाव

अध्यात्म शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त ही यह है कि आत्मा को अपने स्वभाव में आना और रहना चाहिये और विभाव या परभाव में नहीं भटकना चाहिये। स्वभाव और परभाव को भाषा के संदर्भ में समझिये। एक तो स्वभाषा है अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी और परभाषा है—अंग्रेजी भाषा। आज का हमारे देश का नागरिक भाषा के प्रति अपना कैसा व्यवहार जता रहा है? वह अधिकांशतः अपनी मातृभाषा अथवा राष्ट्रभाषा की तो उपेक्षा करता है लेकिन परभाषा में बोल-चाल कर झूठे गर्व से इठलाता है। जबकि मातृभाषा या राष्ट्रभाषा के माध्यम से अपनी परिचित वस्तुओं का स्वरूप या कि परम्परागत विद्याओं का ज्ञान सरलतापूर्वक हो सकता है। हमारे देश का ऊँचा और भद्र कहलाने वाला नागरिक विदेशी भाषा को अपनाने के लिये लालायित रहता है तथा परभाषा के माध्यम से ही उन सभी वस्तु स्वरूपों तथा विद्याओं को जानना चाहता है। ऐसा

करते हुए उसका विचार यह रहता है कि वह उच्च वर्ग में कार्य करता हुआ गिना जायेगा तथा उससे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

जिस रूप में भाषा के प्रति आज के मानव का झूठा और धोखे भरा खयाल है, वैसा ही आत्म-प्रवंचक भाव उसके अपने स्वभाव के प्रति भी है। वह परभाव को ही स्वभाव मानकर चल रहा है। सामान्य रूप से अधिकतर लोगों के मन में यही विचार समा रहा है कि बस पैसा कमाना है—उसे ही जीवन का लक्ष्य मान रखा है। इस लालसा के पीछे वह कठिन से कठिन कामों में जुटता है और तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करता है। इतना करने पर भी कोई गारंटी नहीं कि उसकी लालसा न्यूनतम अंश में भी पूरी हो। इसके विपरीत स्वभाव में रमण करने की प्रवृत्ति ऐसी फलदायक होती है कि जितना भी उस क्षेत्र में पुरुषार्थ किया जायेगा, वह कभी भी विफल नहीं होगा। फिर भी परभाव में भटकने का आज के मानव को जैसे मानसिक रोग-सा लग गया है और इसी कारण वह परावलम्बी बना हुआ है।

आप भी चन्द्र पलों के लिये अपने स्वभाव में पहुँच कर सोचिये कि आज लोगों को सबसे बड़ा आकर्षण किस चीज का लग रहा है? शायद आप अपने मन की बात बतावें या नहीं बतावें, पर आज दुनिया का स्वर्ण के प्रति भारी आकर्षण बना हुआ है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की परिस्थितियों के अनुसार मन स्वर्ण के लालच में लिप्त हो रहा है। इस लालच के पीछे रात-दिन कैसी-कैसी घटनाएँ घटित होती हैं—उन्हें आप बखूबी जानते हैं। यहां धर्मस्थानक में भी जब कई बहिर्ने पहुँचती हैं तो उनका ध्यान इस ओर ज्यादा लगा हुआ रहता है कि कौन सोने के गहने से सबसे अधिक लदी हुई है? लगता ऐसा है कि उनका लगाव धर्म से भी अधिक सोने के प्रति है। उन्हें जानना चाहिये कि धर्मस्थानक में सोने का दिखावा करने की क्या जरूरत है और सोने के कारण यहां भी कोई घटना घटित हो जाये तो कैसा बुरा लगेगा?

सोने के गहने पहन कर दूसरों के सामने प्रदर्शन करने का जो यह भाव है, वह कितना मोहाविष्ट है? यह मोह सोने के प्रति भी प्रकट होता है तो अपनी नश्वर देह के प्रति भी। यह भाव पूरी तरह से परभाव है, स्वभाव नहीं। परभाव में इस तरह भटकते हुए रह कर भी विचार नहीं होता—क्या यह खेद का विषय नहीं है? ये सब बाहरी प्रक्रियाएँ हो रही हैं और इनसे संघर्ष बढ़ रहा है, फिर भी सावधानी नहीं आ रही है—यह कैसी बात है? समाज में इससे हिंसा बढ़ रही है, क्रूर अपराध हो रहे हैं तथा जिन्दगी खतरे में पड़ी हुई है—फिर भी सोने के प्रति आकर्षण कम क्यों नहीं हो रहा है? यह परभाव या विभाव में भटकाव ही तो है।

## सोना बड़ा या सोने को निकालने वाला बड़ा ?

सोने के प्रति यह लालसा, तृष्णा और मूर्च्छा इस कारण है कि भौतिकता और आध्यात्मिकता का भेद-विज्ञान भली प्रकार नहीं समझा जा रहा है। इतना ही सोचिये कि सोना बड़ा है अथवा उस सोने को निकालने वाला बड़ा है? सोना निकालने वाला कौन होता है? मनुष्य ही न? सोना जीवित मनुष्य निकालता है या कि मरा हुआ? जीवित ही निकालता है। तो सोना निकालने वाली कौन-सी शक्ति है? वह आत्म-शक्ति ही तो है। आत्मशक्ति बड़ी है फिर उसके सामने सोने को बड़ा क्यों मान रखा है? धर्मस्थानक में सोने के जेवर पहन कर क्यों आना होता है? यहां तो आत्म-शक्ति के विषय में सुनने के लिये आना होता है और जब मन सोने की लालसा से लिप्त हो तो आत्म-विकास की बात कहां तक सुनी जाती है—आप ही जानें। हाँ, कोई यह एलान कर दे कि अभी व्याख्यान में सोना बनाने की विधि बतायी जायेगी तो शायद उसमें उपस्थिति भी बहुत होगी और सब का ध्यान भी एकदम से केन्द्रित रहेगा। यहां तो सोने से भी बड़ा सोना निकालने व बनाने की विधि बतायी जाती है जिसकी ओर आपका ध्यान नहीं लगता है। इस परभाव के घेरे से बाहर निकलिये और भेद-विज्ञान को समझिये।

जो जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य के भेद-विज्ञान को नहीं समझता है तथा भाव का मूल्यांकन नहीं कर पाता है, वह बाहर से धार्मिक होने का कितना ही आडम्बर कर ले लेकिन हकीकत में उसका मन परभाव में उलझा हुआ ही रहता है। एक बार स्वर्गीय आचार्य गुरुदेव एक करोड़पति गृहस्थ के यहां गोचरी गये। सेठ-सेठानी ने प्रफुल्ल भाव से गोचरी बहरायी और गुरुदेव ने विधिपूर्वक उसे ग्रहण किया। चलते-चलते उन्होंने सेठानी से भी व्याख्यान का लाभ लेने की बात कही। सेठानी ने कहा—वह तो व्याख्यान में आने को बहुत उत्सुक रहती है पर सेठ जी ही आने नहीं देते हैं। गुरुदेव ने सेठ की ओर देखा। सेठ जी ने सेठानी की ओर देखा तब सेठानी ही बोली—महाराज, मेरी सोने की चूड़ियाँ टूट गई हैं जिन्हें सेठ जी ठीक नहीं कराते तो मैं व्याख्यान में कैसे आऊं? कैसा विचित्र उत्तर था सेठानी का कि व्याख्यान छूट रहे हैं सो कोई बात नहीं लेकिन सोने की चूड़ियों के बिना धर्मस्थानक में कैसे जावे?

इस स्वर्णलोलुपता को छोड़िये। इस परभाव ने आज संसार में बड़ा अनर्थ फैला दिया है। अतः स्वभाव में आइये, द्रव्यों के स्वरूप को समझिये तथा भेदविज्ञान से उत्कृष्ट कोटि के भावों का निर्माण कीजिये।

## स्व को पहचानें, द्रव्य व भाव को पहचान लेंगे

द्रव्य की पहचान इसलिये आवश्यक है कि आत्म-द्रव्य के स्वरूप को जानें तथा स्वर्ण (पुद्गल) द्रव्य के स्वरूप की तुलना में निज-स्वरूप का महत्वभरा मूल्यांकन करें। इससे भावों का महत्व और प्रभाव स्पष्ट होगा तथा समझ में आयेगा कि मन जब शुभ भावों से भरा हुआ हो तो वह जड़ मोह में नहीं फंसता, बल्कि चेतनता के प्रकाश में अपने आत्म-विकास का मार्ग खोज लेता है। षट्द्रव्यों एवं नव तत्त्वों के आन्तरिक ज्ञान के साथ वह भाव विशुद्धि करता हुआ वर्षों या जन्मों के विकास को पलों में भी साध सकता है।

दिनांक 03.10.86

(जलगांव)

## 8

## तीक्ष्णी आंख प्राप्त करें

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

मानव जीवन की अनिर्वचनीय छटा एवं मानवीय तन का एक भव्य दृश्य इस सृष्टि के बीच में देखा जा सकता है। इस मानव जीवन में विशेषताएँ हैं और जो शक्तियाँ हैं, वे अन्य किसी जीवन में उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा अनमोल जीवन जिन आत्माओं को मिला है, उन्हें अपने आप के स्वरूप को तथा इस जीवन के मूल्य को पहचानने की आवश्यकता है।

यदि मानव की दृष्टि स्वयं को पहले जान लेने की दिशा में मुड़ जाये तो वह भीतर के अलौकिक सौन्दर्य को देखकर परमानन्द का अनुभव कर सकती है। आन्तरिकता की सुखकर अनुभूति के साथ वह वर्तमान जीवन में ही स्वर्गोपम जीवन का आनन्द ले सकती है। स्वर्गोपम जीवन की आप क्या विशेषताएँ मानते हैं? आप की यही विचारणा होगी कि देवों का जीवन भौतिक सुख समृद्धि से पूर्णतया सम्पन्न है। स्वर्ग में मनोज्ञ पदार्थों का सुख ही सुख है। जब आप इस प्रकार का विचार करते हैं तो समझना चाहिये कि वह वीतराग देवों के उपदेश के अनुरूप नहीं है, क्योंकि केवल भौतिक सुखों की वांछा करना आत्म-विकास के लिये श्रेयकारी नहीं होता है। इसी कारण मानव जीवन को स्वर्गोपम ही नहीं, स्वर्ग से भी बढ़कर बताया गया है। स्वर्ग से भी बढ़कर इस मानव जीवन का जो महत्त्व है, वह है इसका आध्यात्मिक महत्त्व। देव योनि में सभी प्रकार की सुख सामग्री सुलभ होते हुए भी आन्तरिक जागरण की मानव जीवन जैसी अवस्था उपलब्ध नहीं होती है। मानव जीवन में अपनी आत्मा का जो उच्चतम विकास साध सकने की योग्यता और क्षमता रही हुई है, उसका स्वर्ग में अभाव है। इसलिये कहा जाता है कि मानव जीवन की प्राप्ति परम दुर्लभ है और देवता भी इस जीवन को प्राप्त करने के लिये लालायित रहते हैं।



मानव जीवन की इस अनिर्वचनीय विशेषता को मानव स्वयं भी तभी समझ सकता है, जब वह अन्तर्दृष्टि को जगावे यानी कि तीसरी आंख प्राप्त करे। ये बाहर के दोनों चर्म चक्षु केवल बाहर के दृश्यों को वह भी सीमित रूप में देखने में ही समर्थ हैं। वे भीतर के दृश्यों को देख नहीं पाते हैं। इस कारण बाहर की दोनों आंखों से कम काम लेकर भीतर की तीसरी आंख को सर्वाधिक सक्रिय बना लेना चाहिये।

### तीसरी आंख से दिखेगा भीतर का दृश्य

यह मानव निजात्मा के भव्य स्वरूप को तब तक नहीं देख पायेगा जब तक उसकी बाहर की दोनों आंखें बाहर के दृश्य देखती रहेंगी तथा उन्हीं दृश्यों में चेतना शक्ति को व्यामोहित बनाये हुए रखेंगी। मानव जब तक स्वयं की आन्तरिकता को नहीं देख पाता है, तब तक उसे बाहरी दृश्यों में ही सुख का आभास होता है तथा वह स्वर्गीय सुखों की कामना करता रहता है। इसलिये प्रार्थना की कड़ियों में कवि ने संकेत दिया है कि यदि तुम स्वर्गीय सुखों का आनन्द इसी जीवन में उठाना चाहते हो तो अपने घर-परिवार को पहले स्वर्ग बनाओ, समाज और राष्ट्र को समता भावना की प्रेरणा दो तथा विश्व में शान्ति का सन्देश प्रसारित करो। इससे सर्वत्र वैसे वातावरण की रचना हो सकेगी जिसमें भौतिक आवश्यकताओं की भी सम्यक् पूर्ति हो सके तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जीवन की समुचित प्रगति सम्पादित की जा सके।

स्वर्ग की सुख सामग्री से भी अनन्त गुना सुख की अनुभूति स्वयं के भीतरी स्वरूप को जान लेने में रही हुई है। तीसरी आंख अर्थात् ज्ञान चक्षु से जब भीतर का दृश्य दिखाई देता है और वहां पर रही हुई विशेषताओं एवं शक्तियों का भान होता है, तभी समझ में आता है कि उस सुखानुभूति के समक्ष स्वर्ग की सारी सुख सामग्री तुच्छ और नगण्य है। तीसरी आंख की वह ज्ञान दृष्टि अन्तर्दृष्टि बनकर अद्भुत आनन्द एवं शाश्वत शान्ति का अनुभव देती है। उस आनन्द की भौतिक सुखों के साथ कोई तुलना नहीं होती। तो जो आनन्द अनुपम है और शाश्वत है, उसी को प्राप्त करने के लिये इस मानव जीवन का श्रेष्ठ उपयोग किया जाना चाहिये।

खेद का विषय यही है कि मानव अपने इस अमूल्य जीवन में दूसरों को देखता है, उनके गुण-दोषों की आलोचना करता है। बाहर के दृश्यों में चित्त को लगाता है तथा भौतिक पदार्थों को ही प्राप्त करने में अपने सम्पूर्ण श्रम एवं सामर्थ्य का अपव्यय करता है। किन्तु केवल स्वयं को ही नहीं देखता है और

अपने विकारों की ही आलोचना नहीं करता है। कारण, वह अपने को तो सर्वथा योग्य और सक्षम मानता है जबकि अपनी विफलताओं का दायित्व भी दूसरों के सिर पर मढ़ कर स्वयं निश्चित हो जाता है।

सोचें कि कोई आदमी जब बाजार में निकलता है तो क्या वह चारों ओर सभी को एक साथ देख सकता है? जितना जो कुछ वह देख सकता है, उसमें भी उसकी दृष्टि मिश्रित रहती है। जिनके साथ उसका राग भरा या द्वेष भरा सम्बन्ध होता है, उन पर उस-उस भाव के साथ उसकी पहले दृष्टि पड़ती है और उसका अन्तःकरण तदनुसार राग और द्वेष के भावों से आन्दोलित बनता है। लेकिन जिन लोगों के साथ उसका इस तरह का कोई सम्बन्ध नहीं होता, उन्हें उसकी दृष्टि उपेक्षित कर देती है। इसका कारण यह माना जायेगा कि उसकी दृष्टि विशुद्ध नहीं है बल्कि विकारयुक्त है। तभी तो वह विकारों के कोणों से ही किसी को भी देखने की कोशिश करती है।

ऐसी विकारपूर्ण कलाबाजी इन बाहर की दोनों आंखों की होती है जो मोह, क्रोध आदि कई तरह के विकारों को बढ़ावा देती है और मानसिकता को बाहर ही बाहर उलझाए हुए रखती है। राग और द्वेष से भरी-पूरी रहकर ये दोनों बाहर की आंखें मनुष्य को आत्म-विस्मृत बनाये रखती हैं जिसके कारण वह स्वयं को न देख-समझ पाता है और न स्वयं को विकास के पथ पर क्रियाशील बना सकता है। अतः तीसरी आंख को प्राप्त करके उसी की सहायता से भीतर के दृश्य देखे जा सकते हैं।

### तीसरी आंख होगी मानवता और समता की

वीतराग देव का कथन है कि तुमने इन बाहर की दो आंखों से बहुत देखा है, अब इन दो आंखों के बदले तुम तीसरी आंख प्राप्त करो। यह तीसरी आंख होगी मानवता और समता की, जो स्वयं को भीतर से देखेगी, मानवता का मूल्यांकन करेगी तथा समतामय साधना को सम्बल प्रदान करेगी। जब पहले अपने आत्म-स्वरूप की आन्तरिकता को देखने का प्रयत्न किया जायेगा तो सबसे पहले स्वयं के संशोधन का ही पुरुषार्थ जागृत होगा। अन्तःकरण की सुधरी हुई दृष्टि से तब दूसरों को और बाहर के दृश्यों को देखने का उपक्रम होगा। वैसा उपक्रम दृष्टि के सारे कोण को बदल देगा। केवल बाहर ही बाहर देख कर जिस कोण से वस्तु स्वरूप जाना जा रहा था, वह कोण पूर्णतः परिवर्तित हो जायेगा कि जब पहले भीतर देखकर फिर बाहर देखा जायेगा।

इस प्रक्रिया में तीसरी आंख का कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन जायेगा। तीसरी आंख जब भीतर अपनी नजर घुमायेगी, तब उसे दिखाई देगी वहां पर काम, क्रोध, राग-द्वेष, मान, लोभ आदि विकारों की लम्बी चौड़ी फौज। उसे देखते ही वह सुषुप्त आत्मा को झिंझोड़कर जगायेगी और उसे तैयार करेगी कि वह अपने विकारों की उस फौज से लड़े व जितनी जल्दी हो सके उन्हें अपने घर से बाहर निकाल फेंके। आत्म-शक्ति तब सक्रिय हो जायेगी और ज्यों-ज्यों विकारों का असर घटता जायेगा, मन, इन्द्रियाँ और शरीर भी उनके दुष्प्रभाव से बाहर निकलने लगेंगे। ऐसे संशोधन और परिमार्जन के बाद जब तीसरी आंख भीतर से बाहर भी देखेगी तब ये बाहर की आंख भी उसी की आज्ञा में चलने लगेगी। यह तीसरी आंख तब सम्पूर्ण जीवन के लिये वास्तविक रूप से पथ-दर्शिका बन जायेगी। तब जीवन की गतिशीलता में उमंग होगी तथा शान्ति भी।

इस उमंग और शान्ति की ऐसी विशेषता तब अनुभव में आएगी कि ज्यों-ज्यों गति बढ़ती है, त्यों-त्यों उमंग और शान्ति घटती नहीं, बल्कि गति के अनुपात से भी अधिक बढ़ती रहती है। इसी कारण मानवता के मूल्यों का मान करने की प्रवृत्तियाँ उभरती हैं तो समता के शीतल स्पर्श से सभी प्राणियों को सुख पहुंचाने की भावना भी बलवती बन जाती है। आत्मीय समानता का दृष्टिकोण सबसे ऊपर उठ जाता है। सभी आत्माएँ एक हैं और एक आत्मा को सभी के सुख के लिये कार्य करना चाहिये—यह लक्ष्य मन में समा जाता है।

इस रूप में यह तीसरी आंख मनुष्य की जीवन शैली को पूर्णतया अहिंसक बना देती है जिससे उसकी अपरिग्रहत्व की वृत्ति सबल बनती है। इस तरह मनुष्य का जो चारित्र्य का निर्माण होता है, वह उसे सूक्ष्म रीति से सत्यानुगामी बना देता है। इन सारे आत्मीय गुणों का सद्भाव आत्मा को परमात्मा की दिशा में तेजी से आगे बढ़ा देता है।

### भीतरी और बाहरी दृश्यों के बीच परदा न रहे

तीसरी आंख की दृष्टि-जागृति का सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि भीतरी और बाहरी दृश्यों के बीच में परदा नहीं रहेगा। जब तक तीसरी आंख नहीं खुलती है, मनुष्य का ध्यान प्रधान रूप से बाहर के दृश्यों में ही लगा रहता है क्योंकि ये बाहर की दोनों आंखें बाहर के दृश्य ही देख पाती हैं, परदे के पीछे के भीतरी दृश्यों तक इन चर्म चक्षुओं की दृष्टि नहीं पहुंचती है। इस बाह्य दृष्टि का ही कुपरिणाम है कि आज मनुष्य सबसे ज्यादा अपने शरीर की सुख-सुविधाओं

तथा साज-सज्जा की ओर ही ध्यान देता है। वह अपने शरीर को ही मल-मल कर साफ सुथरा बनता है, सजाता-संवारता है और दूसरे अबोले प्राणियों की हत्याओं की कीमत पर तरह-तरह के शृंगार प्रसाधनों का उपयोग करता है और फैशन के पीछे पड़ा रहता है। शरीर के बाहर दूर-दूर तक उसकी नजर दौड़ती है कि कैसे वह अधिक से अधिक धन-सम्पत्ति तथा अधिकार, पद व सत्ता का अर्जन करे जिससे वह अधिक से अधिक भौतिक सुखों का अम्बार अपने लिये खड़ा कर सके। इस स्वार्थवादिता में वह नीति भूल जाता है, चरित्र को हिंसक व आतंकमय बना लेता है तथा निरन्तर अपने ही साथियों के न्यायपूर्ण हितों की हत्या करता हुआ चला जाता है।

मनुष्य को उसके इस स्वार्थी, हिंसक तथा समाज विरोधी जीवन से जगाने के लिये उसे परदे के पीछे के भीतरी दृश्यों में उतारना जरूरी है। यह तभी हो सकता है, जब उसकी तीसरी आंख खुले। इसके लिये उसे स्वयं का अवलोकन करने में योग्य बनना होगा, तभी उसका जीवन सर्वहितकारी, मंगलमय और आनन्ददायक बन सकेगा। उसकी दृष्टि इन बाहरी दृश्यों से हटकर परदे के पीछे के भीतरी दृश्यों को देखे, वहां रमण करे और उस अनुभव की प्रमुखता के साथ अपने बाहरी जीवन को ढाले, तभी बाहर में दृश्यमान व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन शैली में अहिंसक परिवर्तन लाया जा सकेगा। ऐसा परिवर्तन लाने की शक्ति मनुष्य के इस तन में रही हुई है, पर आवश्यक यह है कि उसका मन रूपान्तरित हो। मन का रूपान्तरण संभव होगा तीसरी आंख को खोलने से तथा आन्तरिकता को जगा कर पवित्रता का वातावरण सब ओर प्रसारित कर देने से। इससे आत्मा की आन्तरिकता में वह पवित्रता व्याप्त हो जायेगी जिसके सामने भीतरी दृश्य ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो जायेंगे तथा वे ही दृश्य बाहरी दृश्यों को नई रीति से नये-नये सर्वहितकारी रूपों में ढालेंगे।

### अन्तर्दृष्टि के सामर्थ्य को बढ़ावें

भीतरी और बाहरी दृश्यों में सामंजस्य पैदा करने तथा एकरूपता का निर्माण करने के लिये आत्मा की पवित्रता तथा अन्तर्दृष्टि की समर्थता को बढ़ाना होगा तथा ऐसा अभ्यास बनाना होगा कि वह पवित्रता और समर्थता निरन्तर अभिवृद्ध होती रहे। यह कैसे होगा? जैसे शरीर की पुष्टि बढ़ती रहती है उस तरह की पौष्टिक खुराक खाते रहने से, उसी प्रकार आत्म-पवित्रता की पुष्टि भी होती रहेगी उसके अनुरूप आध्यात्मिक खुराक खाते रहने से। यह नहीं है कि आत्मा की पवित्रता की पुष्टि में शरीर की शक्ति का कोई उपयोग

नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिये कि यह मानव-तन इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रमुख साधन है और उसे इस रूप में ढालना चाहिये। इस दृष्टि से शरीर और आत्मा की खुराक एक रूप में बनावें तो वह होगी सादी खुराक—अन्न, जल और विचारों की सरलतामय खुराक। खान-पान उसका सादा हो और विचार सबको सुखमय तथा निरामय बनाने का हो। इतनी खुराक अगर नियमित बना ली जाये तो मनुष्य की तीसरी आंख खुल सकती है तथा उसकी देह व आत्मा दोनों पवित्र बनकर उस पवित्रता का बाहर के सम्पूर्ण वातावरण में प्रेरणामय संचार भी कर सकती है। वैसे जीवन में इस तरह रूपान्तरित हुई अन्तर्दृष्टि का सामर्थ्य निरन्तर बढ़ता ही जायेगा।

सादे अन्न-जल और विचारों की खुराक प्रत्येक मनुष्य और प्राणी सरलतापूर्वक ग्रहण कर सकता है। मनुष्य इन्हीं सादे विचारों को जब अपने अन्तर्मन में चिन्तन की गहरी प्रक्रिया में संशोधित और परिमार्जित बनाता है, तो उसमें से वे कोमल भावनाएं जन्म लेती हैं जो भीतर के दृश्यों में रमण करती हुई स्वयं स्वर्गोपम आनन्द का अनुभव लेती हैं तथा उस अनुभव को अपने साथियों व अन्य प्राणियों में बांटकर उनको भी आनन्दित बनाती हैं। इस प्रक्रिया में यह सावधानी रखी जानी चाहिये कि वे भावनाएँ फिर से बाहर फैले हुए वासनाओं व विकारों के कलुष में लिप्त होकर कलंकित न बन जाये। इसके लिये बाधक तत्त्वों का परिहार करना होगा तथा आध्यात्मिक साधना प्रयोगों द्वारा आत्म-पवित्रता के अनुकूल वातावरण को बनाये रखना होगा। बाहर के अन्न-जल में भी सादगी बनी रहे—यह नहीं कि वह भोजन गरिष्ठ बन कर विकारों को भड़काने वाला हो जाये तथा यह भी नहीं हो कि भीतर के सादे विचार और भाव सबका हित साधना छोड़कर अपने स्वार्थी कुचक्र में फंस जाये। इस हेतु से अपनी जीवन शैली अहिंसा से परिपूर्ण होनी चाहिये, सत्य प्रत्येक अवस्था में सच्चा मार्गदर्शक रहना चाहिये तथा दूसरों को सहयोग देने की प्रवृत्ति सदा सजगतापूर्वक कार्य करनी चाहिये।

अब आप सोचिये कि आप नित्य-प्रति किस तरह की खुराक ग्रहण कर रहे हैं? पहले अपने अन्न-जल की तरफ नजर दौड़ाइये। क्या आपका खान-पान इतना सादा है जिससे सादे विचार उत्पन्न हों? सच्चे हृदय से देखेंगे तो आपको समझ में आ सकेगा कि आज का अधिकांशतः खान-पान सात्त्विक न रह कर तामसिक हो गया है। यह तामसिकता, खेद का विषय है कि कहीं-कहीं तो सामान्य मर्यादाओं की सीमा को भी लांघ कर मदिरा व नशा सेवन तथा सामिष भोजन तक बढ़ रही है और यह एक अतीव ही चिन्तनीय स्थिति है।

क्या अखाद्य है और क्या खाद्य, इस पर आज पूरी गहराई से चिन्तन करने की अनिवार्य आवश्यकता सामने आ गई है ताकि उसके अनुरूप नयी खाद्य प्रणाली का विकास किया जा सके। जब अन्न और जल की आज ऐसी विषम स्थिति है तो विचारों की दशा पर विचार करना ही व्यर्थ होगा क्योंकि कहावत है कि “जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन”। इस कारण बुनियाद को सुधारे बिना उस पर आधारित निर्माण सुधारा नहीं जा सकेगा।

इस दशा में यह सोचने की जरूरत है कि अन्तर्दृष्टि का सामर्थ्य बढ़ाने का लक्ष्य सामने रखने से पहले क्या-क्या तैयारी किस रूप में की जानी चाहिये?

### सुरक्षा करें संस्कारों की और सन्त जीवन की

अब भी हमारी वर्तमान जीवन प्रणाली में जो सुसंस्कार बचे रहे हैं तथा अभी भी जो सक्रिय हैं, उनकी सुरक्षा करने की मानसिकता सुदृढ़ बनायी जाये। इसके साथ ही ऐसी कोशिश और प्रेरणा रखी जाये कि पंच महाव्रतों का शुद्ध रीति से पालन करने वाला सन्त जीवन भी सुरक्षित रहे। क्योंकि सन्त जीवन ही वह स्रोत है, जहां से सुसंस्कारों, सुमर्यादाओं तथा सुशिक्षा की पावन विचारधारा प्रवचन रूप में निरन्तर प्रवाहित होती रहती है।

पारम्परिक रीति से चले आ रहे सुसंस्कारों की रक्षा कैसे की जाये—इस पर सबसे पहले ध्यान दिया जाना चाहिये। यह दायित्व प्राथमिक तौर से माता-पिताओं का होता है कि वे अपने धार्मिक तथा व्यावहारिक सुसंस्कारों को स्वयं निर्मल रखें एवं पारिवारिक जीवन में ऐसा वातावरण बनावें ताकि उनकी सन्तानों के हृदय पर जन्म और बचपन से ही उन सुसंस्कारों की छाप गहरी और अमिट बन जाये। इस बाल्यकाल के आदर्श निर्माण से आगे जाकर खान-पान भी नहीं बिगड़ेगा और विचारों का क्रम भी सुसंस्कारों से सम्पन्न बना रहेगा। अपने बच्चों में हंस के गुण पैदा किये जाने चाहिये कि वे प्रारंभ से ही खाद्य और अखाद्य का भेद भली-भांति समझ लें तथा वैचारिकता से विशुद्धता अपना लें। इससे समाज और राष्ट्र में पवित्रता का वातावरण बनेगा तथा उसका स्वरूप आदर्शोन्मुखी होगा।

बाल्यकाल से ही बालकों को सन्तों के सम्पर्क में लाते रहना चाहिये ताकि सुसंस्कार पुष्ट होते रहें। इससे उनका आध्यात्मिक प्रशिक्षण भी चलता रहेगा और जब वे स्वतंत्र रूप से जीवन जीने लगेंगे तो विकारों की ओर आकृष्ट नहीं होंगे तथा अपने सभी प्रकार के कर्तव्यों के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी भी रहेंगे। कुछ दिन पूर्व भोपाल के वकील भीमसिंह जी यहां आये थे। वे बता रहे थे कि उनके

माता-पिता ने बाल्यकाल में उन पर सुसंस्कारों की छाप छोड़ी थी जिससे कॉलेज शिक्षा के समय उनके साथियों द्वारा खान-पान बिगाड़ने की अनेक कुचेष्टाएँ होने के बावजूद वे अपने पूर्व स्थापित संस्कारों पर अडिग रह सके। पहले दिन की उन्होंने बात बतायी कि सभी लड़के अपना-अपना टिफिन लाये थे, वे भी अपना टिफिन ले गये थे। सबने अपने-अपने टिफिन खोले और एक साथ खाने के लिये बैठे। उनके टिफिन में सादा शाकाहारी खाना था जबकि धार्मिक कहलाने वाले कुलों के कई लड़कों के टिफिन में अंडों आदि से बने पदार्थ भी थे। उन्होंने वे पदार्थ मेरे सामने रखे। मैं अपना टिफिन लेकर तत्काल वहां से उठ खड़ा हुआ और यह कहकर चला गया कि मैं आप लोगों की पार्टी में नहीं बैठ सकता हूँ। अब देखिये संस्कारों का कितना अन्तर हो जाता है कि अखाद्य खाने की परम्परा वाले तो उसे छोड़ रहे हैं और अखाद्य त्यागते रहने वाले परिवारों के लड़के अखाद्य खा रहे हैं और खाना सीख रहे हैं। क्या बढ़ती हुई इस दुष्प्रवृत्ति पर तुरन्त अंकुश नहीं लगाया जाना चाहिये? इसलिये आन्तरिक जगत् का विकास हो उसके लिये बाह्य जगत् की मर्यादाओं की सुरक्षा भी आवश्यक है। इन मर्यादाओं व सुसंस्कार की सुरक्षा के लिये मेरा यह मानना है कि सन्त जीवन की मूल मर्यादाओं की भी सुरक्षा होनी चाहिये क्योंकि आत्म-पवित्रता की प्रेरणा देने वाला सन्त जीवन ही विकारपूर्ण होने लगेगा तो पवित्रता का स्रोत ही सूख जायेगा।

### लालन पालन और शिक्षा में नैतिकता

सामान्य रूप से आज जिस शिक्षा प्रणाली का प्रचलन है, वही वास्तव में दोषपूर्ण है जो विद्यार्थियों में तरह-तरह की बुराइयाँ पैदा करती है। इसके सिवाय शिक्षण संस्थानों का साधारण वातावरण भी इतना बिगड़ चला है, जहां गुरुजनों के प्रति नम्रता और आज्ञाकारिता तो दूर, सीधा सादा अनुशासन भी नहीं रह गया है। न खान-पान में विवेक रहा है और न पहनावे में संजीदगी। इस माहौल में सुसंस्कारी छात्र का भी अपने सुसंस्कारों पर टिके रहना कठिन हो गया है।

इस दृष्टि से यदि बालक का लालन-पालन और उसकी प्राथमिक शिक्षा में नैतिक शिक्षा का भी योगदान रहे तो चारित्रपूर्ण व्यक्तित्व की आधारशिला सुदृढ़ हो सकती है। एक सुसंस्कारी बालक प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने सदाचार का निर्वाह करने में सक्षम होता है, बल्कि अधिक सक्षम बालक अपने साथियों के कुसंस्कारों को भी परिवर्तित और परिमार्जित कर सकता है।

वस्तुतः, विषमताओं से जटिल बनते जा रहे इस युग में आप बड़ों का भी अपने खान-पान और रहन-सहन पर विचार करना जरूरी हो गया है ताकि

आपकी गलत आदतों का बालक अनुसरण करके अपने जीवन को बुराइयों की ओर न धकेल दे। आप सोचें कि आपके बीच में यदि कोई ऐसे भाई हों जो भगवान् महावीर की वाणी सुनते और अपने आपको धर्मात्मा दिखलाते हों लेकिन चुपके-चुपके अखाद्य पदार्थ काम में लेते हों तथा फैशन करने में बढ़े-चढ़े हों तो उनके जीवन को सुधारने का जिम्मा उनका तो है ही लेकिन उसे क्या आप सबको भी संज्ञान में नहीं लेना चाहिये? ध्यान रखिये कि यदि आप जीवन को मर्यादित नहीं रखते हैं तथा मर्यादित मूल्यों के अनुसार अपना आचार विचार नहीं बनाते हैं तो स्वयं अनैतिक तो बनते ही हैं, यथार्थ में महावीर स्वामी का भी सम्मान नहीं, तिरस्कार करते हैं। इसे इस कारण अपना जघन्य अपराध मानिये। उत्तम कुल में जन्म लेकर तथा उत्तराधिकार में धार्मिक संस्कारों को पाकर भी जो चारित्रहीनता की ऐसी गंदी और अंधी गलियों में भटक जाता है, वह अपने जीवन का विकास कभी भी नहीं कर सकता है। वह वीतराग वाणी से भी दूर होता है।

### आप जानते हैं कि आपकी इज्जत कहाँ है?

नैतिकता और सच्चरित्रता जीवन की सच्ची शोभा होती है और जो शोभा है, वही इज्जत है। आज जमाना उलटी दिशा में जाता और सोचता है मगर सच्ची बात यही है। हो सकता है कि सच्चरित्रता से ज्यादा आज धन-सम्पत्ति की इज्जत की जाती हो, लेकिन कितने भी काले बादल सूर्य को क्यों न ढक लें, सूर्य तो सूर्य ही रहता है। इस जमाने में पैसे की ज्यादा कद्र हो रही हो या कि पैसे वालों की सब जगह चल जाती है, मगर यह अस्थायी ही रहेगा। सच्चरित्रता का सम्मान तथा मूल्य स्थायी होता है। इस संदर्भ में यदि आपसे पूछा जाये कि आपकी इज्जत कहाँ है या किसमें है तो आपका क्या उत्तर होगा?

आप सोचें इस पर—मैं इस विषय में आपको एक दृष्टान्त सुनाता हूँ। एक विवेकशील मनोवैज्ञानिक आचार संशोधन करने के उद्देश्य से बाहर निकल पड़ा। रास्ते में उसे एक सेठ मिला। उसने उससे पूछा—आपकी इज्जत कहाँ है? उसने उत्तर दिया—भाई साहब, मेरी इज्जत मेरे पास में है। सेठ का पूरा परिचय लेकर मनोवैज्ञानिक आगे चल पड़ा। फिर उसे एक पुरुष मिला, उसने अपना प्रश्न उसे भी दोहरा दिया। उसने उत्तर दिया—मेरी इज्जत मेरे घर में है। उसका पूरा परिचय उसने लिया और अपनी यात्रा जारी रखी। मनोवैज्ञानिक एक गृहस्थ के घर पहुंचा। वहाँ परिवार के अन्य सदस्य थे, पर मुखिया नहीं थे। उसने अपना प्रश्न उन्हीं के सामने दोहरा दिया कि उनके पिता जी की इज्जत



कहां है? वे उससे लड़ पड़े और बिना कोई आगत स्वागत किये उसे घर से बाहर निकाल दिया। फिर वह मनोवैज्ञानिक एक दूसरे गृहस्थ के घर पर पहुंच गया। वहां भी परिवार के अन्य सदस्य थे, किन्तु मुखिया नहीं थे। उसने बालकों को उनके पिताजी के लिये पूछा तो उन्होंने वह बताने के पहले अतिथि का भरपूर स्वागत किया और भोजन कराकर कहा कि वे पास के गांव में गये हैं, कल तक आयेंगे। मनोवैज्ञानिक ने कहा कि यह बात उसको पहले क्यों नहीं बतायी? इस पर बालकों ने कहा कि यदि ऐसा किया जाता तो हम आपका आतिथ्य कैसे करते? मनोवैज्ञानिक वापस अपने गांव की ओर चल पड़ा। रास्ते में सोचने लगा कि जो सदगृहस्थ उसे नहीं मिले थे किन्तु उसके प्रश्न का उनका उत्तर उसे बखूबी मिल गया था। उनकी इज्जत पूरे परिवार में थी। अब आप ही सोचें कि आपने अपनी इज्जत कहां पर रखी है?

### तीसरी आंख खोलें और खुली रखें

इज्जत का व्यावहारिक अर्थ मान लीजिये कि वह तीसरी आंख है। जिस परिवार में मानवीय मूल्यों का सभी सदस्य इस प्रकार मान करना सीख गये हों, वहां आपको मानना पड़ेगा कि परिवार के मुखिया की तो तीसरी आंख खुली ही है, लेकिन उसने अपनी संस्कारपूर्ण बुद्धि से अपने सभी परिवार जनों की भी तीसरी आंख खोल दी हैं। ऐसे ही परिवार में स्वर्गीय सुखों का आनन्दानुभव पाया जाता है। जहां ऐसे परिवारों की संख्या बढ़ती जाती है, वैसे समाज और राष्ट्र में भी पारस्परिक सौहार्द, सहानुभूति तथा सहयोग का वातावरण घनिष्ठ बन जाता है।

तीसरी आंख को खोलने और खुली रखने में बुनियादी तौर पर मददगार होते हैं विचार—जो शुभ, सात्त्विक और सदाशयी होने चाहिये। किन्तु ऐसे विचार अस्तित्व में तभी आ सकेंगे जब सात्त्विक अन्न-जल का अस्तित्व होगा। अन्न-जल का व्यापक शब्द है आहार। आहार सात्त्विक होगा तो विचार भी सात्त्विक होंगे। इस कारण आहार की सात्त्विकता परम आवश्यक है। इस मनुष्य जीवन में जो सात्त्विक आहार ग्रहण करता है, वह कभी किसी से घृणा नहीं करता। राग और द्वेष की आग में नहीं जलता तथा शुद्ध भावना के साथ मानवता का मान रखता है। ऐसे व्यक्ति की तीसरी आंख खुली होती है और निरन्तर खुली रहती है।

ऐसा अन्तरतम से जागृत बना जीवन देव तुल्य ही कहा जायेगा, क्योंकि उसके अन्तःकरण का आनन्दानुभव स्वर्गीय आनन्द से भी बढ़कर होता है।

अतः जो यह कहा जाता है कि यह मानव जीवन स्वर्गीय जीवन से भी अधिक विशिष्ट है, वह इसी रूप में सार्थक होता है। इसी जीवन में स्वर्ग समान सुख भोगना इस अन्तर्दृष्टि की प्रमुखता से ही हो सकता है। वह अन्तर्दृष्टि से विभूषित होकर सभी मनुष्यों को ही नहीं, समस्त प्राणियों को अपनी ही आत्मा के तुल्य समझता है और उनके सुख के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने के लिये सदा तत्पर रहता है। तीसरी आंख का आनन्द ही समता के समरस का पान कराता है, इसलिये आप मनोयोग पूर्वक तीसरी आंख प्राप्त करें यानी कि अपनी अन्तर्दृष्टि को जागृत बनावें।

दिनांक 04.10.86

(जलगांव)

## 9

## क्रान्ति का व्यापक अर्थ

शान्ति जिन एक मुझ विनति सुनो...

आध्यात्मिकता के इतिहास का सिंहावलोकन किया जाये तो यह सत्य उभरकर सामने आता है कि क्रान्ति सदैव उसके व्यापक अर्थ में परिभाषित की गई है। क्रान्ति का सीधा सादा अर्थ होता है त्वरित परिवर्तन, इसलिये प्रश्न उठता है कि परिवर्तन क्यों और कैसा ?

परिवर्तन क्यों—यह एक अतीव ही महत्वपूर्ण प्रश्न है। कोई भी परिवर्तन हो, वह प्रयोजन सहित होना चाहिये। निष्प्रयोज्य परिवर्तन की चर्चा ही निरर्थक है। परिवर्तन का प्रयोजन जब पूर्व-विचारित होता है तो मानना चाहिये कि वह सार्थक है। कितना सार्थक है कोई भी प्रयोजन—यह उसके विश्लेषण से ही ज्ञात हो सकता है। सबको समझ में आ जावे—ऐसा एक दृष्टान्त लें। कोई व्यक्ति लम्बे अरसे तक असाध्य रोग से पीड़ित रहा जिससे उसकी शक्तिक्षीणता कष्टदायक बन गई। निरोग तो वह होने लगा लेकिन तन्दुरुस्त नहीं हो पा रहा था तो चिकित्सक ने जलवायु परिवर्तन का सुझाव दिया ताकि दुर्बलता में सुधार त्वरित गति से हो सके। जलवायु का परिवर्तन भी एक परिवर्तन है और इसका प्रयोजन हुआ स्वास्थ्य और शक्तिलाभ करना। चिकित्सा शास्त्र का यह एक सुविचारित प्रयोजन है कि जलवायु परिवर्तन से रोगी को लाभ होता है। रोगी अन्य स्थान पर गया, वहां रहा और उसकी शक्तिक्षीणता दूर हुई, तो यह भी एक प्रकार की शारीरिक क्रान्ति है। यह शरीर की शक्ति में परिवर्तन की साधिका बनी। ऐसी क्रान्ति अनेकानेक प्रकार की हो सकती है लेकिन उस की पहचान यह होगी कि पूर्व की अवस्था में लाभदायक अथवा उन्नतिदायक परिवर्तन जिस प्रक्रिया से आवे, वह प्रक्रिया क्रान्ति है।

### क्रान्ति की परिभाषा अपने व्यापक अर्थ में

आज चारों ओर क्रान्ति की एक गूंजती हुई-सी आवाज उठ रही है, जिसके पीछे तड़प यह है कि परिवर्तन आवे—ऐसा परिवर्तन जो वर्तमान दशा

से ऊपर ले जावे एवं उन्नति की नई ऊँचाइयाँ दिखावे। इस दृष्टि से क्रान्ति का अन्तर्निहित अर्थ होगा ऊर्ध्वमुखी क्रान्ति, उत्थानगामी क्रान्ति या कि उत्क्रान्ति। क्रान्ति से कभी भी पतन की अपेक्षा नहीं रखी जाती है और यथावत् स्थिति की भी नहीं। जो स्थिति वर्तमान में होती है जब उसी के प्रति सामूहिक विक्षोभ अपनी सीमाएँ लांघ लेता है, तब ही क्रान्ति की आवाज उठती है, इसलिये उसका निश्चित उद्देश्य होता है कि उस स्थिति से उबरना, ऊपर उठना एवं वांछित रूपान्तरण करना।

अतः क्रान्ति की आवाज किसी ऐसी बुराई या विकृति के विरुद्ध ही उठती है, जिसे उसकी आवाज उठाने वाले असह्य मान लेते हैं। क्रान्ति की ऐसी आवाज एक प्रकार से विद्रोह की आवाज होती है। मनुष्य का सामान्य स्वभाव फिर भी सहनशील होता है और उसके अनुसार वह बुराई या विकृति को भी शुरू-शुरू में तो सहता जाता है—इस आशा से कि वह स्वतः ही मिट जायेगी। विकृति जब मिटती नहीं और बढ़ती जाती है, तब उसका दुष्परिणाम सहन करने वालों को भुगतना पड़ता है। उससे उनके मन में उसके प्रति असन्तोष पैदा होता है, फिर भी सहने का क्रम चलता रहता है और असन्तोष विक्षोभ और तीव्र विक्षोभ के रूप में बदलता जाता है। यही विक्षोभ जब सहनशीलता की सीमा लांघ जाता है तो जन्म लेता है विद्रोह और जन्म लेती है क्रान्ति की आवाज—जिसका मूल अभिप्राय यही होता है कि जो स्थिति बन गई है, उसे इस तरह त्वरित गति से परिवर्तित किया जाये कि उसके परिणाम शुभ, सुखदायी और सदाशयी निकलने लगे तथा वह सर्वजन श्रेयकारी हो जाये। इस विश्लेषण से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि क्रान्ति वस्तुतः उत्क्रान्ति ही होती है।

क्रान्ति की प्रक्रिया और क्रान्ति की आवाज को जगाने वाली यह बुराई और विकृति या तो व्यवस्थागत होती है या संस्थागत, जिसका बड़े या छोटे समूह पर न सह सकने जैसा असर होता है। यह न सह सकने वाली मानसिकता ही उच्चतम बिन्दु पर पहुँच कर परिवर्तन का पराक्रम दिखाती है। चूँकि इस परिवर्तन का प्रयोजन पूर्व-विचारित होता है अतः क्रान्ति की प्रक्रिया या आवाज के सुदृढ़ बनने में संघर्ष भले झेलना पड़े किन्तु क्रान्ति की आवाज उठाने वालों और प्रक्रिया का पहिया घुमाने वालों की मानसिकता यदि सप्रयोजन और स्पष्ट हो तो उसके परिणाम सदा एक नवीन ऊर्ध्वगामिता लाने वाले ही होंगे। यह दूसरी बात है कि क्रान्ति के विरोधी अधिक शक्तिशाली हों और उनके द्वारा क्रान्ति की आवाज व प्रक्रिया को कुचल देने से वह विफल हो जाये। फिर भी इतिहास के पन्ने बताते हैं कि सत्प्रयोजन की सिद्धि के लिये होने

वाली क्रान्ति कुचल दी या दबा दी जाये किन्तु क्रान्तिकारियों की भावना दबती नहीं है, इस कारण क्रान्ति के बार-बार प्रयास होते हैं और अन्ततः क्रान्ति सफल होकर रहती है।

### क्रान्ति का अर्थ हिंसा कतई नहीं

पश्चिमी देशों के इतिहास से पता चलता है कि जितनी राज्य क्रान्तियाँ हुईं, उनमें से अधिकतर क्रान्तियाँ हिंसा के बल पर हुईं और हिंसा ही के रूप में उनके परिणाम सामने आये। प्रारंभ में जो कहा गया है कि क्रान्ति का परिवर्तनात्मक अर्थ है, उसका ही यह विश्लेषण किया गया है कि परिवर्तन क्यों चाहा जाता है। इसी विश्लेषण का दूसरा पहलू यह बताया गया है कि परिवर्तन कैसा हो अर्थात् परिवर्तन किस शक्ति की सहायता से हो तथा उसका परिणाम किस रूप में प्रकट हो। क्रान्ति किस घोड़े पर चढ़कर चले—इसे स्पष्ट रूप से समझ लिया जाना चाहिये।

क्रान्ति का प्रयोजन सदा ही ऊर्ध्वमुखी एवं उत्थानगामी होता है। यह शुभ प्रयोजन ही इस रूप में क्रान्ति का साध्य हुआ। यह सर्वमान्य परिपाटी है कि शुभ साध्य को पाने के लिये उसके साधन भी शुभ ही होने चाहिये। साध्य शुभ हो और साधन अशुभ तो यह बेमेल जोड़ वांछित परिणाम कभी नहीं दे सकेगा। परिवर्तन का प्रयोजन सर्वजन के हित और सुख का हो तो वह निश्चित रूप से अहिंसक प्रयोजन कहलायेगा। अब उस अहिंसक प्रयोजन की सफलता के लिये हिंसा का साधन अपनाया जाये तो भला उस प्रयोजन को सिद्ध करने में सफलता कैसे मिल सकती है? इस सत्य पर बराबर बल दे रहा हूँ कि क्रान्ति का प्रयोजन या साध्य सदा शुभ ही होता है और शुभ ही होना चाहिये वरना अपने शुद्ध अर्थ में वह क्रान्ति कभी भी नहीं कहलायेगी। इसी सत्य पर आधारित यह बिन्दु भी उतना ही सत्य है कि क्रान्ति में हिंसा का कोई काम नहीं और हिंसा होती है तो फिर वह क्रान्ति नहीं। साध्य और साधन की शुभता का सम्यक् रीति से निर्वाह होगा तभी कोई भी क्रान्ति सफल मानी जायेगी तथा उससे वांछित परिणाम प्रकट हो सकेंगे।

इस रूप में यह सुनिश्चित कर लें कि क्रान्ति का अर्थ हिंसा कतई नहीं होता है। इस पर अधिक बल देने की आवश्यकता इस कारण से महसूस होती है कि राज्य क्रान्तियों का इतिहास पढ़ने वालों के मन-मानस में क्रान्ति और हिंसा का गठजोड़ अनिवार्य रूप से है—ऐसी धारणा बैठी हुई है। क्रान्ति शब्द का जो यह अर्थ लिया जाता है कि तोड़ो, फोड़ो और अन्याय-अत्याचार करने वालों

का खून बहा दो—यह नितान्त भ्रामक है। मारने-काटने की प्रक्रिया हिंसा ही होगी, क्रान्ति कभी नहीं हो सकती।

### मूल्यों में शुभ परिवर्तन की चेष्टा का नाम क्रान्ति

मनुष्य का यह शरीर सदा स्वस्थ नहीं रहता है। कभी किसी भी प्रकार के प्रभाव से रक्त विकार हो जाता है और कल्पना करें कि उस कारण उसके एक फोड़ा उठ आता है। फोड़ा दरअसल शरीर की विकृति की ही निशानी होता है और उसे उभरा हुआ देखकर एक तरफ पीड़ा होती है तो दूसरी तरफ घृणा भी होती है। परन्तु इसके उपरान्त भी यह विचार रहता है कि फोड़ा अच्छा हो जाये और शरीर फिर से स्वस्थ बन जाये। ऐसी ही होती है किसी भी व्यवस्था या संस्था की विकृति अथवा समाज या राष्ट्र की विकृति। उस विकृति को समाप्त करने का एकमात्र प्रयोजन यह होता है कि वह व्यवस्था, संस्था, समाज या राष्ट्र पुनः स्वस्थ हो जाये।

शरीर की विकृति तो समझ में आ जाती है लेकिन किसी व्यवस्था, संस्था, समाज और राष्ट्र की विकृति किस रूप में होती है—इसे समझने में कुछ तीक्ष्ण बुद्धि की आवश्यकता होगी। समझिये कि यह जो साधु और साध्वियों का वर्ग है, वह एक प्रकार से संस्था या व्यवस्था ही है। यह वर्ग पंच महाव्रत का पालन करता है तथा भगवान् महावीर द्वारा निर्देशित आचार का पूरी यतना के साथ अनुसरण भी करता है। जब ऐसा किया जाता है तो वह इस संस्था या व्यवस्था की स्वस्थ और शुद्ध स्थिति कहलायेगी। किन्तु सोचें कि इस वर्ग के कोई सदस्य आचारगत क्रिया में शिथिलता बरतने लगे या कि मूल महाव्रतों में ही किसी प्रकार का दोष लगाने लगे अथवा इस दोष को अनिवार्य मानकर उसका आचरण और प्रचार करने लगे तो इस संस्था या व्यवस्था का स्वास्थ्य कैसा कहलायेगा? यही कहेंगे न कि कहीं फोड़ा उठ आया है। शुद्ध विचार और आचार में जो दूषितता और शिथिलता आती है, वही विकृति का रूप ले लेती है। इस विकृति को समाप्त करने का और उस संस्था या व्यवस्था को पुनः शुद्ध रूप प्रदान करने का जो अभियान होता है, उसे क्रान्ति का नाम दिया जा सकता है।

इसी आधार पर क्रान्ति की परिभाषा की जानी चाहिये। किसी भी संस्था, व्यवस्था या समूह का जो सर्व सम्मति तथा सर्वहितैषिता की भावना से आचार निर्धारित किया जाता है या कि जो सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं, उन्हें उस संस्था, व्यवस्था या समूह के मूल्यों का नाम दिया जाता है। वे मूल्य होते हैं जिनके आधार पर उसका मूल्यांकन किया जाता है। इन्हीं मूल्यों के अनुसरण

में जब शिथिलता, असावधानी और दोहरापन आने लगता है तो वैसी दुष्प्रवृत्ति से उन मूल्यों का स्वरूप विकृत होने लगता है। इन्हीं विकृत मूल्यों के विरुद्ध जो विद्रोह पैदा होता है, वही क्रान्ति का रूप लेता है। तब उस क्रान्ति की प्रक्रिया यह होती है कि उन मूल्यों के विकारों को नष्ट कर दिया जाये तथा उनका स्वरूप पूर्ववत् शुद्ध बना दिया जाये।

अतः क्रान्ति और कुछ नहीं, बल्कि विकृत मूल्यों में पुनः शुभ परिवर्तन लाने की सत्चेष्टा का ही नाम है। किसी भी संस्था, व्यवस्था, समाज, राष्ट्र अथवा छोटे-बड़े समूह के प्रचलित क्रम में समाये हुए विकारों का विनाश तथा पूर्ववत् शुद्ध स्वरूप का पुनः निर्माण ही किसी भी क्रान्ति का प्रयोजन और साध्य होता है। क्रान्ति ऐसे प्रयास का नाम है जो आमूलचूल परिवर्तन का वाहक बनकर ढांचे को जड़ से बदल देता है तथा चेतनामय नये प्रकाश का संचार कर देता है ताकि नवीन ऊर्ध्वगामिता के साथ नई गति का शुभारंभ हो। ऐसी क्रान्ति का एक शाश्वत पहलू यह होता है कि मानवीय मूल्यों, अधिकारों तथा मर्यादाओं की पुनः-पुनः स्थापना हो तथा एक समान सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया जाये। उन भावनाओं, मर्यादाओं और मूल्यों को फिर से जीवनदान दिया जाये, जिन्हें भूलकर किसी भी समूह में शिथिलता और कटुता फैल जाती है तथा अन्याय और अत्याचार का दौरा शुरु हो जाता है। सबके समान रूप से स्वाभाविक विकास में बाधा डालने वाली ऐसी संस्था, व्यवस्था या सामाजिकता का सक्रिय विरोध करना, उसमें रहे हुए प्रतिगामी तत्त्वों को समाप्त करना तथा मूलाधार सत्य एवं न्याय की पुनर्स्थापना करना—यह किसी भी क्रान्ति का मूल प्रयोजन होना चाहिये तथा ऐसी क्रान्ति में सक्रिय भाग लेना प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति को अपना कर्तव्य मानना चाहिये। तभी तो विकृत मूल्यों को नवीन स्वरूप प्रदान कर नया रूपान्तर प्रस्तुत किया जा सकता है जो सर्वांशतः ऊर्ध्वमुखी हो जाता है।

अतः क्रान्ति न तो किसी हिंसक प्रयत्न का नाम है और न केवल पुरातनता के विद्वेष से प्रेरित होती है बल्कि वह तो अपने वास्तविक एवं व्यापक अर्थ में किसी भी समूह या समाज के मूलाधार सत्य एवं न्याय की पुनर्स्थापना का पूर्ण रचनात्मक प्रयत्न होती है, जिसमें विकारों की समाप्ति उसकी पहली कृति है। क्रान्ति किसी भी संस्था, व्यवस्था समूह या समाज में फैले हुए विकार, असत्य, अन्याय और सब प्रकार के दोषों को विनष्ट करती है अतः उस का उत्तरार्थ होता है चेतना, जागृति, न्याय और समता का विस्तार। यह सृजनात्मक पक्ष ही क्रान्ति का मुख्य पक्ष होता है।

## स्वर्गीय आचार्यश्री ने ऐसी ही उत्क्रान्ति की थी

स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशलाल जी म. सा. ने अपनी वृद्धावस्था में भी अतीव साहस एवं धैर्य के साथ ऐसी ही उत्क्रान्ति साधु समाज में की थी। निर्ग्रंथ श्रमण संघ में पवित्र उत्क्रान्ति के लिये उन्होंने सिंहनाद किया था। इतना ही नहीं, उन्होंने उस उत्क्रान्ति के लिये सशक्त बीज वपन करके भी दिखला दिया। साधु एवं साध्वियों का जो वृहद् सम्मेलन हुआ था, उसमें एक ही आचार्य, एक दीक्षा, एक शिक्षा, प्रायश्चित्त, विहार आदि की समरूपता का निर्णय लिया गया था। इन सभी मामलों के बारे में वरिष्ठ सन्तों ने शास्त्रों के आधार पर नियमावली भी बनायी तथा यह निर्देश भी सभी को दिया कि उसका अपने साधु जीवन में निष्ठापूर्वक अनुपालन किया जाये, अनुशासन सुचारु रूप से चले तथा निर्ग्रंथ साधुत्व की सुरक्षा हो। बाद में जो भी घटित हुआ हो, किन्तु मैं उनके सिद्धान्तों को बराबर अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करता रहा हूँ।

आज का युग क्रान्ति चाहता है। एक वैज्ञानिक की दृष्टि में क्रान्ति का अर्थ नये-नये आविष्कार करना हो सकता है किन्तु केवल नवीनता ही वास्तविक क्रान्ति नहीं होती है। नवीनता की क्या परिभाषा? क्या जिस परिपाटी का पूर्व में अनुकरण होता रहा है, उसे ही प्रकारान्तर से सामने ले आना नवीनता हो जायेगी? इसमें तो यही कहावत चरितार्थ होगी कि पुरानी शराब ही नई बोतल में भर दी गई है।

नवीनता को भी नवीन परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। आज का मानव जिन विषम परिस्थितियों में जी रहा है, उन पर गहन चिन्तन करने की आवश्यकता है। जहां शरीर का प्रसंग आता है, चाहे उसका शरीर बदले, पर्याय बदले, पोशाक बदले, साज-शृंगार बदले या और कुछ बदले, लेकिन देखने की बात यह होती है कि क्या उसकी विकारपूर्ण अवस्थाओं में कोई परिवर्तन हुआ है? पांचों इन्द्रियों के विषयों के प्रति जो उसकी गाढ़ी लालसा है, क्या उसमें किसी तरह का रूपान्तरण हुआ है? यदि नवीनता के प्रसंग को लिया जाता है तो ऊर्ध्वगामिता की दिशा में परिवर्तन आना चाहिये। राग-द्वेष, माया-मत्सर आदि को नष्ट करके अनुशासन बढ़े तथा सभी प्राणियों के प्रति समता की भावना सुदृढ़ बने। चाहे साधु-साध्वी के वर्ग में या अन्य किसी साधक वर्ग में हो, नवीनता ऐसे ही ऊर्ध्वमुखी परिवर्तन को कह सकेंगे। जीवन की वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ जब इस रूप में ढल जाती हैं, तभी उस



जीवन को नवीनता की संज्ञा दी जा सकेगी। इसके लिये अपनी आन्तरिक योग्यता तथा समर्थता हो तो पंच महाव्रतों का यथावत् रीति से पालन करो और यदि ऐसी योग्यता तथा समर्थता पर्याप्त नहीं लगती हो तो पंच महाव्रतों के पालन में शिथिलता लाने और विकारों को पैदा करने की अपेक्षा देशविरति का ही पालन करो। किसी भी स्तर पर त्याग-प्रत्याख्यान करते हुए निरन्तर आगे से आगे बढ़ते रहने का प्रयास किया जाता रहेगा तो उस जीवन में नित नवीनता उत्पन्न होती रहेगी। खेद का विषय यह है कि आज की मानसिकता इस नवीनता को स्वीकार नहीं कर रही है। इसी कारण महाव्रतों के पालन का स्तर नीचे गिराया जा रहा है और साधु-अवस्था में भी फिल्मी गानों आदि की धुनों सहित बाहरी दृश्यों में राग भाव बढ़ा कर महाव्रतों की उपेक्षा की जा रही है। ऐसा जो विकारपूर्ण परिवर्तन आ रहा है—इसे पतन कहेंगे या कि नवीनता कहेंगे। पतन को नवीनता मान लें तब तो सारी मान्यता ही विपरीत हो जायेगी। ऐसी ही विपरीत मान्यताओं पर स्व. आचार्य श्री ने कड़ा प्रहार किया था और पंच महाव्रतों के शुद्ध पालन का अभियान चलाया था। उनकी उत्क्रान्ति का ऐसा उन्नायक स्वरूप था।

### श्रमण संस्कृति की सुरक्षा अनिवार्य

वीतराग देव के वचनों में जिनका ज्ञान-विज्ञान है तथा जिनकी प्रबल आस्था है, वे यह तथ्य भली-भांति जानते हैं कि साधना वही की जानी चाहिये जिसे उसके शुद्ध स्वरूप में साध सकें। तभी वैसी साधना सामान्य जन के लिये प्रेरणादायक एवं प्रभावक बन सकती है। हमारे शास्त्रकारों ने साधु जीवन को ऐसी मजबूत पाल के रूप में माना है तथा तदनुसार ही कठोर आचार का प्रावधान किया है कि पाल के पीछे लहराता समुद्र उस पाल को तनिक-सी भी क्षति न पहुंचा सके। क्योंकि पाल का एक हिस्सा भी कमजोर होता और उखड़ता है तो आशंका पैदा हो जाती है कि एक दिन बिखर कर पाल कमजोर हो जायेगी और विकारों का तूफानी समुद्र सम्पूर्ण साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। यही श्रमण संस्कृति का मूल है।

इसी दृष्टि से श्रमण संस्कृति की सुरक्षा को अनिवार्य मानते हुए विगत वृहद् साधु सम्मेलन में सर्वसम्मत निर्णय लिये गये थे कि सन्तों में अनुशासन बढ़े, साधना निर्बाध हो तथा सम्पूर्ण समाज में साधु-साध्वी वर्ग की चारित्र-प्राभाविकता प्रेरणा का स्रोत बने। इस नये वातावरण का निर्माण स्व. आचार्य श्री के त्यागमय नेतृत्व में हुआ था। बाद में भी उनका प्रयास यही रहा कि

श्रमण संस्कृति की पूर्णतः सुरक्षा हो। आपका और हमारा जीवन मंगलमय हो—इसी भावना से मैं भी चल रहा हूँ। कदाचित् मेरा शरीर रहे या न रहे, लेकिन इस उद्देश्य के लिये आप भी पीछे न रहें।

जहां नामकरण का प्रसंग उपस्थित हुआ था, यह उद्देश्य ही प्रमुख था कि श्रमण संस्कृति अर्थात् वीतराग देवों का साधु मार्ग पूर्णतः सुरक्षित रहे। इसी कारण साधु मार्ग नाम स्वीकार किया गया था। वीतराग देवों के बताये हुए मार्ग पर ही हम सब चलने वाले हैं और यह संघ जो कार्य कर रहा है, वह श्रावकों के नियमानुसार कर रहा है। यह संघ उन्हीं श्रावकों का है जो वीतराग देवों की आज्ञा में चलने के लिये संकल्प बद्ध हैं। उन्हीं का संरक्षण-सहयोग करने वाला यह साधुमार्गी संघ है। संघ के सभी कार्यकर्ता विभिन्न प्रवृत्तियों का संचालन कर रहे हैं तथा उनके उन्होंने कुछ आयाम रखे हैं। यह संघ किस प्रकार से परिवार, समाज और राष्ट्र के आध्यात्मिक जीवन में उत्क्रान्ति कर रहा है—यह आप लोगों के लिये तटस्थ भाव से चिन्तन करने के योग्य है।

श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिये यह भी ध्यान में रखा जाये कि चंद्र चांदी के टुकड़ों के साथ सन्तों का जीवन जोड़ने की बजाय उनके अणु-अणु में जो वीतराग वाणी तथा आध्यात्मिक साधनामय जीवन का सार भरा हुआ है, उसकी सुरक्षा करें तथा उस सार को स्वयं भी ग्रहण करें। आज मेरी रजत जयन्ती मनाने की जो बात की जा रही है, उसमें मेरी कोई रुचि नहीं है। मैं तो अपनी स्थिति से चल रहा हूँ तथा इसमें मेरा कोई सुझाव नहीं है। मेरा तो जो नित्यक्रम है, वही यथावत् चलेगा। मेरा नाम किसी भी जयन्ती के साथ जोड़ने का प्रयास न करें। श्रमण संस्कृति की सुरक्षा को अपना सर्वोच्च उद्देश्य मानें।

### क्रान्ति की प्रक्रिया के आधारभूत तत्त्व

क्रान्ति की दार्शनिकता को समझ लेने के बाद क्रान्ति की प्रक्रिया के स्वरूप पर भी कुछ चिन्तन कर लेना चाहिये। साध्य के साथ साधनों का शुद्ध होना नितान्त अनिवार्य है तथा किसी भी प्रक्रिया में तत्सम्बन्धी साधनों का ही सम्बल होता है। इस दृष्टि से कि क्रान्ति पूर्णतया सृजनात्मक हो, प्रगतिशील एवं प्रतिगामी दोनों पक्षों के बीच सद्भाव बना रहे तथा अन्ततोगत्वा समता की भावना को सबके बीच में स्थापित कर दे तो हमें इसकी प्रक्रिया के तीन आधारभूत तत्त्वों को ध्यान में लेना होगा तथा प्रक्रिया में कार्य करते हुए उनकी भावना के अनुसार व्यवहार करना होगा।

क्रान्ति की प्रक्रिया के ये तीन आधारभूत तत्त्व हैं—सह-अस्तित्व, सहिष्णुता एवं समता। इस पहले तत्त्व की आपने राजनीतिक जगत् में काफी चर्चा सुनी होगी, बल्कि सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को गुट निरपेक्ष देशों ने प्रमुख स्थान दिया है। उनके खयाल में विभिन्न व्यवस्थाओं वाले देश इस सिद्धान्त के आधार पर एकजुट रहकर निर्विवाद क्षेत्रों में सहयोग कर सकते हैं। क्रान्ति की प्रक्रिया में भी सह-अस्तित्व का विशिष्ट महत्त्व है। आप जानते हैं कि तीर्थकर देवों के समवसरण में शेर और बकरी एक साथ बैठकर उनकी देशना का श्रवण करते थे। विरोधी शक्तियों के एक साथ बैठने और काम करने की मनःस्थिति बनाने का प्रयास सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जाता है। किन्हीं अर्थों में विरोधी होते हुए भी साथ-साथ में अपनी मौजूदगी को मानें, सहन करें और परस्पर सहयोग करें—यह है सह-अस्तित्व का सिद्धान्त।

क्रान्ति की प्रक्रिया में भी दो विरोधी पक्ष होते हैं। एक तो वह पक्ष जो वर्तमान व्यवस्था आदि को विकृत मानते हुए उसके ऊर्ध्वमुखी परिवर्तन हेतु क्रान्ति करना चाहता है तथा दूसरा वह पक्ष जो उस क्रान्ति का विरोध करते हुए प्रचलित व्यवस्था को ही उचित एवं स्वीकार्य मानता है। ये धुर विरोधी पक्ष होते हैं और इसी कारण क्रान्ति की प्रक्रिया के दौरान कटुता, कलुषितता और उससे आगे बढ़कर दोनों पक्षों के बीच में हिंसा तक के भड़क उठने की आशंका होती है। विवेक और सहनशीलता की जितनी कमी होती है, उतनी ही यह आशंका अधिक बलवती रहती है। कई बार तो पारस्परिक विद्वेष में क्रान्ति का मूल उद्देश्य ही लुप्त हो जाता है। इसलिये यदि सह-अस्तित्व का सिद्धान्त अपना लिया जाये तो इस आशंका को निर्मूल बना सकते हैं तथा यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि इस कार्य में मतभेद कितना ही हो जावे, मनभेद नहीं होगा। क्रान्ति की प्रक्रिया ही इस विचार से शुरू होती है कि दोनों पक्षों को हर हालत में साथ रहकर एक दूसरे को समझना और समझाना है। अतः सहनशीलता की भूमिका के साथ ही प्रक्रिया का चरण प्रारंभ हो।

इस रूप में निर्मित सहनशीलता को पुष्ट करते रहने का ही दूसरा सिद्धान्त है—सहिष्णुता का सिद्धान्त। कितने भी विद्वेष, कलह या संघर्ष के अवसर आवें, सिद्धान्त रूप से मन बना हुआ हो कि हर बात को सहिष्णु बनकर ही सोचना है। किसी एक पक्ष से कोई उत्तेजनात्मक व्यवहार हो भी जाये तब भी दूसरा पक्ष असहिष्णु न बने ताकि वह उत्तेजना वहीं समाप्त हो जाये और आगे न बढ़े।

सहिष्णुता ही जब स्वभाव में रच-बस जाती है, तब मन, वाणी और कर्म द्वारा होने वाला योग व्यापार तथा व्यवहार शाश्वत समानता में ढलने लगता है और यही है समता का तीसरा सिद्धान्त। समता की वैचारिकता एवं व्यावहारिकता में सज्जनता का ऐसा अपूर्व समावेश हो जाता है कि फिर प्रत्येक समस्या या प्रश्न पर विमर्श होता है, विवाद कभी नहीं।

यों क्रान्ति की प्रक्रिया के ये तीनों तत्त्व जीवन व्यवहार के भी आधारभूत तत्त्व होते हैं। मनुष्य से लेकर छोटे से छोटे प्राणी के अस्तित्व को स्वीकार करें, उनका अहित कर्तई न होने दें तथा किसी भी परिस्थिति में असहिष्णु न बनें तो समता का मन से लेकर बाह्य व्यवहार तक व्यापक रूप से विस्तार संभव हो जाता है।

### महानतम होती है निजात्मा की क्रान्ति

अन्य सभी क्षेत्रों की एवं सभी प्रकार की क्रान्तियों की जननी होती है निजात्मा की क्रान्ति और इसी कारण वह महानतम होती है। अन्य क्रान्तियाँ तात्कालिक होती हैं किन्तु निजात्मा की क्रान्ति एक सतत प्रक्रिया के रूप में होती है जो क्रान्ति का समग्र फलितार्थ मुक्तावस्था के रूप में जब तक प्रकट न हो, तब तक वह प्रक्रिया चलती रहती है। निजात्मा की क्रान्ति के मूल से ही विभिन्न स्वरूपों की क्रान्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं तथा मूल क्रान्ति की सफलता या विफलता के अनुसार ही उनका भी तदनु रूप परिणाम सामने आता है।

आप भली-भांति समझते होंगे कि यह निजात्मा की क्रान्ति क्या होती है? क्रान्ति का मूल और व्यापक अर्थ होता है अधोमुखता से ऊर्ध्वमुखता ग्रहण करना यानी कि विकृत बने मूल्यों को स्वस्थ एवं शुद्ध परिवेश में रूपान्तरित करना। क्रान्ति का आधारगत उद्देश्य ही यह होता है कि जीवन चाहे व्यक्ति का हो या समूह का—उसके विचार और व्यवहार की धारा सदा शुद्ध रहनी चाहिये, अतः क्रान्ति वस्तुतः वह प्रक्रिया है जो धारा में आने और बहने वाले मैल को उससे बाहर निकालकर उस धारा को पुनः निर्मल बना देती है। संसार में रहते हुए किसी भी जीवन में निर्मल से मलपूर्ण और मल से निर्मल होने का क्रम चलता रहता है तथा विशेष रूप में आत्मा की विचार एवं कार्य विधि में तो सामान्यतः ऐसा होता ही है। अतः क्रान्ति की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहे तो आत्म-स्वरूप पर अधिक मल के आवरण चढ़ नहीं पायेंगे। मल चढ़ा तो तुरन्त उसे स्वच्छ किया और आत्म-स्वरूप को हलका ही बनाये रखा ताकि साधना का क्रम उत्कृष्ट बन जाये तो उसका सम्पूर्ण विकास सरलतापूर्वक सध जाये।

निजात्मा के संदर्भ में क्रान्ति की प्रक्रिया यदि प्रारंभ ही नहीं की गई हो तो तुरन्त से तुरन्त उसका श्रीगणेश तो कर ही देना चाहिये क्योंकि वर्तमान में निजात्मा के स्वरूप पर कितनी मैल की मोटी परतें चढ़ी हुई हैं—इसकी प्रतीति भी विरले आत्माओं को ही होती है। जो आत्माएँ विकार संशोधन की क्रान्ति में काफी आगे बढ़ जाती हैं, वे ही अपने स्वरूप का अवलोकन करती हैं तथा उसकी मलपूर्ण या निर्मल अवस्था की कोटि का ज्ञान लेती है। तब क्रान्ति की प्रक्रिया सफलता की दिशा में मुड़ने लगती है। यही सफलता सभी प्रकार की क्रान्तियों में प्रतिबिम्बित होती है। अतः क्रान्ति के व्यापक अर्थ को हृदयंगम करते हुए क्रान्ति की प्रक्रिया को निजात्मा से प्रारंभ करें, उसे सर्वत्र प्रसारित बनावें।

दिनांक 05.10.86

(जलगांव)

## 10

## पुरुषार्थ का पथ

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनदेव के चरणों में शतशः वन्दन करते हुए अपने आन्तरिक स्वरूप का अवलोकन करना है, भीतर में जमे हुए विषय-कषाय के विकारों की वृत्ति-प्रवृत्तियों को समझना है तथा ऐसे आत्म-पुरुषार्थ का परिचय देना है कि आत्म-स्वरूप मल विहीन बन जाये-निर्मल हो जाये। मल किसी भी प्रकार का हो दुःख का कारण होता है तथा निर्मलता प्राप्त होने से सुख मिलता है-वह सुख जो कभी क्षीण नहीं होता, कभी समाप्त नहीं होता। ऐसे सुख की अवाप्ति से ही शान्ति मिलती है, जो भीतर और बाहर के समूचे वातावरण को अनिर्वचनीय आनन्द से ओत-प्रोत बना देती है। शान्ति ही इस जीवन का प्राप्य है और शान्ति ही सार है।

प्रत्येक प्राणी और मानव अपने जीवन में शान्ति का आस्वादन करने के लिये तत्पर दिखाई देता है, क्योंकि अशान्ति के पीड़ा भरे वातावरण से सभी बुरी तरह से व्यथित हैं। कोई-कोई कुछ प्रयास करता है तो उसे तनिक शान्ति का आभास भी मिलता है किन्तु वह क्षणिक मात्र होता है। फिर वही अशान्ति जीवन को मथने लगती है। इसके दो कारण हैं-एक तो सच्ची शान्ति के स्वरूप का ज्ञान नहीं है तथा दूसरे, उन सभी बाधक तत्त्वों का भी ज्ञान नहीं है जिनके रहते कभी भी सच्ची शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। वे बाधक तत्त्व ही शान्ति को जीवन में समाने नहीं देते। अतः उन सभी बाधक तत्त्वों के घातक स्वरूप को समझना जरूरी है ताकि कठिन पुरुषार्थ के साथ उन तत्त्वों को नष्ट किया जाये तथा स्थायी एवं सच्ची शान्ति का वरण करके जीवन को उसके अनुपम आनन्द से अभिभूत बनाया जाये। जहां चिरस्थायी शान्ति का स्वरूप जीवन में उतर आता है, वहीं आत्मा की परिपूर्ण शान्ति बनती है।

प्रार्थना की पंक्तियों ने पुरुषार्थ का पथ दर्साते हुए आत्मा को शान्ति के उन्हीं बाधक तत्त्वों के लिये सावधानी दिलायी है कि हे भव्य आत्मा, तुम्हारी

आन्तरिकता में शान्ति के स्वरूप को जान लेने का जो अवकाश हुआ है, उसके लिये तू धन्यवाद की पात्र है, किन्तु शान्ति का स्वरूप जानकर उसकी प्राप्ति के लिये जब तक कठिन पुरुषार्थ के पथ पर तू गतिशील नहीं बनेगी तब तक शाश्वत शान्ति मिलेगी नहीं। कारण, तू अभी जहां है उस स्थान और शान्ति के गंतव्य के बीच में बहुत बड़ा अन्तराल है तथा वह अन्तराल विषय-कषाय के विकार रूपी बाधक तत्त्वों से भरा पड़ा है। उन को जीत कर ही शान्ति के गंतव्य तक पहुंचा जा सकता है।

### विकार अन्तःकरण के मल रूप हैं

मनुष्य के अन्तःकरण में, मन-मस्तिष्क में प्रत्येक समय में अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ बहती रहती हैं। वे विचार चाहे अपनी भौतिक इच्छाओं और लालसाओं के पीछे भटकाने वाले हों अथवा अपने लोगों के स्वार्थों को पूरा करने के लिये दौड़-धूप कराने वाले हों, लेकिन अधिकांशतः वे आत्म-जागृति को प्रेरित करने वाले नहीं होते। इस कारण वे विचार नानाविध विकारों से रंगे हुए होते हैं। ये विकार क्रिया और प्रतिक्रिया के संघर्षों से उपजे हुए होते हैं। भौतिक पदार्थों को प्राप्त करने की जो इच्छाएँ होती हैं, उन्हें कामैषणाएँ कह सकते हैं। कामेच्छा विकार जनित भी होती है तो विकारों की जननी भी। कामेच्छाएँ राग भाव उभारती हैं तो उसकी प्रतिक्रिया में द्वेष पैदा होता है। एक ओर पांचों इन्द्रियों के विषय होते हैं तो दूसरी ओर उन विषयों की प्राप्ति-अप्राप्ति से सम्बन्धित कषाय होती है। अपनी अनुकूलता में बाधा डालने वालों के प्रति क्रोध भड़कता है क्योंकि उसके मूल में मान-अपना अहंकार होता है। क्रोध और मान के विकारों का आपस में बड़ा गठजोड़ होता है। दूसरा गठजोड़ होता है-माया और लोभ का। लोभ को अपनी पूर्ति के लिये क्रोध और मान नहीं चाहिये क्योंकि इनसे लाभ का अवसर बिगड़ता है। उसे चाहिये माया, कपटाचार और धूर्तता। इस तरह विकारों के गठजोड़ अन्तःकरण को इतनी प्रबलता से आलोकित करते रहते हैं कि वहां पर कोई भी दूसरा आत्म-हितकारी विचार टिक नहीं पाता है।

ये सभी विकार अन्तःकरण में मल रूप होते हैं जो उसकी मूल निर्मलता को आच्छादित करते रहते हैं। वहां ये सभी विकार अपना आसन-सिंहासन जमा कर बैठे हैं और इन्होंने इतनी ताकत पकड़ रखी है कि अपने से विपरीत विचारों को वहां आने ही नहीं देते हैं और किसी तरह आ भी जायें तो उन्हें वहां टिकने नहीं देते हैं। मनुष्य के अपने अन्तःकरण की ऐसी परतंत्रता और

दुरवस्था बनी हुई है, जिसमें वह जीवित रहने का अभ्यस्त-सा बन गया है। उसने जैसे मान लिया है कि ये विकार हैं या नहीं—यह दूसरी बात लेकिन उनका अन्तःकरण में स्थान है और वे वहां रहेंगे तथा जीवन में अनेकानेक प्रकारों से अपना खेल दिखायेंगे। अन्य तत्त्वों को भीतर प्रवेश देने और भीतर के वातावरण को शुभता में रूपान्तरित करने का जैसे खयाल ही उसके मन में नहीं रह गया है। बहुत कम लोग ऐसे मिलेंगे जो इन विकारों को विकार रूप में तथा जीवन के मल रूप में मानते हैं तथा चाहते हैं कि इस मल का प्रक्षालन कर लिया जाये, लेकिन वे इस पुरुषार्थ से हीन हैं। यथोचित पुरुषार्थ को वे समझते नहीं, पुरुषार्थ करते नहीं तो फिर उनका मल कैसे दूर हो और वे निर्मलता को कैसे प्राप्त करें?

विरले ही पुरुष होते हैं जो इन विकारों से मुक्ति पाने के लिये समुचित पुरुषार्थ करते हैं तथा पुरुषार्थ के पथ पर अडिग रूप से टिके हुए रहते हैं। इन पुरुषों को प्रोत्साहन मिले और ये पुरुष भी यह प्रयत्न करें कि अधिक से अधिक लोग इन विकारों की आत्मघाती ताकत को समझें। उनसे संघर्ष करने का संकल्प बनावें तथा पुरुषार्थ के पथ पर प्रस्थान कर दें। मल के प्रक्षालन की लगन लग जानी चाहिये तथा निर्मलता और उसके द्वारा स्थायी शान्ति प्राप्त करने की अभिलाषा पूर्ण बलवती बन जानी चाहिये।

### कितने आत्मघाती होते हैं ये विकार ?

आन्तरिक दृष्टि से चिन्तन किया जाये तो प्रतीत होगा कि काम-क्रोध, विषय-कषाय, ईर्ष्या-द्वेष, मद-मत्सर आदि के विकारों और कुविचारों से अन्तःकरण लबालब भरा हुआ है। उनके भरे होने का अर्थ है कि वहां सद्विचारों का कोई प्रभावकारी अस्तित्व नहीं है। इसका कारण यह है कि ये विकार बड़े ही आत्मघाती होते हैं अर्थात् आत्मशक्तियों का दमन और हनन कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप आत्म-संज्ञा कुंठित हो जाती है और वह सद्विचारों का संचय करने के योग्य और समर्थ नहीं रह जाती है। विचारणीय बिन्दु यही है कि ये विकार कितने आत्मघाती होते हैं ?

जितने भी प्रकार के आत्म-स्वभाव को ढकने और विभाव को उभाड़ने वाले विविधरूपी विकार होते हैं, उन सभी का जनक होता है मोह तथा जननी राग भावना होती है। मोह से राग तथा राग से लालसा, इच्छा, तृष्णा और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में नानाविध कषाय जन्म लेती रहती हैं। मोह के घनत्व में ज्यों-ज्यों बढ़ोतरी होती जाती है, आत्मा की चेतना शक्ति मदिरा



पीये हुए मनुष्य की तरह उन्मत्त, संज्ञाशून्य और परवश होती जाती है। मोह जन्म और फैलाव है, वही सांसारिकता है और वही आत्म-सुषुप्ति है। इस प्रकार शान्ति-प्राप्ति का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व और आत्मा को गाढ़े कर्मावरणों में लपेटने वाला सबसे बढ़कर प्रतिगामी तत्त्व होता है—मोह। अतः मोह ही सबसे बड़ा आत्मघाती विकार है जिससे रागात्मक एवं द्वेषात्मक विकार फूटते रहते हैं और इस रूप में विकारों का वट वृक्ष खड़ा हो जाता है, जिसे काटने का पुरुषार्थ इतना कठिन और दुःसाध्य होता है कि एक ही नहीं, कई जन्मों की साधना भी फलवती नहीं हो पाती है।

मोह के ही प्रतिघातों में पैदा होते हैं कषाय, जो क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप में राक्षसी विद्रूपता को ग्रहण करती हुई आत्म-स्वरूप को कष यानी जला डालती है। यह कषाय प्राप्त साधना को भी नष्ट कर देती है तथा सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति एवं यथाख्यात चारित्र तक से आत्मा को मिथ्यात्व और अज्ञान के अंधकार में गिरा देती है। क्रोध जब भड़कता है तो कृत्य-अकृत्य का विवेक भी समाप्त हो जाता है तथा क्रोधी असहनशील बनकर दूसरों का बुरा करने और भीषण से भीषण हिंसा तक उतर आने में आगे-पीछे नहीं सोचता है। क्रोध की हद उस जटिलता तक भी पहुंच जाती है जब द्वेष की दीवार कभी भी हटती ही नहीं है। यह उसका परम आत्मघाती रूप होता है। यही मान का कुप्रभाव होता है कि मानी व्यक्ति अपने ही को बड़ा और बाकी सबको तुच्छ समझता है व दूसरों की अवहेलना करता है। गर्व वश वह दूसरों के गुणों को भी सहन नहीं करता है—उनका अनुकरण करने की बात तो पैदा ही नहीं होती है। मायावी व्यक्ति भी प्रपंच, कपट, धूर्तता, पाखंड और ठगी में इतना आगे बढ़ जाता है कि उसे परवंचना के सिवाय कुछ सूझता ही नहीं है। लोभी व्यक्ति की तृष्णा का तो क्या कहना? भौतिक पदार्थों के प्रति उसकी इच्छा, मूर्च्छा, ममता और वितृष्णा सारी सीमाएँ लांघ जाती है। कषायों की स्थिति जितनी प्रगाढ़ होती रहती है, समझना चाहिये कि उसके आत्मस्वरूप एवं आत्मज्ञान की उतनी ही घात होती जा रही है।

क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय से चेतना की ऐसी घात होती है जो आध्यात्मिक भावों को व जीवन के विकास को नष्ट करने के साथ ही सामान्य व्यवहार को भी क्षुद्र तथा निन्दनीय बना देती है। कषायों के आचरण से मनुष्य पारलौकिक संकट तो अपने लिये खड़े करता ही है, ऐहिक हानियाँ भी उठाता है। क्रोध के आचरण से सामान्य प्रेम और प्रीति के सम्बन्ध भी टूट जाते हैं तथा क्रोधी के आत्मीय जन भी उससे घृणा करने लगते हैं। मान करने से

विनय गुण का सर्वनाश हो जाता है और मानी व्यक्ति की सभी उपेक्षा करते हैं। माया मित्रता का नाश करने वाली होती है तथा लोभ का ऐसा भयंकर कुप्रभाव सामने आता है कि प्रेम-प्रीति, विनय तथा मित्रता सभी उससे नष्ट हो जाते हैं। कषायों के ऐसे आत्मघाती स्वरूप को समझ कर ही उन्हें नष्ट करने का पुरुषार्थ जगाया जा सकता है।

### इन्द्रियों के विषयों का असद् एवं सद् उपयोग

मोह के प्रभाव से मन विमोहित होता है तथा वह पांचों इन्द्रियों को मोहवेश में दौड़ाने लगता है। इससे भांति-भांति की कामैषणाएँ जन्म लेती हैं, जो पांचों इन्द्रियों के विभिन्न विषयों के माध्यम से प्रकट होती हैं। इन्द्रियाँ पांच हैं और उनके विषय क्रमशः होते हैं—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। शब्द, रूप आदि में आसक्त प्राणी अन्ततः विषाद और दुःख को प्राप्त होता है किन्तु भोग के समय उसे मधुरता का आभास होता है। विषयेच्छाओं से व्याकुल चित्त वाला व्यक्ति हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है अतः अकृत्य तक कर डालने से हिचकिचाता नहीं है। इसी कारण इन विषयों को भोग के समय मधुर लेकिन परिणाम में अति कटुक होने से विष की उपमा दी गई है। विष से ही विषय शब्द बना है।

विषयों में आसक्ति भाव को तदनुरूप दृष्टान्त देकर समझाया गया है। शब्द में आसक्त हो जाने से हरिण व्याध का शिकार बन जाता है। रूप पर मोहित होकर पतंगा दीपशिखा में जल मरता है। गंध में गृद्ध बनकर भंवरा सूर्यास्त के समय कमल में बन्द हो जाता है। रस में लोलुप बनकर मछली काटे में फंसती है और अपना प्राण गंगा बैठी है। स्पर्श-सुख में आसक्त बनकर हाथी अपनी स्वतंत्रता को गंगा देता है। एक-एक विषय के वशीभूत हो जाने से भी जब ऐसी दुरवस्था होती है तो मनुष्य के लिये गंभीर चिन्तन की बात है कि यदि वह पांचों विषयों में व्यामोहित बना रहे तो वह कैसी भयानक दुर्दशा को प्राप्त होगा? आज मनुष्य जीवन की अवस्था ऐसी है कि वह इन इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बनकर विषयों का विविध रूपों में उपभोग करता है। उपभोग करता रहता है फिर भी उसे तृप्ति का अनुभव नहीं होता है। असल में होता यह है कि मदिरापान के समान ज्यों-ज्यों वह विषयों का उपभोग करता है, उसकी विषयेच्छाएँ शान्त होने की बजाय ज्यादा से ज्यादा भड़कती रहती हैं और व्याकुलता को बढ़ाती रहती हैं। विषयासक्त मनुष्य का ऐहिक जीवन भी नष्ट होता है तो पारलौकिक भविष्य भी बिगड़ जाता है।

इन्द्रियों के विषयों का यह असद् उपयोग है, जिसे मन निर्देशित करता है यानी कि मोहाविष्ट होकर मन इन्द्रियों को विषयों के असद् उपयोग के लिये आकर्षित करता है। यदि मन सचेतन हो जाये तो वही मन इन्द्रियों के इन्हीं विषयों का सद् उपयोग भी निर्धारित कर सकता है। एक तो ऐसे शब्द सुने जायें, जिनसे मोह का आवेग बढ़े, किन्तु विवेक जागृत हो तो ऐसे शब्द भी सुने जा सकते हैं, जिनसे मोह का आवेग घटे, अज्ञान का अंधकार मिटे और आत्म-स्वरूप की संज्ञा जागृत बने। ऐसे शब्द ज्ञान के वचन और प्रवचन हो सकते हैं। श्रवणेन्द्रिय तो शब्द सुनने का माध्यम है, क्योंकि शब्द उसका विषय है। शब्द कैसा हो और उसका जीवन के मूल्यों पर कैसा प्रभाव होगा—यह सोचना व तय करना मन का काम है। मन श्रवणेन्द्रिय को आदेश दे दे कि वह मोह बढ़ाने वाले नहीं, मोह घटाने वाले शब्द ही सुने तो निश्चय ही श्रवणेन्द्रिय वैसा ही करने लग जायेगी। मन के ऐसे ही विवेकपूर्ण आदेशों से चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शनेन्द्रिय भी तदनुसार अपने विषयों का सेवन करने लगेगी। तब मोह का दबाव घटने लगेगा और वैसी अवस्था में इन्द्रियाँ, मन तथा उनके साथ पूरा शरीर संयुक्त और सहयोगी बन जायेगा तथा वह धर्म साधना का मुख्य माध्यम हो जायेगा। मूलतः सद् और असद् अवस्था होती है मन की और निजात्मा की, अतः इन्हें ही असद् से सद् की तरफ मोड़ने के लिये पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है।

### पुरुषार्थ के पथ पर गतिशीलता

जब ज्ञान और विवेक की जागृति के साथ आत्मस्वरूप का अवलोकन होता है और विकारों के फैले हुए अम्बार पर दृष्टि जाती है, तब पुरुषार्थ का भाव उत्पन्न होता है। यह कि विकारों के उस मैल को मल-मल कर धोया जाये तथा आत्म-स्वरूप को निर्मल बनाने के लिये कठिन प्रयत्न किया जाये। यही भाव अमित उत्साह में बदलता है और क्रियाशील बनता है। पुरुषार्थ के साथ सक्रियता तब विकार-विनाश का प्रमुख कारण हो जाती है। जब इस तरह विकार-घात होने लगती है तो आत्मघात के घाव भरने लगते हैं—वहाँ एक नई रौनक छाने लगती है। चेतना शक्ति प्रबल होने लगती है और वह आत्मा के स्वरूप को मोह के घात-प्रतिघातों से आहत नहीं होने देती।

प्रबल चेतना शक्ति तब मोह की विद्रूप कषाय को जीतने के लिये आगे बढ़ती है। वह उमड़ते हुए क्रोध को शान्ति और क्षमा के द्वारा निष्फल बनाकर दबा देती है तथा बाद में क्षमा के गुण को अभिवृद्ध बनाती हुई इस कषाय का

क्षय ही कर डालती है। चेतना शक्ति के जागरण के साथ ही आत्मा की सद्गुण शक्तियाँ जीवन में क्रियाशील हो जाती हैं। मृदु और कोमल वृत्ति कठोर मान को भी परास्त कर देती है तथा ऋजुता और सरल भावना माया को नष्ट कर डालती है। सन्तोष रूपी धन तो दूसरे प्रकार के धनों के मोह को ही समाप्त कर देता है तथा लोभ पर विजय दिला देता है। ये आत्म-शक्तियाँ मनुष्य के जीवन को निरन्तर ऊपर से ऊपर उठाती रहती हैं।

कुंभ की उपमा से पुरुषार्थ के पथ पर गतिशील पुरुष की प्रगति के चरणों का लेखा-जोखा समझिये कि किस चरण से उठकर वह किस समुन्नत चरण तक पहुँच जाता है। इस प्रकार के चार चरणों का उल्लेख है— 1. विष कुंभ-विष पिधान—विष से ही भरा हुआ कुंभ और ऊपर ढक्कन भी विष का ही अर्थात् पुरुष का हृदय भी कलुषता से भरा हुआ तथा कटु भाषी भी। 2. विष कुंभ-मधु पिधान—कुंभ विष से भरा हुआ किन्तु उसका ढक्कन मधुमय होता है अर्थात् पुरुष का हृदय तो कलुषता से भरा हुआ किन्तु वचन और व्यवहार मधुर बन जाता है। 3. मधु कुंभ-विष पिधान—कुंभ मधु से भरा हुआ होता है किन्तु ढक्कन विष का अर्थात् पुरुष का हृदय तो निष्पाप और अकलुष हो जाता है लेकिन उसकी कटु-भाषिता रह जाती है। 4. मधु कुंभ-मधु पिधान—कुंभ मधु से भरा हुआ तथा मधु के ढक्कन वाला अर्थात् पुरुष का हृदय भी निष्पाप एवं अकलुष हो जाता है तथा उसकी वाणी और कृति भी मधुर बन जाती है।

पुरुषार्थ का प्रयोग जब मन, वचन एवं काया के संगठित रूप से किया जाता है, तब मोह का मान मर्दन होने लगता है और कषाय नष्ट होती जाती है। इन्द्रियों का विषय सेवन सद्रूप बन जाता है तथा आत्मिक शक्तियाँ भीतर व बाहर के समूचे वातावरण में प्रभावशाली हो जाती हैं।

### पुरुषार्थ कितने और उनका प्रयोग कैसा ?

प्रत्येक श्रम परिश्रम हो सकता है किन्तु प्रत्येक श्रम पुरुषार्थ नहीं होता। पौरुष के अर्थ में किया जाये, वही श्रम पुरुषार्थ कहलाता है। पौरुष का अर्थ होता है पुरुष की सच्ची शक्ति, जो उसकी आत्मशक्ति ही होती है। अतः जो श्रम आत्मशक्ति को पूर्ण निर्मल एवं प्राभाविक बनाने के लिये किया जाता है, वही सच्चा पुरुषार्थ होता है—पौरुष का अर्थ पौरुष के साथ। और तभी पुरुष स्वयं की परिभाषा भी सार्थक होती है। पुरुषार्थ चार कहे गये हैं— 1. धर्म, 2. अर्थ, 3. काम और 4. मोक्ष।

पुरुष का पौरुष सदैव प्रयोजन सहित ही प्रयुक्त होता है, इस कारण पुरुष के लिये मान्य प्रयोजन कौनसे हैं— उन पर विचार किया जाना आवश्यक है। जो पुरुष के प्रयोजन हैं, अपने वास्तविक अर्थ में वे ही पुरुषार्थ हैं। अतः पुरुषार्थ इस दृष्टि से चार माने गये हैं—

**1. धर्म—** पहला पुरुषार्थ है धर्म। जिसका पालन करने के लिये पुरुष सबसे आगे बढ़े।

धर्म की परिभाषा आप अच्छी तरह जानते हैं। अपने कर्तव्यों का पालन करना धर्म है, अपने स्वभाव में स्थित होना धर्म है तो जिससे सभी प्रकार का अभ्युदय हो तथा आत्म-स्वरूप पूर्णतः विकारयुक्त होकर निर्मल बन जाये—वही धर्म है। धार्मिक पुरुषार्थ ही मौलिक पुरुषार्थ होता है क्योंकि इसी पुरुषार्थ की सफलता में अन्य सभी प्रकार के पुरुषार्थों की सफलता समाविष्ट होती है। कर्मों के भार से जब आत्मा भारी होकर पतित होती रहती है, तब धर्म की ही आराधना से पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है और कर्मों की निर्जरा होती है। पुण्य कर्मों के अर्जन से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है तो कर्मों की निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस कारण पुरुष सदैव अडिग रहकर धर्म की आराधना करते हैं और अपने सच्चे एवं सुदृढ़ पौरुष का परिचय देते हैं।

**2. अर्थ—** अर्थ उसे कहते हैं जिससे सब प्रकार के लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि होती है। अभ्युदय के चाहने वाले गृहस्थ को न्याय एवं धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन करना चाहिये। स्वामीद्रोह, मित्रद्रोह, जुआ, चोरी, विश्वासघात आदि निन्दनीय उपायों का आश्रय न लेते हुए अपने कुल, जाति एवं व्यक्तित्व की मर्यादा के अनुसार नीतिपूर्वक उपार्जित अर्थ (धन) ही इस लोक तथा परलोक में हितावह होता है। न्याय और नीति से कमाये हुए धन का भी पुरुषार्थी पुरुष सत्कार्यों में व्यय करते हैं। जो धन अन्याय से कमाया जाता है, वह इहलोक-परलोक दोनों में दुःख का कारण होता है। अर्थ को जो पुरुषार्थ माना गया है, वह इसीलिये कि उसका उपार्जन धर्म के द्वारा और धर्म के लिये किया जाये। अन्याय एवं अनीति से उपार्जित अर्थ पुरुषार्थ नहीं होता है।

**3. काम—** मनोज्ञ विषयों की प्राप्ति द्वारा इन्द्रियों का तृप्त होना काम है। यह काम भी पुरुषार्थ इसी दृष्टि से कहा गया है कि कम से कम सीमित ब्रह्मचर्य का पालन किया जाये तथा अपने व्रतानुसार त्याग भाव रखा जाये, आसक्त भाव नहीं। सन्तानोत्पत्ति के कार्य में भी सद्गुणों एवं सुसंस्कारों के प्रत्यारोपण का भाव ही मुख्य हो। अमर्यादित एवं स्वच्छन्द कामाचार का तो सर्वत्र निषेध

किया गया है क्योंकि उसे पाप की श्रेणी में माना गया है और जो पाप होता है, वह पुरुषार्थ कभी नहीं होता।

**4. मोक्ष—** इसे पुरुष का सामान्य ही नहीं, परम पुरुषार्थ कहा गया है। राग-द्वेष तथा उनसे उपजे विकारों के सेवन से लगे हुए कर्मबंधनों से आत्मा को स्वतंत्र करने के लिये संवर और निर्जरा में उद्यम करना मोक्ष-पुरुषार्थ कहलाता है। इस पुरुषार्थ के आराधक पुरुष उत्तम पुरुष कहलाते हैं। तदनुसार मध्यम पुरुष वे कहे जाते हैं जो मोक्ष की परम उपादेयता को स्वीकार करते हुए भी मोह की प्रबलता से उसके लिये उचित प्रयत्न नहीं करते हैं तथा धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों में ही अविरोध रीति से उद्यम करते रहते हैं। किन्तु वे तो अधम कहलाते हैं जो मोक्ष के साथ धर्म की भी उपेक्षा कर देते हैं और केवल अर्थ और काम में ही अपनी सारी शक्ति का अपव्यय करते हैं।

### मोक्ष पुरुषार्थ की परम उपादेयता

मोक्ष पुरुषार्थ को ही सभी दृष्टियों से परम उपादेय कहा गया है, अतः मोक्ष पुरुषार्थ ही परम पुरुषार्थ है तथा ऐसा पुरुषार्थ करने वाला पुरुष ही उत्तम पुरुष होता है। पुरुषार्थ का सच्चा पथ भी मोक्ष पुरुषार्थ पर ही सम्पन्न होता है। इस पुरुषार्थ का नाम इस कारण विशिष्ट है जो पुरुषकार (यानी पौरुषपूर्ण उद्योग) कहा जाता है।

यों मोक्ष प्राप्ति के पांच कारण माने गये हैं—काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्मक्षय तथा पुरुषकार। इन पांचों कारणों का संयोग मिलना चाहिये, फिर भी पुरुषकार का विशेष महत्त्व कहा गया है। मोक्ष पुरुषार्थ की परम उपादेयता इसी दृष्टि से स्वीकार की गई है कि जब श्रेष्ठतम आदर्श को सम्मुख रखकर उस दिशा में गति की जाती है तो पुरुषार्थ के उस पथ पर कोई जितना भी चल पावे, वह उसकी उपलब्धि बन जाती है। मोक्ष के आदर्श को सामने रखकर जब अपनी आन्तरिकता में भरे हुए विकारों के अम्बार से संघर्ष करने का संकल्प किया जाता है तो पुरुषार्थ की उस प्रवृत्ति में सामान्य रूप से विराम लेने की इच्छा नहीं होती है क्योंकि आंखें उस आदर्श की ओर लगी रहती हैं जो बहुत कुछ कर लेने के बाद भी बहुत दूर दिखाई देता है।

मोक्ष के उच्चादर्श के ही कारण काम-भोगों की असारता समझ में आती है। मन और इन्द्रियों पर अंकुश लगाने की इच्छा होती है और इन्द्रियों के विषयों को भी शुभता में ढालने की प्रवृत्ति बनती है। शास्त्रकारों ने कहा है कि सभी संगीत विलाप रूप हैं, सभी नृत्य या नाटक विडम्बना रूप हैं, सभी

आभूषण भार रूप हैं तथा सभी शब्द, रूप, गंध, रस एवं स्पर्श रूप काम दुःखों के कारणभूत हैं। जैसे केले के वृक्ष में खूब गवेषणा करने पर भी कहीं सार नहीं मिलता, उसी प्रकार इन्द्रियों के काम-विषयों में भी तत्त्वज्ञों ने खूब खोज करके भी कहीं सुख नहीं देखा है। जैसे किंपाक फल अपने रूप, रंग और रस की दृष्टि से शुरू में खाते समय बड़े मनोहर मालूम होते हैं किन्तु पचने पर वे इस जीवन का ही नाश कर देते हैं। इसी प्रकार काम-भोग भी बड़े आकर्षक और सुखद प्रतीत होते हैं लेकिन अपने विपाक काल में वे सर्वनाश कर देते हैं। काम-भोग क्षण मात्र सुख देने वाले हैं और चिरकाल तक दुःख देने वाले हैं। इसमें सुख बहुत थोड़ा है पर अतिशय दुःख ही दुःख है। इसी कारण ये काम-भोग मोक्ष सुख के परम शत्रु हैं तथा अनर्थों की खान हैं। मोक्ष के पुरुषार्थी को काम-भोगों में मनोनिग्रह करके आगे बढ़ना होता है।

वस्तुतः मोक्ष का परम शत्रु मोह है। जैसे विषय विकारों को त्यागने की बात है, वैसे कषायों से तथा राग-द्वेष के घात-प्रतिघातों से भी आत्मस्वरूप को अलग रखने की बात है क्योंकि ये सब मोह के ही नायक हैं। राग और द्वेष ये दोनों ही पाप हैं और पाप कार्यों में प्रवृत्ति कराने वाले हैं। वैसे ही वशीभूत नहीं किये हुए क्रोध और मान कषाय तथा बढ़ते हुए माया और लोभ कषाय—ये चारों पुनर्जन्म रूपी संसार वृक्ष की जड़ों को हरा-भरा रखती हैं और इस आत्मा को सांसारिकता के दलदल में फंसाये रखती है। जो तप का आचरण करता है किन्तु कषायों का निरोध नहीं करता, गजस्नान की तरह उसका तप कर्मों की निर्जरा नहीं बल्कि अधिक कर्मबंध का कारण होता है। जो पुरुष क्रोधी है, वह सर्वत्र दोष ही दोष देखता है और शान्त हुई कलह को पुनः छेड़ता है।

क्रोधी पापात्मा स्वयं अशान्त रहता है तथा संकरे मार्ग में जाते हुए अंधे की तरह पग-पग पर दुःखी होता है। जो लोग माया प्रधान अनुष्ठानों में आसक्त रहते हैं, वे चाहे बहुश्रुत हों, धार्मिक हों या ब्राह्मण और भिक्षुक हों, कर्मों द्वारा अत्यन्त पीड़ित किये जाते हैं। अतः कषायों का त्याग एवं संयम का सेवन करके ही मोक्ष के परम पुरुषार्थ को सिद्ध किया जा सकता है।

### पुरुषार्थ के पथ से कभी न भटकें

वीतराग-वाणी को अन्तःकरण पूर्वक समझने वाले जानते हैं कि जब तक विषय एवं कषाय के विकारों पर नियंत्रण नहीं किया जाता है तथा मन, वचन व काया का योग व्यापार अशुभता में ही प्रवृत्त होता रहता है तब तक चाहे जितना धर्म का आचरण कर लिया जाये या तपश्चरण भी कर लिया जाये,

उससे जीवन में परिवर्तन नहीं आता। आत्म-स्वरूप में निर्मलता व्याप्त नहीं होती तथा शान्ति का रसास्वादन नहीं होता। अतः पुरुषार्थ का पथ वह होगा जो सबसे पहले विकार-दमन की दिशा में आगे बढ़ता हो।

पुरुषार्थ सिर्फ शारीरिक दृष्टि से ही नहीं, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से करना होता है। यह सद् विचारों का पुरुषार्थ होता है, साधना और तपस्या का पुरुषार्थ होता है। आत्म-स्वरूप ज्यों-ज्यों विकारमुक्त होता जाता है, त्यों-त्यों जीवन की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का संशोधन एवं परिमार्जन होता रहता है तथा इसी के साथ आत्म-स्वरूप निर्मल होता जाता है। यही वास्तव में सच्चे पुरुषार्थ का पथ है।

आत्म-स्वरूप को निर्मल बनाने वाले पुरुषार्थों में साहजिक योग का पुरुषार्थ श्रेष्ठ कहा गया है। साहजिक योग की सहायता से स्वाभाविक रूप में भीतरी विकारों को नष्ट किया जाता है। यह योग बाल मन्दिर की तरह सृजनात्मक और पवित्र है जिसका आविष्कार इसी शताब्दी में हुआ है। इससे जीवन के संस्कारों तथा वृत्तियों का संशोधन सहज रूप से हो जाता है। इसके लिये मस्तिष्क में अवकाश की आवश्यकता है, क्योंकि साहजिक योग की समझ के साथ ही शान्ति का स्वरूप भी स्पष्ट हो सकेगा। मैं इस साहजिक योग की उपलब्धि के लिये मित्रवत् भावना से कुछ आयाम आपको देना चाहता हूँ। जिन की आन्तरिक जिज्ञासा बढ़े वे सन्त जीवन से साहजिक योग की प्राप्ति कर सकते हैं। अन्य व्यक्ति भी अपनी वृत्ति में रहते हुए साहजिक योग को अपनाने की कोशिश कर सकते हैं। शर्त यही है कि साहजिक योग का अभ्यास करने के लिये तीव्र अभिलाषा के साथ कुछ समय का निर्धारण किया जाये। साहजिक योग की सद्बिधि से शरीर की सतर्कता, मन की शान्ति और आत्मा की शक्ति प्राप्त की जा सकती है।

इस रूप में साहजिक योग वह पुरुषार्थ का पथ है जिस पर पहले-पहले मजबूती से चल दिये और कदम स्थिर बन गये तो फिर उस पथ पर आगे बढ़ते रहने में कोई कठिनाई नहीं आवेगी। वीतराग देव के परम पावन सिद्धान्तों के रूप में यह जो पुरुषार्थ का पथ प्राप्त हुआ है, उस पर जो भी भव्य आत्माएँ दृढ़तापूर्वक चलेंगी, वे परम आनन्द और परम शान्ति की प्राप्ति करेंगी। मनुष्य यदि विचार एवं विवेकपूर्वक इस पुरुषार्थ के पथ पर चले, तो अपनी भौतिक सम्पत्ति तथा भीतर के विकारों का सहज ही में त्याग कर सकता है। यही नहीं, वह धनदान, ज्ञानदान, वचनदान, अभयदान तथा आध्यात्मिक दान तक साहजिक योग के प्रभाव से कर सकता है।



मनुष्य को यही सावधानी रखनी चाहिये कि वह पुरुषार्थ के पथ से भटके नहीं और उपलब्ध साधनों एवं शक्तियों का पुरुषार्थ जागृति की दृष्टि से सदुपयोग करे। अपने पुरुषार्थ प्रयोग से वह स्वयं सन्तुष्ट हो तथा दूसरों को पुरुषार्थ की सफल प्रेरणा देकर उन्हें भी सन्तोष का अनुभव करावे। युगद्रष्टा युग पुरुष आचार्य स्व. श्री जवाहर लाल जी म.सा. ने पुरुषार्थ की सच्ची परिभाषा समझायी थी। मौलिकता को देखे बगैर जो कृषि, पशुपालन, गोरक्षा आदि में महापाप बता रहे थे, उन्हें विविध युक्तियों से उन्होंने अल्पारंभ एवं महारंभ का रहस्य बताया। पुरुषार्थ के मूल स्वरूप पर उन आचार्य देव ने युगान्तरकारी प्रकाश डाला। अतः पुरुषार्थ का स्वरूप समझा जाये, पुरुषार्थ प्रयोग का प्रयोजन स्पष्ट किया जाये तथा पुरुषार्थ प्रयोग द्वारा आत्म-निर्मलता एवं शान्ति का लक्ष्य प्राप्त किया जाये—यही सर्वाधिक उपादेय है। पुरुषार्थ के पथ पर निरन्तर चलते रहें।

दिनांक 06.10.86

(जलगांव)

## 11

## आवश्यक है सिद्धान्तनिष्ठा

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

जिनदेव के चरणों में आत्मिक भावना के साथ अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा समर्पित करके हमें उनके सत्सिद्धान्तों को मनोयोगपूर्वक समझना, आचरण में उतारना तथा आत्मसात् करना है। यह आप जानते हैं कि वे 'जिन' कैसे बने? उनकी आन्तरिकता में जितना भी राग-द्वेष और विषय का विकार-समूह था, उसको उन्होंने जीत लिया। जेता होने से ही वे 'जिन' कहलाये। इसके साथ ही उन्होंने सभी भव्य आत्माओं को भी 'जिन' बनने का आह्वान किया एवं तद् हेतु उपदेशामृत की वर्षा की। उन उपदेशों में जिन सिद्धान्तों का व्यक्तीकरण हुआ, उनके प्रति ही अटूट निष्ठा रखने से प्रत्येक प्राणी अपना आत्मोद्धार कर सकता है।

ये सिद्धान्त भीतरी और बाहरी जीवन का संशोधन करके उसे पवित्र बनाने की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु उन्हें अपने जीवन में उतारने के लक्ष्य को अडिग बनाने के लिये उससे भी अधिक आवश्यक है कि उन सिद्धान्तों के प्रति सुदृढ़ निष्ठा का निर्माण किया जाये। निष्ठा से ही आचरण शक्ति प्रखर बनती है। आचरण की कसौटी पर कसे जाने के बाद ही सिद्धान्तों की महत्ता प्रकट होती है। जिनदेव के सिद्धान्तों की महत्ता भी उन्हीं के कठोर आचरण एवं आत्म-विकास के सर्वोच्च समुन्नयन के पश्चात् ही सुप्रकाशित हुई, अतः कसौटी की अब आवश्यकता नहीं क्योंकि उनकी उपादेयता सिद्ध हो चुकी है। अब तो जो भी साधक या उपासक उन सिद्धान्तों के प्रति अपनी अडिग निष्ठा का निर्माण करता है, वह उन सिद्धान्तों के क्रियान्वयन से अपना आत्म-विकास भी सम्पादित कर सकता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इन सिद्धान्तों की उपादेयता का अपने आचरित जीवन के उदाहरण से सुप्रचार किया जाये तो ऐसे भव्य सिद्धान्तों का सम्पूर्ण विश्व में प्रसार और

विस्तार हो सकता है। इस दृष्टि से जिनदेव के सिद्धान्तों के निष्ठापूर्वक अपनाने तथा उनका सम्पूर्ण विश्व में ठोस प्रचार करने के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन करने तथा अभियान चलाने की आवश्यकता है।

### निष्ठा सिद्धान्तों की गुणवत्ता के साथ

निष्ठा का प्रश्न किन्हीं भी सिद्धान्तों की गुणवत्ता के साथ ही पैदा होता है। जिनदेव के सिद्धान्तों की गुणवत्ता स्वयं उनकी जीवन-साधना के साथ सिद्ध हो चुकी है और उसके बाद भी अनेक भव्य आत्माओं ने उन सिद्धान्तों का अवलम्बन लेकर अपनी तेजस्विता प्रकट की है। यही नहीं, आज भी जो साधक या उपासक उन सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने का सुप्रयत्न कर रहे हैं, उनका स्पष्ट अनुभव है कि इन सिद्धान्तों का जीवन पर शुभ परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ता है। अतः गुणवत्ता की सर्वोत्कृष्टता प्रमाणित है और तदनन्तर उनके प्रति निष्ठा निर्माण की ही बात सामने आती है। इस निष्ठा का परिचय दो प्रकार से दिया जा सकता है—एक तो इस रूप में कि स्वयं इन सिद्धान्तों को ग्रहण कर अपने आचरण में क्रियान्वित करें तथा दूसरे, अपने आचरणगत प्रभाव के माध्यम से उन सिद्धान्तों का अधिकाधिक क्षेत्रों में प्रचार किया जाये ताकि अधिक से अधिक जन समूह उन्हें अपनाने के लिये तत्पर बन सकें।

आनुवंशिक परम्परा से इसका अनुमान करें तो जो जिनदेव के सिद्धान्तों के वंश परम्परा से उपासक और अनुयायी हैं, वे सौभाग्यशाली हैं कि उन्हें ऐसे दिव्य सिद्धान्त उत्तराधिकार से प्राप्त हुए हैं। इसे यदि ज्ञान एवं आचरण के साथ आत्मसात् करते हुए चलें तो वे अपने जीवन के आदर्श को सब ओर सुप्रकाशित कर सकते हैं। फिर भी कहना पड़ेगा कि ऐसे अनुयायियों में भी या तो आवश्यक निष्ठा की कमी है अथवा क्रियान्वयन की क्षमता का अभाव है कि ऐसे सिद्धान्तों से सुप्रकाशित पथ का ज्ञान होते हुए भी उनके जीवन का शुभ रूपान्तरण नहीं हो रहा है। कारण, जो भव्य आत्मा इन सिद्धान्तों का आंशिक रूप से भी वास्तविक अनुसरण कर लेती है, वह भी आत्मोत्थान के मार्ग पर आगे बढ़ जाती है।

आशय यह है कि वंश परम्परा के अनुयायियों में किसी कदर शिथिलता हो सकती है, किन्तु देखा गया है कि आज जो नवीन रूप से इन सिद्धान्तों का ज्ञान करता है, उसकी इनके प्रति अटूट निष्ठा बन जाती है। बाह्य धारणा से चाहे उन्हें जिनदेव का अनुयायी न कहें, किन्तु यथार्थता उनके पक्ष में आ जाती है। इस कारण इन दिव्य सिद्धान्तों का पवित्र स्वरूप यदि पहले अपने देश

भारत के ही भाई-बहिनों को भली प्रकार समझाया जाये तो इन सिद्धान्तों की महत्ता और गुणवत्ता व्यापक रूप से प्रकाशित हो सकती है। तब इनका प्रचार दूसरे देशों में भी प्राभाविक बन सकता है।

यह अवश्य है कि कई भाई सबसे पहले जिनदेव के सिद्धान्तों के वर्तमान अनुयायियों की संख्या के बारे में पूछते हैं और प्रश्न करते हैं कि पहले जैनों की संख्या अधिक थी, वह अब कम क्यों हो गई है? इसका क्या कारण है? उन भाइयों को मैं कई तरह से उत्तर दे सकता हूँ लेकिन इस प्रश्न का हकीकत में मैं उत्तर इस रूप में देना चाहूँगा कि सर्वप्रथम तो जो केवल नामधारी जैन हैं, वे सोचें और समझें कि जैन क्या होता है, उसके तत्त्व कौन-कौन से हैं तथा वे जैन क्यों कहलाते हैं व किस आधार पर उन्हें जैन कहलाना चाहिये? वे इन तथ्यों का अन्तःकरणपूर्वक चिन्तन करें तथा सिद्धान्त निष्ठा को पुनः अपनाकर सुदृढ़ बनावें। इस सत्य को वे समझें कि नाम मात्र धराने से न उन्हें लाभ है और न ही सिद्धान्तों का हित। यदि ऐसी समझ फल-फूल जाये तो संख्या भले कम हो, किन्तु सिद्धान्तनिष्ठ जैनों के प्रभाव से जिनदेव के सिद्धान्त प्रकाशमान एवं प्रभावशील बने रहेंगे।

### सिद्धान्त निष्ठा के सामने संख्या महत्त्वहीन

सिद्धान्त निष्ठा का ही मूल में महत्त्व होता है, उसके सामने संख्या महत्त्वहीन होती है। हजारों भेड़ों की पंक्ति को छिन्न-भिन्न कर देता है केवल एक अकेला सिंह, फिर संख्या का कैसा महत्त्व? हाँ, सिद्धान्तनिष्ठ अनुयायियों की जितनी अधिक संख्या बढ़ती है, वह संख्या केवल एक-एक के जोड़ से भी महत्त्वपूर्ण बनती जाती है। जिनदेव के सिद्धान्तों को मानने वाले भी उन्हें समझ लें और आचरण में उतार लें तो वे भी इस दुनिया में इन सिद्धान्तों के व्यापक प्रसार के लिये सर्च लाइट का काम कर सकते हैं।

स्वर्गीय आचार्यश्री एक बार इन्दौर पधारे थे। उस समय महू में सर्वोदय सम्मेलन हुआ था जिसमें भाग लेने के लिये आचार्य विनोबा जी भी आये हुए थे। विनोबा जी को मालूम हुआ कि इन्दौर में आचार्यश्री पधारे हुए हैं तो वे इन्दौर आये और उन्होंने जैन धर्म एवं उसके सिद्धान्तों की चर्चा के प्रसंग में आचार्यश्री से कहा— आप सोचते होंगे कि जैनों की संख्या कम है, लेकिन मैं सोचता हूँ कि केवल नामधारी जैनों की संख्या भले ही कम हो, लेकिन जैन सिद्धान्तों की श्रेष्ठता से प्रभावित लोगों की संख्या कम नहीं है। वे सारे संसार में जैन सिद्धान्तों की गुणवत्ता एवं उपादेयता को स्वीकार करते हैं। जो नामधारी

जैन हैं, वे भी यदि अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, स्याद्धाद आदि प्रमुख सिद्धान्तों को भी अपने जीवन में व्यावहारिक रीति से स्थान दें तथा उनका सब प्रचार करें तो संख्या भी बढ़ सकेगी और वह संख्या नामधारियों की नहीं, निष्ठावानों की होगी। जब विनोबा जी यह कह रहे थे तब मैं भी आचार्यश्री के चरणों में बैठा हुआ था और मैंने अनुभव किया कि यह बात कितनी सत्य है। ऐसे कई प्रसंग बने हैं जिनसे ऐसे भाव प्रकट होते रहे हैं।

यह सुनिश्चित करने की बात है कि जैन नाम किसी विशेष जाति या वर्ग का नाम नहीं है। जैन वह कोई भी हो सकता है और कहला सकता है जो जिनदेव के सिद्धान्तों के प्रति अपनी निष्ठा बना ले। इस श्रेणी में मनुष्य ही नहीं, संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी भी आ सकते हैं। आज का मानव जिन संस्कारों में पल रहा है, वह जैन शब्द की वास्तविकता को नहीं समझता है तथा जैन और अजैन नाम से अलग-अलग वर्गों की धारणा बनाता है। ऐसी गलत धारणा से कभी-कभी एक दूसरे के प्रति घृणा के भाव भी फैलाये जाते हैं, किन्तु सभी पक्षों को सही स्थिति समझनी चाहिये। जैन धर्म के सामान्य अनुयायी तथा श्रावक-श्राविकाएँ भी अपने जैन होने के वास्तविक महत्त्व को हृदयंगम करें और मानें कि संसार के समस्त मनुष्य और प्राणी उनके अपने आत्मीय हैं। फिर संख्या चाहे जितनी कम भी हो किन्तु सिद्धान्त निष्ठा बलवती सिद्ध होगी।

### अजैन कहे जाने वालों की सिद्धान्त-ग्राहकता

जो जैन और अजैन के अलग-अलग वर्ग खड़े करते हैं, वे पास में आकर देखें तो पता चले कि अजैन कहे जाने वाले व्यक्तियों की जिनदेव के सिद्धान्तों के प्रति कैसी गुण ग्राहकता है और उनकी कितनी अडिग निष्ठा बन रही है। नामधारी जैनियों में हो सकता है कि यह सिद्धान्त निष्ठा पर्याप्त परिमाण में नहीं पायी जाती हो किन्तु जो अजैन कहे जाने वाले भाई-बहिन इन सिद्धान्तों के सत्सम्पर्क में आ रहे हैं, उनकी निष्ठा तो देखते एवं अनुभव करते हुए ही बनती है। उन पर पड़े या पड़ रहे इन सिद्धान्तों के प्रभाव की दृढ़ता का अंकन किया जाये तो आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है।

धर्मपाल प्रवृत्तियों को लेकर जो चर्चा सामने आ रही है, वह इस परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है। धर्मपाल भाइयों का कुछ इतिहास मानव मुनि ने, कुछ साधुमार्गी संघ के युवा नेताओं ने तथा कुछ स्वयं धर्मपाल भाइयों ने आपके सामने अभी सुनाया है। इसमें आपको उनकी अनुभूति का परिचय मिला

होगा। आपको यह भी अनुमान लगा होगा कि बलाई जाति के होते हुए भी इन धर्मपाल भाइयों ने जिनदेव के सिद्धान्तों को कितनी हार्दिकता से अपना लिया है तथा वे उनका कैसी निष्ठा के साथ पालन कर रहे हैं।

मैं आपको अपना स्वयं का एक अनुभव सुनाऊं। स्व. आचार्यश्री का रतलाम में चतुर्मास हुआ था तब मैं भी उनकी सेवा में था। उसके बाद हम दो सन्तों को आचार्यश्री ने करौली की तरफ विचरने के लिये भेजा। रास्ते में एक बार सूर्यास्त होने की स्थिति आ रही थी तभी एक गांव दृष्टि में आया। वहां बाहर ही एक पक्का मकान दिखाई दिया। पूछा तो वह पंचायत भवन निकला। हमने वहां बैठे एक भाई से ठहरने की आज्ञा चाही तो उसने इनकार कर दिया। हमने कारण पूछा तो उसने कहा कि वह हरिजन है इस कारण हम ठहरना नहीं चाहेंगे। तब मैंने कहा—हमारे मन में जाति का कोई भेदभाव नहीं होता है और यदि वह ठहरने देगा तो हम ठहरने को तैयार हैं। हम वहां ठहरे और वह रात में काफी देर तक हमारे पास बैठा रहा तथा जैन धर्म के सिद्धान्तों के विषय में जिज्ञासावश पूछता रहा। वह सारी जानकारी लेकर बहुत खुश हुआ और उसने हमसे नवकार मंत्र भी सीख लिया। उसने अपने कई भाइयों को बुलाया और उन्हें भी जैन सिद्धान्तों की जानकारी दिलायी। ये शब्द उनके मुंह से निकले कि ऐसे अच्छे सिद्धान्तों का परिचय तो सारी दुनिया में फैलाया जाये तो सबका उपकार होवे। आर्य समाज के व्यवहार से हमको सन्तोष नहीं है किन्तु जैन सिद्धान्तों की जो जानकारी मिली है उस पर हम चलेंगे तो हमारा जीवन बहुत अच्छा बन जायेगा। फिर उन्होंने कहा—महात्मा जी! हम आपका चरण स्पर्श करना चाहते हैं। क्या हम ऐसा कर सकते हैं? मैंने कहा—“मैं तो अपनी इतनी योग्यता नहीं मानता हूँ किन्तु अस्पृश्यता भी नहीं मानता हूँ, इस कारण आपकी मरजी हो तो मैं ना नहीं कहूंगा”। सभी भाइयों ने तब सन्तों का चरण स्पर्श किया व अपना भक्तिभाव प्रदर्शित किया। उनके मुखिया ने तो इतना कहा कि वह आसपास के कई गांव के हरिजनों का मुखिया है और यदि आप इन गांवों में चलकर ये सिद्धान्त समझावें तो सभी हरिजन जैन बन जायेंगे। मैंने यही कहा कि गुरुदेव की आज्ञा के बिना हम कुछ नहीं कर सकते हैं। इससे इस यथार्थता का पता चलता है कि यदि जैन सिद्धान्तों से अपरिचित लोगों को इनकी जानकारी दी जाये तो वे प्रसन्नतापूर्वक इन्हें अपनाकर अपने आचरण में उतारने का अन्तःकरण से प्रयत्न करेंगे। यह इन सिद्धान्तों की वास्तविक प्राभाविकता का विषय है। नगाड़े के ऊँट नगाड़े का महत्त्व न समझ सकें—यह दूसरी बात है लेकिन दूसरे ऊँट नगाड़े को जरूर ध्यान से सुनेंगे।

## इन सिद्धान्तों की प्राभाविकता अपूर्व है

ऐसा एक प्रसंग और याद आ गया है, जब जिनदेव के सिद्धान्तों की अपूर्व प्राभाविकता का हमें प्रत्यक्षतः अनुभव हुआ। हम कुछ सन्त धर्मपाल भाइयों के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे—उस समय हमारे साथ मार्ग बताने वाला भी कोई भाई नहीं था। रास्ता पूछते-पूछते एक गांव में पहुंचे, वहां एक स्कूल में हम रुक गये। घरों के बारे में पूछताछ की तो पता चला कि उस गांव में सभी घर खाती लोगों के थे। यह भी पता चल गया कि सभी लोग निरामिष भोजी हैं। इतने में कुछ भाई हमारे पास आये और बोले—बताइये, कितने लोगों का खाना, चाय, नाश्ता बनाना है? मैंने कहा—हमारे लिये बनाया हुआ खाना हमारे काम नहीं आता है। आप तो हमें अपने घरों में घुमा दो सो हमारे नियम से जो कुछ मिलेगा, वह हम ले लेंगे। फिर दो-चार खाती लोगों के घरों में हमने गोचरी की तो वे आश्चर्य करने लगे और कहने लगे कि हमारे गुरु आते हैं तब तो हमें बहुत लोगों के लिये मिष्ठान्न आदि बनाना पड़ता है और आप तो इस तरह थोड़ा-थोड़ा निर्दोष आहार-पानी लेते हैं। एक बुढ़िया तो टोकरी भरकर आम हमारे स्थान पर ले आई और बोली—पहले ये खा लो, मेरे ये आम बहुत मीठे हैं। फिर हमने सब लोगों को हमारी आहार-पानी लेने की विधि की सरल शैली में जानकारी दी तो सब दंग रह गये। जैन मुनियों के ऐसे त्याग की वे भूरि-भूरि सराहना करने लगे। रात्रि को प्रतिक्रमण के बाद भी सभी लोग हमारे स्थान पर इकट्ठा हो गये और जैन सिद्धान्तों के बारे में पूछने लगे। उन्होंने हमारी जानकारी लेकर बहुत ही सन्तोष प्रकट किया। एक भाई ने पूछा—आपके चौमासे में कितना खर्च आता है? मैंने कहा—हमारा तो कुछ भी खर्चा नहीं होता है? हम तो अपना थोड़ा-थोड़ा आहार-पानी कई घरों से उसी तरह लेते हैं जिस तरह आज आपके घरों से लिया। तब रतलाम का एक भाई भी वहां उपस्थित था, उसने बताया—महाराज साहब को तो कुछ नहीं चाहिये लेकिन जो इनके दर्शन करने के लिये आते हैं, उनके खाने-पीने की सुविधा की जाती है। उन खाती भाइयों की जिज्ञासा और उत्कंठा को देखते हुए मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि मैं एक सप्ताह इस गांव में रुक जाऊं तो सभी खाती लोग जिनदेव के अनुयायी बन जायें।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार छोटे-छोटे गांवों के विवेकशील लोगों को अगर समय-समय पर संस्कार देने तथा सिद्धान्तों की जानकारी कराने का काम किया जाये तो जिनदेव के निष्ठावान अनुयायियों की उपलब्धि हो सकती है क्योंकि इन सिद्धान्तों की प्राभाविकता अपूर्व और अनिर्वचनीय है।

मैं तो छोटे-छोटे गांवों में विचरण करके आत्म-शुद्धि के संस्कारों को प्रसारित करना चाहता हूँ। आप निष्ठावान भाई-बहिन भी इसमें योग दे रहे हैं—धर्मपाल प्रवृत्ति के विस्तार हेतु आप लोगों ने पदयात्राएँ भी की हैं और छुआछूत को हटाने के लिये भी आपके प्रयत्न चल रहे हैं। फिर भी मैं कहूँगा कि ये प्रयत्न सीमित हैं। इनको निरन्तर और नियमित रीति से संस्कार देते रहने की आवश्यकता है, जिससे कि इनके मन में एक दूसरे के प्रति राग-द्वेष के विचार कम हों और समभाव की वृद्धि हो। इसके साथ ही कितने ही जन्मजात जैन भी हैं लेकिन अपने मौलिक संस्कारों से विस्मृत हो गये हैं, उनके संस्कारों को भी सुचारु बनावें। जब तक जैन कहलाने वाले भाइयों के संस्कार शुद्ध नहीं होंगे, तब तक जैन सिद्धान्तों के संस्कार दूसरों तक पहुंचाना उतनी सफलता से नहीं किया जा सकेगा।

### नामधारी जैन भी निष्ठाधारी बनें

घरों में संस्कारयुक्त वातावरण के मन्द हो जाने से तथा सन्तों का सम्पर्क भी कम हो जाने से वंश परम्परा से अपने को जैन मानने वाले भी कई भाई-बहिन जैन धर्म से दूर जा रहे हैं। प्रचार-प्रसार के नाते पर्युषण के आठ दिनों में कुछ संस्कार दिये जाते हैं लेकिन वे पर्याप्त नहीं होते हैं। यदि प्रत्येक परिवार के एक या दो भाई स्वयं संस्कारी बनकर जिनदेव के सिद्धान्तों का गांव-गांव में प्रचार करें तो जैन धर्म के संस्कार अनेक घरों में पहुंच सकते हैं। नामधारी जैनों में भी ऐसे अभियान से नया उत्साह पैदा होगा और वे भी संस्कार ग्रहण करके निष्ठाधारी जैन बनने का सत्प्रयास कर सकेंगे।

जिनदेव के सिद्धान्तों का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार हो— इसके लिये यह आवश्यक है कि सभी वर्तमान अनुयायी इन सिद्धान्तों के प्रति अपनी निष्ठा का निर्माण करें तथा सामान्य निष्ठा को सुदृढ़ बनावें। कई जैन भाई ऐसे भी हैं, जिन्हें इन सिद्धान्तों का ज्ञान है तथा सिद्धान्तों के प्रति सामान्य रूप से निष्ठा भी है, किन्तु नव धनाढ्य या धनाढ्य होने के नाते आडम्बर, फैशन और आधुनिकता के चक्कर में पड़कर अपना खान-पान और अपने रीति-रिवाज बिगाड़ रहे हैं, यह अधिक चिन्तनीय बात है। आजकल कई जैन लोग भी विवाह शादी के प्रसंग से बरातों को बड़े-बड़े होटलों में ठहराते हैं या कि वैसे होटलों में पार्टियाँ देते हैं जिनमें मांस, मदिरा, अंडा आदि अखाद्य वस्तुओं का उपयोग किया जाता है। इन पार्टियों में नई उम्र के बच्चे और युवक भी पहुंचते हैं तथा वे विकृत संस्कारों को पकड़ते हैं। स्वयं सामिष



भोजन का उपयोग न भी करें, तब भी दूसरों को परोसना भी उतना ही निन्दनीय होगा बल्कि अधिक निन्दनीय, क्योंकि उससे अपने अहिंसामय धर्म की भी वे अपकीर्ति करते हैं।

आप जानते हैं कि जैन धर्म में अभयदान का कितना उत्कृष्ट महत्त्व माना गया है। यदि एक व्यक्ति से मांसाहार छुड़ाया जाये तो कई पशु-पक्षियों को अभयदान मिलता है—ऐसा माना जाता है। वहां पर यदि जैन कहलाने वाले लोग ही मांसाहार को प्रोत्साहन देने लगें तो वह भारी अनर्थ कहलायेगा। आप प्रौढ़ लोग गलत रास्ते पर चलें और भावी पीढ़ी का भी ध्यान नहीं रखें तो क्या आप महापाप के भागी नहीं होंगे? इसका आपको चिन्तन करना चाहिये। ऐसा आचरण आपके जैन नाम पर भी कलंक लगाता है। इसलिये आप लोग प्रत्याख्यान लीजिये कि ऐसी पार्टियां न आप स्वयं आयोजित करेंगे और न ही ऐसी पार्टियों में शरीक होंगे। बल्कि अपने परिवार के व भावी पीढ़ी के सदस्यों को भी समझा कर उन्हें शरीक नहीं होने देंगे। यह भी एक विचारणीय बिन्दु है कि कई सम्पन्न जैन भाई अपने बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा कॉन्वेंट, अंग्रेजी या ईसाई स्कूलों में कराने लगे हैं, जहां वे पाश्चात्य संस्कारों में पलते हैं और अपने पारम्परिक संस्कारों से वंचित रहते हैं। गहराई से विचार करें कि क्या यह उचित है? कम से कम प्रारंभ में तो अपने बच्चों को नैतिक एवं सैद्धान्तिक संस्कार दीजिये ताकि उनके जीवन की नींव मजबूत हो सके। नींव मजबूत रहेगी तो आगे के जीवन में गिरते-पड़ते भी वे अपने शुभ संस्कारों को नहीं त्यागेंगे।

सिद्धान्त-निष्ठा की समस्या का समाधान पहले अपने घर से ही करने लगेंगे तो वह श्रेष्ठ रीति मानी जायेगी। अपने घर से आगे बढ़ते हुए संसार के विस्तृत फैलाव तक पहुंचा जा सकता है। इस क्रम से जो गति होगी, वह प्रभावकारी भी होगी तथा फलदायी भी। जब एक उत्कृष्ट तत्त्व ज्ञान हमारी विरासत है तो क्यों नहीं हम निष्ठा के साथ उसे जानें तथा उसका सर्वत्र प्रसार करें?

### जिनदेव के सिद्धान्तों पर एक विहंगम दृष्टि

जिनदेव के सिद्धान्त इतने व्यापक, उदार तथा कल्याणकारी हैं कि संसार के प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन के सम्पूर्ण विकास का तथा समग्र प्राणी समाज के हित का मार्ग दिखाते हैं। इनमें न अनुदारता है और न ही संकुचितता। ये किसी सम्प्रदाय, वर्ग, क्षेत्र या जातिविशेष से भी सम्बन्धित नहीं

हैं। इनमें स्त्री और पुरुष के भेद का भी भाव नहीं है। जहां ये सम्पूर्ण मानवीय मूल्यों का संरक्षण करते हैं, वहां छोटे से छोटे जीव की भी रक्षा करने का निर्देश देते हैं। ये सिद्धान्त अन्धानुकरण को किसी भी प्रकार से प्रोत्साहित नहीं करते हैं बल्कि प्रत्येक आत्मा को प्रबोध देते हैं कि वह अपने अज्ञान और मिथ्यात्व को दूर करे तथा सम्यक्त्व की वृत्ति के साथ सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना करे।

ये सिद्धान्त जहां एक व्यक्ति के जीवन को आत्म-विकास के सर्वोच्च शिखर तक पहुंचा देने में सक्षम हैं, वहां परिवार, समाज, राष्ट्र तक के सामूहिक जीवन को भी समतामय बनाने की प्रेरणा देते हैं। समस्त मनुष्य जाति ही नहीं, सारे संसार के सभी प्राणियों में आत्म-समता जगाना और सर्वहित में समर्पित भाव से कार्य करना—यह इन सिद्धान्तों की पावन शिक्षा है। वर्तमान विश्व के विषम वातावरण में भी ये सिद्धान्त उतने ही उपादेय हैं जितने इनके जन्म काल से रहे होंगे। इनके दिखाये मार्ग पर चलकर आज भी मानवीय मूल्यों की रक्षा, अन्तरराष्ट्रीय सद्भावना तथा विश्व शान्ति की स्थायी रूप से स्थापना की जा सकती है।

समुच्चय में इन दिव्य सिद्धान्तों का विवरण देना हो तो कहना होगा कि व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण विश्व की सभी समस्याओं का समाधान और श्रेष्ठ समाधान इन सिद्धान्तों की सहायता से सरलता एवं सदाशयतापूर्वक किया जा सकता है। व्यक्ति हो अथवा राष्ट्र—सबके बीच मुख्य रूप से दो ही प्रकार के विवाद पैदा होते हैं और वे सारे वातावरण को कटु एवं हिंसक बना देते हैं। व्यक्ति होता है तो व्यक्तिगत हिंसा—हत्या पर उतर आता है तथा राष्ट्र होते हैं तो वे युद्धों और महायुद्धों की महाहिंसा में उलझ जाते हैं। जहां हिंसा होती है वहां विनाश के सिवाय और होता ही क्या है? आज के भयंकर अणु अस्त्रों की उपस्थिति में तो सम्पूर्ण मानव जाति के विनाश का खतरा ही सबके सामने मुंह-बाये खड़ा है।

विवाद और संघर्ष के मुख्यतः दो प्रकार होते हैं—स्वार्थों का संघर्ष तथा विचारों का संघर्ष। व्यक्ति भी इनमें उलझते हैं और राष्ट्र भी। स्वार्थ का अर्थ है—दूसरों के हित की उपेक्षा करके अपनी ही आवश्यकताओं एवं लालसाओं की पूर्ति में मानवीय मूल्यों को छोड़कर अन्याय व अनीति से जुट पड़ना। इस संघर्ष को रोकने का ही नहीं, जड़ से मिटा देने का जैन सिद्धान्त है—अहिंसा का सिद्धान्त। इस अहिंसा का इतना ही स्थूल अर्थ नहीं है कि किसी को न मारना। इस सिद्धान्त का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया गया है उसका मोटा-मोटा सार यह

है कि 'जीओ और जीने दो' यानी कि व्यक्ति और राष्ट्र सब सह-अस्तित्व को स्वीकार करें। सह-अस्तित्व को मानेंगे तो सबके अस्तित्व की रक्षा का दायित्व सबके ऊपर रहेगा और इस अस्तित्व रक्षा के प्रश्न पर प्रबुद्ध व्यक्तियों को आगे बढ़कर आत्म-त्याग एवं बलिदान की बात भी करनी होगी तथा ऐसा ही प्रयास बड़े और शक्तिशाली राष्ट्रों को भी करना होगा। यह 'जीओ और जीने दो' से भी आगे का कदम होगा कि दूसरों को जीने देने के लिये अपनी तरफ से त्याग भी करना पड़े तो वह किया जाये-सहर्ष किया जाये।

अहिंसा के ऐसे अनुपालन में प्रत्येक मानव तथा प्राणी के भौतिक एवं आध्यात्मिक निर्वाह की जिम्मेदारी सबको महसूस होगी। प्रत्येक को निर्वाह के साधन उपलब्ध हों तो जीवन विकास के सुन्दर विचार भी। अहिंसा में अपरिग्रहवाद, अस्तेय आदि कई ज्ञान एवं आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा विधि विधानों का समावेश माना जा सकता है।

विचारों के संघर्ष को मिटाने, विचार सामंजस्य को लाने तथा पूर्ण सत्य के निकट पहुंचने का सार्थक माध्यम है- स्याद्धाद या अनेकान्तवाद का सिद्धान्त। वस्तु स्वरूप के किसी एक पहलू को पकड़कर हठाग्रह करने की वृत्ति का यह विरोधी है। इसकी प्रेरणा है कि वस्तु स्वरूप को उसकी समस्त अपेक्षाओं, दृष्टियों तथा धारणाओं से समझने का प्रयास करें यह मानते हुए कि प्रत्येक मान्यता में सत्यांश रहा हुआ है अतः उन सत्यांशों को समझते हुए तथा ग्रहण करते हुए सम्पूर्ण सत्य के साक्षात्कार की ओर आगे बढ़ें। यह सिद्धान्त प्रत्येक विचारधारा या मान्यता का सम्मान करना चाहता है तथा उसे उसके एकांगी दृष्टिकोण को दूर करने की शिक्षा देना चाहता है। मेरा ही विचार श्रेष्ठ है-यह हठ है और जहां मात्र हठ होता है, वहां उस विचार का सत्य भी असत्य में ढल जाता है। सत्य हठ का विषय नहीं होता, सबको समझाने और सबके मानने का विषय होता है, क्योंकि सत्य सबका समान रूप से हितावह होता है।

यदि स्वार्थी और विचारों के संघर्ष न हों या कम हो जायें तो निश्चित मानिये कि व्यक्तिगत विकारों तथा समूहगत दुष्कृत्यों में भी एकदम कमी आ जायेगी। "सब एक के लिये हैं और एक सबके लिये है" के सिद्धान्त में कितनी मानवता, सौहार्द्रता एवं सहयोगात्मकता का श्रेष्ठ भाव भरा हुआ है? यह सब जिनदेव की पावन सिद्धान्तों की महिमा है, जो क्षेत्र व काल की सीमाओं को लांघकर सर्वजन हितैषिता एवं सर्वप्राण सुरक्षा के प्रतीक बने हुए हैं।

### जैसे श्रेष्ठ सिद्धान्त, वैसी श्रेष्ठ निष्ठा भी हो

जिनदेव के सिद्धान्त जैसे श्रेष्ठ हैं, वैसी ही श्रेष्ठ निष्ठा उनके प्रति होगी तो वैसी ही श्रेष्ठता इन सिद्धान्तों के सच्चे अनुयायियों के ज्ञान एवं आचरण में भी उत्पन्न हो जायेगी। अहिंसा, दया, सत्य, अचौर्य, समता आदि सत्सिद्धान्तों के श्रेष्ठ संस्कार स्वयं भी लीजिये इतनी प्रखर निष्ठा के साथ कि जो भी उस संस्कारमय आचरण को देखे, वह तुरन्त उससे प्रभावित हो जाये तथा स्वयं भी उन संस्कारों को ग्रहण करने के लिये उत्सुक हो जाये। सिद्धान्त निष्ठा की ही विधि वह विधि है जिसके द्वारा जिनदेव के सिद्धान्तों का सुदूर क्षेत्रों तक तथा सारे विश्व में आचरण-प्रेरक प्रसार किया जा सकता है।

दिनांक 07.10.86

(जलगांव)

## 12

## संसार का संसरण

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

परमात्मा के चरणों में शास्त्रीय गाथाओं के उच्चारण के साथ अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं तथा प्रयास करते हैं कि उनके उपदेशों पर परस्पर में चर्चा करके मक्खन के समान उनका सार—निष्कर्ष रूप में समझ कर उसे ग्रहण करें। उस निष्कर्ष से ही यह स्पष्ट हो सकेगा कि इस संसार का संसरण कैसे होता है तथा उसमें जीवात्मा का कितना योगदान है? वह योगदान किस रूप में होता है तो उसका कैसा फल मिलता है तथा वस्तुतः वह योगदान किस रूप में होना चाहिये? जिस समुद्र में यह जीवात्मा तैर रहा हो या डूब रहा हो किन्तु उसका यथार्थ स्वरूप जाने बिना उसमें वह भली प्रकार से तैर नहीं सकेगा और तैर कर पार भी पहुंच नहीं सकेगा। संसार समुद्र से पार उतरने के लिये संसार के संसरण का ज्ञान मौलिक रूप से आवश्यक है।

संसार का प्रत्येक जीवात्मा सुख और शान्ति की चाह रखता है, किन्तु उसके साथ विडम्बना यह होती है कि चारों ओर उसे अशान्ति का ही सामना करना पड़ता है। ऐसे वातावरण में वह शान्ति लाभ कैसे कर सकता है—इसका ज्ञान भी उसे वातावरण के मूल कारणों से ही हो सकेगा जिन्हें वह दूर करे और शान्ति का स्वाद चखे। शान्ति के प्रथम सोपान को पाने के लिये संसार में प्रयास करना होगा और इसके लिये संसार के संसरण को समझ लेना बहुत ही जरूरी है।

संसरण करता है इसीलिये इसका नाम संसार है। यह संसरण कैसे होता है और इसे कौन करता है? इस दृष्टि से दो ही तत्त्व मुख्य हैं—जीव और अजीव। यह संसरण इन दोनों के संयोग से ही होता है। यदि जीव शुद्धता से अपने मूल स्वरूप में पहुंच जाये तो वह सिद्ध हो जायेगा और उस अवस्था में उसका इस संसार से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहेगा। दूसरी ओर, कोरा अजीव तत्त्व निष्क्रिय ही पड़ा रहेगा क्योंकि क्रिया करने की शक्ति जीव तत्त्व में ही

होती है। किन्तु जब जीव और अजीव तत्त्व दोनों परस्पर संयुक्त रहते हैं, तब उनके ही द्वारा नानाविध क्रियाएँ इस संसार में होती हैं तथा होती रहती हैं। परिवार, समाज, राष्ट्र आदि तरह-तरह के घटक चलते हैं तो जनन-प्रजनन क्रिया से वंश वृद्धि होती रहती है। यही संसार का संसरण है, जो जीव-अजीव संयोग की निरन्तर गतिशील प्रक्रिया पर आधारित है।

### षड्रव्यों में जीव द्रव्य की श्रेष्ठता

यह संसार षड् द्रव्यों—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव से बना हुआ है तथा इन्हीं के आधार पर संसरण करता है। इन छः द्रव्यों में एक जीव द्रव्य ही चेतनाधारी होता है, वरना अन्य पांचों द्रव्य निर्जीव होकर जड़ या अजीव कहलाते हैं। अतः स्वाभाविक है कि सभी द्रव्यों में जीव द्रव्य श्रेष्ठ कहलाए।

संसार की समस्त प्रक्रियाओं का अध्ययन करेंगे तब भी जीव द्रव्य की श्रेष्ठता सिद्ध हो जायेगी। जीव द्रव्य इस हेतु से भी श्रेष्ठ है कि इस संसार के चलने में यही द्रव्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञान सीखकर धारण करने की तथा तदनुसार उसे अपने आचरण में उतारने की शक्ति जीवात्मा में ही है। नव तत्त्वों का सम्बन्ध भी प्रधानतः जीव द्रव्य से है, किन्तु नव तत्त्वों के विश्लेषण से ये सब तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं कि जीव और अजीव तत्त्वों का मूल व वर्तमान स्वरूप कैसा है, क्यों जीव और अजीव तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध जुड़ता है व कैसे जुड़ता है तथा हितावह होने की दृष्टि से जीव अपना सम्बन्ध विच्छेद सम्पूर्ण रूप से अजीव से किस पुरुषार्थ के साथ एवं किन क्रियाओं के माध्यम से कर सकता है? वास्तव में नवतत्त्वों में ही इस संसार के संसरण की समस्त गतिविधियों का रहस्य समाया हुआ है।

तत्त्वों की दृष्टि से देखा जाये तो निर्जीव पदार्थों की संख्या अधिक मालूम होगी क्योंकि संख्या के हिसाब से जीव तत्त्व की कमी पायी जायेगी। लेकिन जो योग्यता और क्षमता जीव में होती है, वह अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं है। यह विशिष्टतापूर्ण योग्यता तथा क्षमता ही आत्मा का स्वरूप है। यह स्वरूप उपयोग और ज्ञानमय होता है, जिसके प्रभाव से आत्मा ही नीति व अनीति का विज्ञान कर सकती है तथा क्रियाशीलता की कठोरता की गहराइयों तक में प्रवेश कर सकती है। यही कारण है कि ऐसी आत्मा को धारण करने वाले मनुष्य ने विज्ञान, खगोल, भूगोल आदि विविध क्षेत्रों में आश्चर्यजनक अनुसंधान तथा आविष्कार किये एवं भांति-भांति की नवीन सफलताएँ प्राप्त की। आधुनिक

युग में तो ऐसी भौतिक सफलताओं का तांता ही लगा है। किन्तु जो मौलिक कार्य मनुष्य नहीं कर पा रहा है, वह है—स्वयं उसके जीवन का इस रूप में संशोधन एवं परिमार्जन कि वह स्व-पर कल्याण का वाहक बन सके।

ऐसा क्यों हो रहा है? जब भौतिक क्षेत्र में वह इस प्रकार से अपूर्व सफलता प्राप्त कर रहा है, तो इससे भी अधिक उल्लेखनीय सफलता उसे आध्यात्मिक क्षेत्र में भी प्राप्त करनी चाहिये। एक क्षेत्र की सफलता से उसकी योग्यता और क्षमता तो सिद्ध होती ही है। इसका एक ही कारण है और वह यह कि उसका दृष्टिकोण एकांगी बना हुआ है। अपने स्वरूप में प्राप्त श्रेष्ठता के बावजूद वह अपनी उस योग्यता, क्षमता एवं श्रेष्ठता का उपयोग मानव सेवा, आत्मोत्थान एवं सर्वहितैषिता के क्षेत्रों में नहीं कर पा रहा है। वह चेतनाशील होते हुए भी अपनी सभी शक्तियों का प्रयोग जड़ तत्वों की प्राप्ति के लिये ही कर रहा है। भौतिकता के प्रति अंधभाव से वह इसी दिशा में अपनी सारी शक्ति का जीवन भर अपव्यय करता रहता है कि उसके पास आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रगति करने के लिए पर्याप्त शक्ति बचती ही नहीं है। ऐसी अवस्था में मनुष्य या कि जीवात्मा की श्रेष्ठता कैसे सिद्ध हो सकती है? यह सोचने की आवश्यकता है। यदि मनुष्य बाहर के जड़ दृश्यों को ही देखता है तथा उन्हीं में रमता रहता है तो वह अपने आत्म-स्वरूप को न तो देख सकता है और न उसका संशोधन कर सकता है।

### संसार में परिभ्रमण की जटिलता

जीवद्रव्य यानी कि स्वयं की श्रेष्ठता को ही प्रमाणित न कर पाने की अवस्था में यह मानव जीवन दयनीय दशा को प्राप्त हो जाता है। वह आत्मानुभव तक से वंचित रहता है। यह आत्मानुभूति ही जिन अंशों में प्रबल बनती है या कि जिन अंशों में मन्द और संज्ञाहीन होती है, उसी के अनुसार जीवात्मा को गति चक्र में घूमना पड़ता है। यह चक्र चार गति और चौरासी लाख योनियों का होता है, जिसमें ऊँच-नीच परिस्थितियों में जन्म लेते रहने को ही संसार का परिभ्रमण कहते हैं। आत्मानुभूति संज्ञाहीन बनी रहती है तो निरन्तर जीवात्मा के जीवन अक्षम योनियों में चलते रहते हैं और इस प्रकार उसका यह संसार का परिभ्रमण जटिल बन जाता है। तब आत्मा की योग्यता और क्षमता भी दबी रहती है तथा श्रेष्ठता के परिचय का तो अभाव ही रहता है। पुराने कर्म कम टूटते हैं तथा नये कर्म अधिक बँधते रहते हैं, जिससे आत्म-संशोधन की संभावना क्षीण हो जाती है तथा शान्ति की प्राप्ति भी दूभर बन जाती है।

शास्त्रों में चार प्रकार की गतियों का उल्लेख किया गया है। गति की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि गति नामक नाम कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली पर्याय गति कहलाती है। गति के चार भेद हैं—

1. नरक गति— घोर पापाचरण करने वाली जीवात्माएं अपने पापों का फल भोगने के लिए अधोलोक के जिन स्थानों में उत्पन्न होती हैं, उन्हें नरक कहते हैं। ये नरक सात पृथिवियों में विभक्त हैं, इसलिये सात नरक कहलाते हैं। मनुष्य एवं तिर्यच गतियों से ही जीवात्मा का नरक गति में जाना होता है। इन सातों नरकों का स्वरूप तथा वर्णन इस प्रकार है— 1. धम्मा नरक—रत्नकांड की अपेक्षा से इसे रत्न प्रभा कहा जाता है। इसमें तीस लाख नरकावास हैं। इसकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है एवं जघन्य दस हजार वर्ष है। 2. वंसा नरक—शर्करा अर्थात् पत्थर के तीखे टुकड़ों की अधिकता से इसे शर्करा प्रभा कहा जाता है। इसमें पचीस लाख नरकावास है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम तथा जघन्य एक सागरोपम है। 3. सीला नरक—बालुका यानी बालू रेत की अधिकता से इसे बालुका प्रभा कहते हैं। इसमें पन्द्रह लाख नरकावास होते हैं। इसकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम तथा जघन्य तीन सागरोपम है। 4. अंजना नरक—कीचड़ की अधिकता से इसे पंकप्रभा कहा जाता है। इसमें दस लाख नरकावास होते हैं। इसकी उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम तथा जघन्य सात सागरोपम है। 5. रिद्धा नरक—धुएं के रंगवाले द्रव्यविशेष की अधिकता के कारण इसे धूम प्रभा कहते हैं। इसमें तीन लाख नरकावास हैं। इसकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तरह सागरोपम तथा जघन्य दस सागरोपम है। 6. मघा नरक—अंधकार की अधिकता से इसे तमः प्रभा कहते हैं। इसमें पांच कम एक लाख नरकावास हैं। इसकी उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपम तथा जघन्य सत्तरह सागरोपम है। 7. माघवई नरक—पूर्ण प्रगाढ़ अंधकार होने से इस सातवीं नरक को महातमः प्रभा कहा जाता है। इसमें पांच (काल, महाकाल, रोरूक, महारोरूक और अप्रतिष्ठानक) नरकावास होते हैं। इसकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम तथा जघन्य बाईस सागरोपम है।

सातों नरकों में अत्यन्त ऊष्णता या अत्यन्त शीत होने के कारण क्षेत्रजन्य वेदना होती है। नरकों में आपस में वैक्रिय शरीर से एक दूसरे के भयंकर प्रहारों की भी वेदना होती है। ये सभी वेदनाएँ भीषणतम होती हैं। इनके अलावा भूख, प्यास, खुजली, परवशता, ज्वर, दाह, भय, शोक आदि अन्य वेदनाएँ भी होती हैं। परमाधार्मिक देवों द्वारा भी नारकियों को वेदना दी जाती है। इन वेदनाओं के कुछ प्रकार यों हैं—तपा हुआ शीशा पिलाना, तप्त लोहमय स्त्री से आलिंगन



करवाना, कूटशाल्मली वृक्ष के तलवार जैसे पत्तों से शरीर छिद्रवाना, लोहे के हथौड़ों से कूटना, वसोले से छीलना, भाड़ में भूनना, कोल्हू में पेलना आदि। कुंभीपाक में पकाये जाते हुए नारकीय जीव पांच सौ योजन तक ऊँचे उछलते हैं और फिर वहीं आकर गिरते हैं।

नारकी जीव नरक से निकलकर बहुलता से सांप, व्याघ्र, सिंह, गिद्ध आदि योनियों में उत्पन्न होते हैं व हिंसा करते हुए पुनः नरक में चले जाते हैं। कुछ जीव सम्यक्त्व दृष्टि से मनुष्य या तिर्यच गति में भी जाते हैं व आगे शुभगति प्राप्त करते हैं।

नरक आयु के बंध के चार कारण बताये गये हैं— 1. महारंभ—बहुत प्राणियों की हिंसा हो, इस प्रकार तीव्र परिणामों से कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना। 2. महापरिग्रह—जड़ वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छा रखना। 3. पंचेन्द्रिय वध—पंचेन्द्रिय जैसे बड़े जीवों की हिंसा करना। 4. कुणिमाहार—कुणिम अर्थात् मांस का आहार करना। इन चार कारणों से जीवात्मा नरक गति की आयु का बंध करती है तथा भीषणतम वेदनाएँ भोगती है।

**2. तिर्यच गति—** स्थावर, त्रस, विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय (तिर्यच) की जातियाँ तिर्यच गति की होती हैं। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय और वायुकाय के सूक्ष्म, बादर पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं। कुल ये 16 भेद हुए। वनस्पतिकाय के सूक्ष्म, साधारण और प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त के 6 भेद हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय के 22 भेद हुए। द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त से 6 भेद हैं। तिर्यच पंचेन्द्रिय के बीस भेद हैं—जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प के संज्ञी-असंज्ञी तथा पर्याप्त-अपर्याप्त के भेदों से। इस प्रकार तिर्यच के कुल 48 भेद हुए—एकेन्द्रिय के 22, विकलेन्द्रिय के 6 और पंचेन्द्रिय के 20।

तिर्यच गति की आयु के बंध के भी चार कारण कहे गये हैं— 1. माया—मन में कुछ और बाहर कुछ के कुटिल परिणामों को रखना तथा विषकुंभ पयोमुख की तरह धूर्तता से रहना। 2. निकृति—ढोंग करके दूसरों को ठगने की चेष्टा करना और पाखंड दिखाना। 3. असत्याचरण—बात बात पर झूठ बोलना। 4. कूट तोल कूट माप—झूठे तोल और माप रखना व खरीदने के लिये ज्यादा तथा बेचने के लिये कम नाम तोल काम में लेना। इस प्रकार का आचरण करने वाली जीवात्माएँ तिर्यच गति के योग्य कर्मों का बंध करती है।

3. मनुष्य गति— कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य के 15 भेद कहे गये हैं। ये क्षेत्र की दृष्टि से हैं— 5 भरत क्षेत्र, 5 एरावत् क्षेत्र तथा 5 महाविदेह क्षेत्र के मनुष्यों के। अकर्मभूमि (भोगभूमि) में उत्पन्न मनुष्य के 30 भेद हैं— 5 देवकुरू, 5 उत्तरकुरू, 5 हरिवास, 5 रम्यक्वास, 5 हेमवत और 5 हेरण्यवत क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्यों के। 56 अन्तर द्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के 56 भेद। ये सब मिलाकर गर्भज मनुष्यों के 101 भेद होते हैं जो पर्याप्त व अपर्याप्त से 202 हुए तथा संमूर्च्छिम मनुष्य के 101 भेद मिलाने से कुल 303 भेद हुए।

इस प्रकार मनुष्य के तीन भेद हुए—1. कर्म भूमिज—कृषि, वाणिज्य, तप, संयम, अनुष्ठान आदि कर्म प्रधान भूमि को कर्मभूमि कहते हैं और इस 15 प्रकार की कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य कर्मभूमिज कहलाता है। इनका निर्वाह मुख्यतः तीन प्रकार के कर्म से होता है— असि यानी तलवार आदि शस्त्रधारण कर उससे आजीविका करना, मसि (स्याही) यानी लेखन द्वारा आजीविका करना तथा कृषि यानी खेती द्वारा आजीविका करना। 2. अकर्म-भूमिज—कृषि, वाणिज्य आदि अनुष्ठान जहां नहीं होते, वह अकर्मभूमि होती है। ऐसे 30 क्षेत्र हैं जिनमें उत्पन्न मनुष्य अकर्मभूमिज कहलाते हैं। इन क्षेत्रों में दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जिनसे मनुष्यों का निर्वाह होता है। बिना कर्म के भोग प्राप्त होने से इन्हें भोगभूमि भी कहते हैं। यहां स्त्री और पुरुष जोड़े से ही जन्मते और मरते हैं जिनको जुगलिया कहते हैं। 3. अन्तर-द्वीपिक—लवण समुद्र में चुल्ल हिमवत पर्वत की डाढ़ों पर बसे छप्पन द्वीप पारस्परिक समान अन्तर से अन्तर द्वीप कहलाते हैं। अकर्मभूमि की तरह इन द्वीपों में भी मनुष्यों का निर्वाह कल्पवृक्षों से होता है। ये भी जुगलिया होते हैं तथा अन्तरद्वीपिक कहलाते हैं।

मनुष्य गति की आयु के बंध के भी चार कारण बताये गये हैं— 1. भद्र और सरल प्रकृति रखना। 2. स्वभाव से विनीत होना। 3. दया और अनुकम्पा के परिणामों वाला होना। 4. मत्सर, ईर्ष्या, डाह आदि नहीं करने वाला होना।

4. देवगति— जिनकी पुष्पमालाएँ नहीं कुम्हलाती, जिनके नेत्रों की पलकें नहीं गिरती, जिन का शरीर नीरज होता है तथा जो भूमि से चार अंगुल ऊपर रहते हैं, वे देव कहलाते हैं। देवों के कई भेद होते हैं— (1) भवनपति— असुर कुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युतकुमार, अग्निकुमार, उदधिकुमार, द्वीप कुमार, दिशा कुमार, पवन कुमार और स्तनित कुमार कुल 10। (2) व्यन्तर— कुल 26 जिनमें 8 पिशाच आदि, आणपन्ने आदि 8 तथा जृम्भक 10। (3) ज्योतिष— चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र व तारों के चर-अचर भेद

से 10। (4) वैमानिक—दो भेद कल्पोपन्न एवं कल्पातीत। सौधर्म, ईशान आदि कल्पोपन्न के 12 भेद तथा कल्पातीत के 9 ग्रेवेयक व 5 अनुत्तर विमान से 14 भेद। (5) परमाधार्मिक—अम्ब, अम्बरीष आदि 15। (6) किल्बिषिक—त्रेपल्योपमिक आदि 3। (7) लोकान्तिक—सारस्वत, आदित्य आदि 9 भेद। ये कुल मिलाकर 99 हुए जो पर्याप्त-अपर्याप्त से 198 होते हैं।

देवगति की आयु के बंध के भी चार कारण बताये गये हैं—1. सराग संयम का पालन करने वाली आत्मा। 2. देशविरति श्रावक की आत्मा। 3. अकाम निर्जरा अर्थात् अनिच्छापूर्वक पराधीनता आदि कारणों से कर्मों की निर्जरा करने वाली। 4. बालभाव से विवेक के बिना अज्ञानपूर्वक काया क्लेश आदि तप करने वाली जीवात्मा देवायु बांधती है।

### संसार में क्रियाशील जीवद्रव्य व उसका गति चक्र

इस प्रकार संसार में क्रियाशील जीवद्रव्य ही चारों गतियों में परिभ्रमण करता रहता है जिनके अनुसार ही उसके नरकी के 14, तिर्यच के 48, मनुष्य के 303 तथा देवता के 198 कुल मिलाकर जीव के 563 भेद होते हैं। एक तरह से चारों गतियों के ये 563 जन्म क्षेत्र हैं जिनमें अपने कर्मानुसार जीवात्मा एक बार और बार-बार जन्म लेती रहती है। जीवात्मा की सांसारिक क्रियाशीलता उसकी संज्ञा से व्यक्त होती है। संज्ञा का अर्थ होता है ऐसी चेतना जो असातावेदनीय तथा मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होती है तथा जो विकार युक्त होती है। ऐसी संज्ञा चार प्रकार की कही गई है—1. आहारसंज्ञा—तैजस शरीर नाम कर्म तथा क्षुधा वेदनीय के उदय से कवल आदि आहार के लिये आहार योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने की जीव की अभिलाषा को आहार संज्ञा कहते हैं। 2. भयसंज्ञा—भय मोहनीय के उदय से होने वाला जीव का त्रास रूप परिणाम भय संज्ञा है। इससे नेत्र और मुख में विकार, रोमांच, कम्पन आदि क्रियाएँ होती हैं। 3. मैथुनसंज्ञा—वेद मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली मैथुन की इच्छा मैथुन संज्ञा है। 4. परिग्रह संज्ञा—लोभ मोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाली सचित्त आदि द्रव्यों को ग्रहण रूप आत्मा की अभिलाषा अर्थात् तृष्णा को परिग्रह संज्ञा कहते हैं।

चारों गतियों में इन चारों संज्ञाओं का अल्प बहुत्व इस प्रकार होता है—सबसे थोड़े नारकीय जीव मैथुन संज्ञा वाले होते हैं। आहार संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणे, परिग्रह संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणे तथा भय संज्ञा वाले उनसे भी संख्यात गुणे होते हैं। तिर्यच गति में सबसे थोड़े परिग्रह संज्ञा वाले, मैथुन

संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणे, भय संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणे तथा आहार संज्ञा वाले उनसे भी संख्यात गुणे होते हैं। मनुष्यों में सबसे थोड़े भय संज्ञा वाले, आहार संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणे, परिग्रह संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणे तथा मैथुन संज्ञा वाले उनसे भी संख्यात गुणे हैं। देवताओं में सबसे थोड़े आहार संज्ञा वाले, भय संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणे, मैथुन संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणे तथा परिग्रह संज्ञा वाले उनसे भी संख्यात गुणे हैं।

जीवद्रव्य को समझने का यह गणितानुयोग है किन्तु मात्र इसी से आत्मा का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। अन्य तीन अनुयोग और हैं—द्रव्यानुयोग अर्थात् द्रव्य, पर्याय आदि की दृष्टि से व्याख्या करना, धर्मकथानुयोग अर्थात् धर्म कथाओं के माध्यम से वर्णन करना तथा चरणकरणानुयोग जिसमें व्रत, श्रमण धर्म, संयम, वैयावृत्य, गुप्ति, क्रोध निग्रह आदि चरण कहलाते हैं तथा पिंड विशुद्धि, समिति, पड़िमा आदिकरण, अतः इस चरणकरणानुयोग द्वारा आत्म-स्वरूप का वर्णन करना। इन चारों अनुयोगों की अपेक्षा से जीव द्रव्य अर्थात् आत्म-स्वरूप का अध्ययन किया जाता है तथा उसकी बहुमुखी क्रियाशीलता एवं गतिचक्र में उसकी परिभ्रमणता का परिचय पाया जाता है। षड्द्रव्यों में एक जीव द्रव्य को छोड़कर शेष सभी निर्जीव होते हैं किन्तु उनका सम्बन्ध जीव द्रव्य से जुड़ा होता है जिसके कारण संयुक्त क्रियाशीलता दिखाई देती है। किन्तु यह अमुक सीमा तक ही ठीक है। जहां तक कोई अपनी आत्मा को उसकी खुराक नहीं देता है और अपनी वृत्तियों व प्रवृत्तियों के परिमार्जन का प्रयास नहीं करता है, वह जड़संयुक्त गतिशीलता में भटकता रहता है एक जंगली घोड़े की तरह जो शिक्षण-प्रशिक्षण से विच्छिन्न होता है। ऐसी जीवात्मा की क्रियाशीलता हिताहित के भान से रहित तथा राग-द्वेष के विकारों से अनियंत्रित होती है।

यही प्रमुख कारण होता है कि ऐसी जीवात्मा स्वयं के सही स्वरूप-ज्ञान से भी रहित होती है। वह स्थूल आत्मानुभव से भी हीन होती है। ऐसी जीवात्माएँ कई बार तत्त्वों को जानने की चेष्टा करना चाहती हैं लेकिन मन साथ नहीं देता और न ही उनके नियंत्रण में आता है। कई बार ज्ञान सीख भी लिया जाता है किन्तु आचरण में न उतर पाने के कारण वह गधे पर लदे चन्दन समान भार रूप ही रह जाता है।

### गति मुक्ति का कारण बनती है आत्मानुभूति

चन्दन का स्वभाव होता है शीतलता और सुगंध का अनुभव देना। उसी प्रकार ज्ञान का स्वभाव होता है कि वह आत्मा के अनन्त सुख और शान्ति वाले

मूल स्वरूप का अनुभव करावे। क्योंकि आत्मानुभूति ही पूर्ण विकास को प्राप्त करके जीवात्मा को चारों गतियों के चक्र यानी संसार के संसरण या परिभ्रमण से मुक्त करा सकती है। गति मुक्ति ही आत्मा का परम ध्येय है।

किन्तु वर्तमान में मनुष्य अपनी मूल अनुभूतियों एवं गतिविधियों को छोड़कर सांसारिक संज्ञाओं की जिस जड़संयुक्त क्रियाशीलता के प्रवाह में ही बह रहा है, उससे उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं रहा है। इसी कारण प्रार्थना की उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने संकेत दिया है कि पहले अपने मन का परीक्षण करें किन्तु ऐसा परीक्षण तभी सफल बन सकेगा जब आत्मानुभूति लें तथा आत्म-स्वरूप को जानकर संशोधन का संकल्प बनावें। आत्म-स्वरूप की शोध सही होनी चाहिये एवं सही योग्यता तथा क्षमता का निर्माण किया जाना चाहिये। ऐसा नहीं कि जैसा एक वैद्य जी के एक कम्पाउंडर ने किया था। एक दिन एक किसान वैद्य जी के पास पहुंचा और कहने लगा—मेरा ऊँट बीमार है। दो-चार दिन से कुछ भी खाता-पीता नहीं है सो आप चलकर देख लें। वैद्य जी उस किसान के साथ चल पड़े। उनका कम्पाउंडर भी उनके साथ था। वह कम्पाउंडर जानता अधिक नहीं था मगर ऊपर की बातें पकड़ लेता था। वैद्य जी ने ऊँट को पूरी तरह से जांचा तो वे जान गये कि वह खा-पी क्यों नहीं रहा है। उन्होंने ऊँट की गर्दन पर एक जोर से मुक्का मारा और अवरोध को हटा दिया। वह कम्पाउंडर और कुछ तो समझा नहीं—बस, उसने इस बात की गांठ बांध ली कि गर्दन पर मुक्का मारो तो खाना-पीना चालू हो जाता है। योग ऐसा मिला कि एक दिन एक सेठ की अस्सी वर्षीया दादी पेट शूल से पीड़ित होकर खाना-पीना छोड़ बैठी। सेठ वैद्य जी को बुलाने आये लेकिन वे कहीं अन्यत्र गये हुए थे तो कम्पाउंडर बोल पड़ा—वैद्य जी नहीं हैं तो मैं इलाज कर दूंगा। वही सेठ के साथ चल पड़ा। उसने तो वह बात गांठ बांध रखी थी सो आव देखा न ताव, कसकर एक मुक्का सेठ की दादी की गर्दन पर उसने मार दिया जिसके आघात से कुछ ही पलों में वह चल बसी। यह देखकर सेठ क्रोधित हो उठा और उस कम्पाउंडर को पीटते-पीटते वैद्य जी के पास ले आया तथा सारा हाल सुना दिया। वैद्य जी ने कम्पाउंडर की सफाई सुनकर अपना सिर पीट लिया। आत्म-स्वरूप की जो कम्पाउंडर की तरह शोध करते हैं, वे आत्महनन ही अधिक करते हैं, आत्म-विकास की दिशा में कदम नहीं बढ़ा सकते हैं।

इस कारण सबसे पहले मन तथा आत्मा का परीक्षण आवश्यक है। इससे ही यह ज्ञात हो सकेगा कि आत्म-स्वरूप का अनुभव लेने में कौन-कौन से बाधक तत्त्व हैं? तथा उनसे छुटकारा किस प्रकार के प्रयास से पाया जा सकता है।

## आत्मा की योग्यता व क्षमता की परीक्षा

सांसारिक जड़संयुक्त क्रियाशीलता एवं संज्ञा के विषम वातावरण में ही आत्मा की योग्यता व क्षमता की परीक्षा हो सकती है कि वह ज्ञान और विवेक के साथ पुरुषार्थ करके अपनी स्वयं की सच्ची अनुभूति प्राप्त करने के बीच में आने वाले सभी बाधक तत्त्वों से मुक्ति पाने का विकास-संघर्ष छेड़ दे। विकास के इस संघर्ष में सफलतापूर्वक वे आत्माएँ ही आगे बढ़ सकती हैं, जिन्होंने व्रताचरण के क्षेत्र में आगे पांव बढ़ा लिये हैं। एक श्रावक यदि अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग करके अणुव्रतों के सम्यक् पालन के साथ अपने मन का गहरा परीक्षण करे तो पूरी संभावना मानी जानी चाहिये कि वह मन के अनियंत्रित क्रियाकलापों को समझ सकेगा तथा उस समझ के आधार पर मन और इन्द्रियों को आत्म-नियंत्रण में लेकर आत्मानुभूति का आनन्दानुभव ले सकेगा। इससे भी अधिक संभावना साधु-साध्विवर्ग के पास होती है क्योंकि उनके तो मन के परीक्षण-नियंत्रण का अभ्यास चलता रहता है और वे अपने पांच महाव्रतों के पालन तथा ज्ञान-ध्यान के क्रम के साथ आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार कर सकते हैं।

गति चक्र के संदर्भ में आप जान चुके हैं कि यदि श्रावक भी अपने अणुव्रतों का पालन-आराधना भली प्रकार से कर ले तो वह देवगति के आयुष्य का बंध कर सकता है। उसे मनुष्य गति भी प्राप्त हो सकती है और यह गति प्राप्त हो तो वह गति मुक्ति के अपने प्रयासों को उच्चतर व्रताचरण से अधिक तेज कर सकता है। इससे वह अधिकाधिक आत्मिक शान्ति भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि व्रताचरण के मार्ग पर वह असावधान रहता है और अतिचारों का सेवन करता है तो उससे वह पाप कर्मों का भागी भी बन जाता है।

इस दृष्टि से यह जीव द्रव्य का दायित्व भी है कि वह जड़ तत्त्वों के ऊपर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करे। यह श्रेष्ठता जड़ तत्त्वों का ही अनुसरण करने से स्थापित नहीं हो सकेगी, क्योंकि वैसा करके तो वह जड़ तत्त्वों का ही वर्चस्व अपने ऊपर बनाये रखता है। स्वयं की श्रेष्ठता स्वयं का वर्चस्व बनाने से ही स्थापित हो सकती है। यदि जीव द्रव्य निर्जीव द्रव्यों पर अपना वर्चस्व बनाना चाहता है तो उसे अपने चेतनाशील स्वभाव को पूर्ण रूप से जागृत बनाना होगा तथा चेतना का सम्पूर्ण वर्चस्व जड़ तत्त्वों पर कायम करना होगा। इसी से आत्मा की योग्यता और क्षमता की वास्तविक परीक्षा होती है।

## संसार के संसरण में जीवात्मा का वर्चस्व

यदि जीवात्मा का आध्यात्मिक वर्चस्व जड़ तत्त्वों पर कायम हो जाये यानी कि जीवात्मा अपने मूल स्वरूप को पूर्ण निष्ठा के साथ आत्मसात् कर ले तो उसका परम ध्येय तो उसे प्राप्त होगा ही, संसार के संसरण की शुभता भी इस स्तर तक बढ़ने लगेगी जो अधिकाधिक जीवात्माओं को अपने परम ध्येय की ओर बढ़ने की प्रबल प्रेरणा भी देगी। संसार के संसरण में इस प्रकार जीवात्माओं का वर्चस्व चेतनाशील बनकर प्रमुख रूप से प्रभावशाली हो जायेगा।

इस परिप्रेक्ष्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यही बात सामने आती है कि संसार में संसरण करती हुई भव्य जीवात्माएँ जितनी अपनी जड़ग्रस्त क्रियाशीलता से दूर हटकर आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी सक्रियता को अभिवृद्ध बनायेंगी, उतनी ही उनकी आत्मानुभूति परिपक्व होगी। ऐसी परिपक्वता के अनुसार वे अपने मन और अपनी इन्द्रियों के क्रियाकलापों पर आत्म-नियंत्रण स्थापित कर सकेंगी और निरीक्षण, परीक्षण व संशोधन का क्रम सम्यक् रीति से चला सकेंगी। इस प्रकार का आत्म-पुरुषार्थ संसार के संसरण को भी यथावत् रीति से संशोधित करता हुआ रह सकेगा।

दिनांक 08.10.86

(जलगांव)

## 13

## कहां ढूंढ़ें चैतन्य देव को?

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

मनुष्य को वर्तमान जीवन में उत्तम स्वरूप प्राप्त करने के लिये सुनिश्चित और सही मार्ग की आवश्यकता होती है। ऐसा मार्ग वीतराग देवों द्वारा निर्देशित है और वही शाश्वत मार्ग है। इस मार्ग पर सुस्थिरतापूर्वक यदि चरण आगे बढ़ाये जाते हैं तो यह आत्मा निश्चित होकर बिना किसी आशंका के अपने गंतव्य स्थान तक पहुंच सकती है। ऐसा तभी संभव है जब गतिशील आत्मा को इस मार्ग के स्वरूप का तथा स्वयं के निज स्वरूप का सम्यक् ज्ञान हो। यदि इस ज्ञान की कमी या उसका अभाव हो तो सारे साधन उपलब्ध होने के उपरान्त भी स्वस्थ गति नहीं बन सकेगी तथा प्राप्त साधनों का भी कोई सदुपयोग नहीं हो सकेगा।

सर्वाधिक महत्त्व की बात यह है कि सबसे पहले निज स्वरूप का परिचय पाया जाये। मार्ग पर जिसको चलना है, वही यदि स्वस्थ न हो तो शेष सारी उपलब्धियों का कोई उपयोग संभव नहीं होता है। “मैं” कौन हूँ, मेरी क्या-क्या शक्तियाँ हैं? मेरा आज का स्वरूप कैसा है, मूल स्वरूप कैसा है और इन दोनों का अन्तर कैसे कम किया जा सकता है—यही ज्ञान गति प्रेरक हो सकता है। कारण, “मैं” रूप में जो चैतन्य देव है, वह शक्तियों का पुंज है और यदि वह जागृत बन जाये तो विकास एवं उत्तम स्वरूप की प्राप्ति की सारी समस्याओं का सुन्दर समाधान ही प्रस्तुत हो जाये।

इस दृष्टि से आत्म-जागृति के प्रथम क्षणों में यही प्रश्न सम्मुख आता है कि कहां ढूंढ़ें अपने ही चैतन्य देव को?

षड्द्रव्यों तथा नौ तत्त्वों में संसार की समस्त अवस्थाओं का वर्णन है और यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया गया है कि इन समस्त अवस्थाओं का सृष्टा, दृष्टा और ज्ञाता एक मात्र जीव द्रव्य या जीव तत्त्व ही है। यह द्रव्य या तत्त्व कहीं



आकाश-पाताल या अज्ञात स्थान पर रहा हुआ नहीं है। यह इसी शरीर के भीतर में विद्यमान है, अपितु इसकी ही विद्यमानता से यह शरीर सभी प्रकार के क्रिया कलाप कर रहा है तथा जीवन का अस्तित्व दिखा रखा है क्योंकि यह तत्त्व जब इस शरीर के भीतर नहीं रहता तो उसे उस शरीर की मृत्यु का नाम दिया जाता है।

### इसी शरीर में कैसे ढूँढ़ें चैतन्य देव को ?

जैसे किसी घड़े में लबालब तेल भरा होता है, उसी प्रकार आत्म-तत्त्व इस शरीर के अणु-अणु में व्याप्त है। उस तेल को घड़े में से जिस सावधानी के साथ निकाला जाता है, उसी प्रकार की सतर्क विधि के माध्यम से आत्म-स्वरूप को जाना और पहचाना जाता है। कोई पुरुष प्रश्न करे कि तेल उस घड़े के किस भाग में है तो उत्तर में किसी भी स्थानविशेष का उल्लेख नहीं किया जा सकता है। घड़े को भी छोड़िये-समझिये कि तेल तिलों में से निकलता है। तिल में तेल भरा हुआ होता है लेकिन क्या कोई कह सकता है कि उस तिल के किस भाग में तेल है और किस भाग में नहीं है? क्या तेल तिल के भीतरी भाग में ही है और ऊपरी भाग में नहीं? कहा यही जायेगा कि उस तिल के अणु-अणु में तेल समाया हुआ है—कोई भी भाग तेल से अछूता नहीं है। जितना तिल है, उतना ही तेल है।

एक और दृष्टान्त लीजिये। दस किलो दूध रखा हुआ है। कोई पूछे कि इस दूध में घी कहाँ है? घी ही दूध का सार तत्त्व होता है। जब दूध में से घी निकाल लिया जाता है तो दूध नहीं रह जाता, मात्र छाछ हो जाता है। दूध का मूल्यांकन घी पर निर्भर रहता है। घी दूध में है तब तक ही तो वह दूध है, लेकिन उस दूध में घी है कहाँ? यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि उस दस किलो दूध के किस भाग में घी रहा हुआ है? इसमें भी सत्य यही है कि घी उस दूध की बूँद-बूँद में रहा हुआ है। दस किलो दूध में से उचित प्रक्रिया द्वारा घी निकाला जायेगा तो भी निकलेगा और कम या ज्यादा दूध में से भी तदनुसार घी निकाला जा सकेगा। इससे स्पष्ट है कि घी सारे दूध में व्यापक रूप से होता है। उसी प्रकार यह मानव-शरीर ही नहीं, किसी भी प्राणी का शरीर हो, उस शरीर की लम्बाई-चौड़ाई या मोटाई के अनुसार उसके अणु-अणु में आत्म-तत्त्व सर्वत्र व्याप्त होता है। आत्म-तत्त्व के अस्तित्व से ही उस शरीर की सजीवता प्रकट होती है। एक सजीव शरीर ही सुनता है, देखता, सूँघता है या कि नानाविध क्रियाएँ करता है। इसलिये मूल में इन सारी क्रियाओं को करने वाली निजात्मा ही होती है।

यदि कल्पना की जाये कि आत्मा शरीर के किसी स्थानविशेष में निवास करती है तथा वह पूरे शरीर में व्याप्त नहीं है तो वस्तुतः भी यह कल्पना किसी भी रूप में सत्य सिद्ध नहीं होती है। यदि इसका प्रयोग करना हो तो अपनी छोटी अंगुली के भी एक तरफ सूई चुभोयी जाये या सूई चुभोकर वहां से खून निकाला जाये तो उसका दर्द सारे शरीर को महसूस होता है। यदि आत्मा एक स्थान पर होती तो दर्द उसी स्थान तक सीमित रहता या कि उस स्थान के सिवाय किसी भी दूसरे स्थान पर सूई आदि चुभोने से महसूस ही नहीं होता। किन्तु वेदना का ऐसा रूप दिखाई नहीं देता है अतः सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर के किसी स्थानविशेष पर नहीं रहती बल्कि सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती है। वेदना की महसूसगरी शरीर के प्रत्येक अंग और उपांग में होती है। जितनी-जितनी शरीर की रचना अधिक से अधिक स्थान में रही हुई है, उसमें सम्पूर्ण रूप से चैतन्य देव का निवास है—यह वीतराग देवों का स्वानुभूत सत्य तथा स्पष्ट कथन है।

### आत्मा को ढूंढना ही स्वयं को ढूंढना है

यथार्थ में तो आत्मा सभी को प्रत्यक्ष होती है क्योंकि जो आत्मा की विद्यमानता में संशय करते हैं, स्वयं उनका वह संशय भी आत्मा की विद्यमानता का ही प्रमाण होता है। उपयोग आत्मा का स्वरूप है और इसी प्रकार अपने शरीर में होने वाले सुख-दुःखादि का ज्ञान स्वसंवेदी यानी अपने आपको जानने वाला होने के कारण आत्मा को प्रत्यक्ष करता है। प्रत्यक्ष से सिद्ध वस्तु के लिये दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती है। जब कोई पुरुष इन शब्दों का उच्चारण करता है कि 'मैंने' किया, 'मैं' करता हूँ और 'मैं' करूंगा आदि तो तीनों कालों को जानने वाले ज्ञान में भी "मैं" शब्द से आत्मा का ही बोध होता है। अतः इस प्रत्यक्ष ज्ञान से भी आत्मा की ही सिद्धि होती है।

इसके साथ यह भी सोचिये कि यदि इस "मैं" "मैं" शब्द से शरीर का बोध लिया जाये तो मृत शरीर में भी यह प्रतीति होनी चाहिये, जो नहीं होती है। आत्मा का निश्चयात्मक ज्ञान हुए बिना "मैं हूँ"—यह निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। कारण, इसमें भी "मैं" शब्द का अर्थ आत्मा ही है। दूसरे, आत्मा के नहीं होने पर 'आत्मा है या नहीं'—इस प्रकार का संशय भी नहीं हो सकता है क्योंकि संशय भी ज्ञान रूप होता है और ज्ञान आत्मा का ही गुण है। गुणी के बिना गुण नहीं रह सकता। ज्ञान को शरीर का गुण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ज्ञान अमूर्त स्वभावी एवं बोध रूप होता है जबकि शरीर मूर्त और जड़ होता है। दो विरोधी पदार्थ गुण और गुणी नहीं बन सकते हैं। जैसे बिना रूप

वाले आकाश का गुण रूप नहीं हो सकता, उसी प्रकार मूर्त और जड़ शरीर का गुण अमूर्त और बोध रूप ज्ञान नहीं हो सकता है। सभी वस्तुओं के स्वरूप का निश्चय आत्मा के निश्चय होने पर ही हो सकता है। जिस आत्मा में ही सन्देह हो, वह कर्मबंध, मोक्ष तथा समग्र वस्तुस्वरूप के ज्ञान में भी सन्देहरहित नहीं हो सकता है। अतः आत्मा को दृढ़ने का अर्थ स्वयं को दृढ़ना है तथा आत्म-विकास के वास्तविक, सही व सुनिश्चित मार्ग को पहचानना है।

सत्य यह है कि आत्मा प्रत्यक्ष है क्योंकि इसके गुण स्मृति, जिज्ञासा, एषणा, चिकीर्षा और स्वयं संशय आदि प्रत्यक्ष है। जिस वस्तु के गुण प्रत्यक्ष होते हैं, वह वस्तु भी प्रत्यक्ष होती है जैसे घट के गुण, रूप आदि प्रत्यक्ष होने से घट प्रत्यक्ष होता है तथा वायु के गुण, रूप आदि भी प्रत्यक्ष होने से वायु भी प्रत्यक्ष होती है। अगर गुणों के ग्रहण से गुणी का ग्रहण न माना जाये तो भी गुणों के ज्ञान से गुण वाले का अस्तित्व तो अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। प्रत्यक्ष विदित होने वाली आत्मा का अभाव सिद्ध करने से साध्य प्रत्यक्ष बाधित है। आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने वाले अनुमान द्वारा बाधित होने से यह साध्य अनुमान विरुद्ध भी है। “मैं संशय वाला हूँ”—इसमें “मैं” शब्द से वाच्य आत्मा का अस्तित्व मानते हुए भी उसका निषेध करना अभ्युपगम-विरोध है। लोक में जिस वस्तु का निश्चय छोटे से लेकर बड़े सभी व्यक्तियों को हो उसका निषेध करने से यह साध्य लोकबाधित भी है। अपने ही लिये “मैं हूँ या नहीं”—इस प्रकार संशय करना अपनी माता को बांझ बताने की तरह स्ववचन बाधित भी है। इसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व सर्वप्रकारेण सिद्ध है। इन्हीं विचारों एवं तर्कों के साथ जब चिन्तन और अनुभूति को जोड़ेंगे तो आत्म-परिचय के साथ आत्म-स्वरूप की स्पष्टता निखर उठेगी।

### शरीर से आत्मा के पृथक्त्व का बोध

शरीर और आत्मा के पृथक्त्व का बोध होने से आत्म-स्वरूप पर विशेष प्रकाश पड़ता है, क्योंकि शरीर को ही जीवन का सब कुछ मान लेने के कारण ही आत्मा के अस्तित्व के विषय में तरह-तरह की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। कोई यह तर्क दे सकता है कि ज्ञान आदि गुणों से किसी गुण वाले की सिद्धि तो अवश्य होती है किन्तु वे गुण आत्मा के ही हैं—यह कैसे कहा जा सकता है? जैसे गोरापन, दुबलापन या मोटापन आदि बातें शरीर में मालूम पड़ती हैं, उसी प्रकार ज्ञान, अनुभव आदि भी शरीर में मालूम पड़ते हैं तो इन्हें भी शरीर के ही गुण क्यों न मानें?

इस प्रश्न के उत्तर पर विचार करेंगे तो सही बात सामने आयेगी तथा शरीर से आत्मा के पृथक्त्व की स्थिति भी स्पष्ट हो जायेगी। ज्ञान आदि गुण शरीर के नहीं हैं क्योंकि शरीर मूर्त, जड़ तथा चक्षु इन्द्रिय का विषय होता है जैसे घट, पट आदि। इसके विपरीत ज्ञान आदि गुण अमूर्त और अचाक्षुष (चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं) है, इसलिये ज्ञान आदि गुणों का आश्रय गुणी भी अमूर्त और अचाक्षुष ही होना चाहिये। ऐसी गुणी यह आत्मा ही हो सकती है। अपने शरीर में आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध है और दूसरे के शरीर में उसका ज्ञान अनुमान से होता है। वह अनुमान इस प्रकार है—दूसरे के शरीर में आत्मा है क्योंकि वह इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति तथा अनिष्ट वस्तु से निवृत्ति करती है। जिस शरीर में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, वह आत्मा वाला है, मृत नहीं—जैसे अपना ही जीवित शरीर।

दूसरे, बिना आत्मा के शरीर का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता है क्योंकि शरीर किसी के द्वारा किया हुआ होता है तथा आदि व निश्चित आकार वाला होता है। जैसे घड़ा, कपड़ा आदि। जिसका कोई कर्ता नहीं होता, वह आदि और निश्चित आकार वाला नहीं होता जैसे बादल आदि। शरीर में इन्द्रियाँ किसी के द्वारा अधिष्ठित हैं जिनकी अधिष्ठाता आत्मा ही है। जहां आदान (लेना) और आदेय भाव (लिया जाना) होता है, वहां आदाता भी कोई न कोई होना ही चाहिये। ये इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं तथा विषय ग्रहण किये जाते हैं जिनका आदाता अवश्य होना चाहिये और वह आत्मा है।

शरीर भोग्य है जैसे भोजन, वस्त्र आदि का तो इसका कोई भोक्ता होना चाहिये। कारण, जिस वस्तु का कोई भोक्ता नहीं होता, उसे भोग्य नहीं कह सकते हैं। जैसे आकाश कुसुम आदि। शरीर का यह भोक्ता आत्मा के रूप में स्पष्ट है। सांसारिक आत्मा ही शरीर का कर्ता है, भोक्ता है और इसी से कथंचित् मूर्त भी है। आत्मा विद्यमान है क्योंकि उसके विषय में संशय होता है। जिस वस्तु के विषय में संशय होता है, वह कहीं न कहीं अवश्य विद्यमान है। आत्मा और शरीर के विषय में जो संशय होता है, वही इस बात का प्रमाण है कि दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है तथा इसी कारण दोनों का पृथक्त्व भी है।

वीतराग देव का यह वचन है कि “आत्मा है” इसलिये भी यह वचन सत्य है क्योंकि यह सर्वज्ञ का वचन है। भय, राग, द्वेष और अज्ञान से रहित पुरुष का वचन है। जो वचन भय आदि से रहित होता है, वह वचन सत्य होता है। जैसे मार्ग पूछने पर उसे जानने वाले शुद्ध हृदय व्यक्ति द्वारा दिया गया ठीक उत्तर। वस्तुतः इसी दृष्टिकोण से वीतराग देवों द्वारा उपदेशित आत्म-विकास का मार्ग भी सही, सत्य तथा सुनिश्चित है।

शरीर और आत्मा के पृथक्त्व का बोध हो जाने पर जड़ और चेतन के विभेद का भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है। इसके बाद आत्म-स्वरूप की सूक्ष्मता को समझ लेना भी सरल बन जाता है। इसी से शरीर की नश्वरता तथा आत्मा की अमरता का सत्य समझ आता है और भीतर के विवेक को जगाता है कि नश्वरता से अनश्वरता की ओर बढ़ना ही आत्मा का सच्चा पुरुषार्थ हो सकता है। यही है अपने चैतन्य देव को ढूंढने की विधि।

### चैतन्य देव को ढूंढ लेने से विकास मार्ग की प्राप्ति

निजात्मा यानी अपने चैतन्य देव को ढूंढ लेने पर आत्म-विकास का मार्ग तो मिल ही जाता है, किन्तु उस पर स्थिरतापूर्वक चलने की शक्ति भी मिल जाती है और निश्चित प्रगति के साथ चरम गंतव्य स्थान भी मिल जाता है। दशवैकालिक सूत्र में शास्त्रकारों ने बताया है कि जिस समय इस आत्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तथा षड् द्रव्य व नवतत्त्वों का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है, उस आत्मा को आत्म-विकास के रूप में बारह बोलों की परम्परा प्राप्ति होती है।

इन बारह बोलों का स्वरूप इस रूप में वहां पर अंकित किया गया है—

1. जिस समय आत्मा को जीव और अजीव दोनों तत्त्वों का भली प्रकार ज्ञान हो जाता है, उस समय वह सब जीवों की बहु भेद वाली गति-अगति को जान लेती है।

2. जिस समय आत्मा सब जीवों की बहुभेद वाली गति-अगति को जान लेती है, उस समय वह पुण्य और पाप तथा बंध और मोक्ष के स्वरूप को भी जान लेती है।

3. जिस समय आत्मा पाप-पुण्य, बंध-मोक्ष आदि तत्त्वों को जान लेती है तब वह देवता सम्बन्धी और मनुष्य सम्बन्धी काम भोगों को भी जान लेती है तथा उनके स्वरूप को जानकर उनसे विरक्त होती है। ज्ञान का सार चारित्र्य होता है, इस कारण वह अपने ज्ञान को आचरण में उतारती है।

4. जिस समय आत्मा देवता और मनुष्य सम्बन्धी भोगों से विरक्त हो जाती है, उस समय वह आन्तरिक और बाह्य संयोगों का परित्याग कर देती है। अन्तरंग संयोग होते हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ तथा बाह्य संयोग होते हैं—माता, पिता, पुत्र, पत्नी आदि। वास्तव ये संयोग ही आत्मा को कर्मों के बंधन में बांधते हैं और उसके लिये अनेक दुःखों के कारण बनते हैं।

5. जिस समय आत्मा अन्तरंग और बाह्य संयोगों को छोड़ देती है, तब वह द्रव्य और भाव से मुंडित होकर अनगार वृत्ति (साधु धर्म) को प्राप्त कर लेती है। केशलुंचन, वेश परिवर्तन आदि द्रव्य मुंडन है तो इन्द्रियों का निग्रह करना व उन पर विजय प्राप्त कर लेना भाव मुंडन है।

6. जिस समय आत्मा मुंडित होकर साधु धर्म को धारण कर लेती है, उस समय वह श्रेष्ठ और उत्कृष्ट संवर रूप धर्म को स्पर्श करती है अर्थात् काया द्वारा संवर धर्म का सम्यक् पालन करती है।

7. जिस समय आत्मा संवर धर्म का स्पर्श करती है उस समय वह मिथ्यात्व दशा में लगे हुए कर्म रज को अपने स्वरूप पर से झाड़ देती है यानी अलग कर देती है। कर्म रूप रज से ही आत्म-स्वरूप मलिन बनता है जिस पर संवर रूप पवित्र जल गिरने से उसका प्रक्षालन होकर रज पृथक् हो जाता है।

8. जिस समय आत्मा मिथ्यादृष्टि भाव से संचित किए हुए कर्म रज को अपने स्वरूप से अलग कर देती है, उस समय वह लोकालोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान व केवलदर्शन को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार बादलों से ढका हुआ सूर्य का प्रकाश प्रत्यक्ष हो जाता है।

9. जिस समय आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाती है तब वह राग-द्वेष की विजेता होकर तथा केवली बनकर समस्त लोक और अलोक को जान लेती है। जिस प्रकार हथेली पर रखे हुए आंवले को हम लोग स्पष्ट रूप से देख लेते हैं, उसी प्रकार केवली लोकालोक को जानते और देखते हैं।

10. जिस समय केवली लोकालोक को जान और देख लेते हैं उस समय वे मन, वचन और काया रूपी योगों का निरोध कर शैलेषी अवस्था को प्राप्त करते हैं अर्थात् पर्वत की तरह निश्चल और स्थिर परिणाम वाले बन जाते हैं।

11. जिस समय केवली योगों का निरोध कर पर्वत की भांति स्थिर एवं निश्चल हो जाते हैं, उस समय भवोपग्राही कर्मों का क्षय करके वे कर्म रज से रहित होते हुए सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं। पहले घाती कर्मों को तथा बाद में शेष चार कर्मों का क्षय करते हैं।

12. जिस समय आत्मा कर्मक्षय करके सिद्ध गति को प्राप्त करती है, उस समय वह लोक के मस्तक पर जाकर सिद्धशिला पर विराज जाती है और ज्योति में ज्योति रूप मिलकर शाश्वत रूप से सिद्ध हो जाती है।

यह है पारम्परिक प्राप्तिओं का रेखा चित्र जो चैतन्य देव को दृढ़ लेने पर क्रमिक रूप से चित्रित होने लग जाता है।

## एक को जानने वाला सबको जानता है

जब तक अपने ही चैतन्य देव को जो भली प्रकार नहीं जानता है, तब तक वह कितनी बड़ी साधना कर ले या कि कड़ी तपस्या आराधे, वह मन को आत्मावस्थित करने की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकेगा। आत्मतत्त्व को समझे बिना अन्य सारे साधन भी लाभप्रद नहीं हो सकते हैं। इसी बिन्दु पर प्रभु महावीर की भव्य घोषणा सबके सामने है कि जो एक को जान लेता है, वह सबको जान सकता है और जो सबको जानता है, वह एक को भी जानता है। सब आत्माओं को परिपूर्ण रीति से तभी जान सकते हैं जब एक अपनी आत्मा को पूर्ण रीति से जान लें। सब प्राणियों व मानवों को जिज्ञासा होती है और सब जानने की चेष्टा भी करते हैं कि वह एक तत्त्व कौन-सा है और कहां पर रहा हुआ है? यह तत्त्व अपनी ही आत्मा है। संसार के पदार्थों को देखो या न देखो, पर अपने शरीर में रही हुई अपनी आत्मा को जान लो तथा दोनों के स्वतंत्र अस्तित्व को मानते हुए दोनों के पृथक्त्व को भी जान लो तो आत्म-स्वरूप की स्पष्टता समक्ष आ जायेगी। इस एक को जान लो तो फिर सभी आत्माओं को जान लोगे तथा आत्मीय समानता के अनुभाव का भी अनुभव कर लोगे।

अपनी आत्मा अपने इसी शरीर के भीतर रही हुई है। शरीर के भीतर प्रवेश करने की यात्रा भी सुगम बन सकती है यदि उपयुक्त विधि का प्रयोग किया जाये। भीतर प्रवेश करते समय आंखें बन्द कर लें, कान की खिड़कियों को रोक लें, मौन धारण कर लें, सूंघे या नहीं सूंघे—उसका कोई प्रयोजन नहीं तथा शरीर से हलनचलन भी न होने दें यानी कि सभी इन्द्रियों को निग्रहित कर लें। तब भीतर एक नया ही संसार दिखाई देगा और बाहर का संसार भी वहां दृश्यमान होने लगेगा। वैज्ञानिक लोग चन्द्रमा, तारा आदि ग्रह नक्षत्रों को देखने व जानने के लिये पीढ़ियाँ समाप्त कर देते हैं, तब भी उनका परिपूर्ण ज्ञान नहीं कर पाते हैं। ज्ञानी जन कहते हैं कि ये बाहरी पदार्थों को खोजने में तो अपनी शक्तियाँ लगाते हैं किन्तु उसी को नहीं जानते जो कि इन पदार्थों को खोजने वाला है। यंत्रों की कोई आवश्यकता नहीं यदि आपने शरीर के भीतर देख लिया तो ग्रह, नक्षत्र, दृश्य और अदृश्य सभी पदार्थ दृश्यमान हो जायेंगे।

इस दृष्टि से मानव को अपनी शक्तियों का सद् विनियोजन करना चाहिये। सांसारिक आवश्यक कार्यों से बचे समय में उसे सही मार्ग खोजने और देखने का उपक्रम करना चाहिये। अपने आत्म-स्वरूप को खोज, जान और देखकर ही मानव जीवन के दिव्य एवं आदर्श मार्ग को खोज, जान और देख सकेंगे। बस, निजस्वरूप को जान लेने का प्रयत्न किया जाये तथा उसे जान

लिया जाये। एक को जान लेने पर सबको भी जान लेंगे और इस संसार का स्वरूप भी स्पष्ट हो जायेगा।

### चैतन्य देव में शंकाशीलता घातक

कई पुरुष संसार को छोड़कर साधु बनते हैं और साधु बनकर निज के चैतन्य देव को जानने का प्रयत्न करते हैं परन्तु सही विधि की जानकारी नहीं होने से वे वर्षों तक साधना करते रहते हैं फिर भी अपने आपको नहीं जान पाते हैं। तब वे शंकाशील हो जाते हैं कि प्रभु ने जो कहा है कि आत्मा का प्रकाश पुंज इसी शरीर पिंड में है, वह सत्य भी है या नहीं? सत्य होता तो इतने वर्षों की साधना के बाद तो जानने में सफलता मिलती। ऐसी शंकाशीलता में उलझ कर वे अपने कई वर्षों की साधना का नाश कर देते हैं और पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लेते हैं।

वीतराग देवों द्वारा निर्देशित विधि के ज्ञान एवं तदनुरूप अनुपालन के बिना आत्म-तत्त्व का दर्शन नहीं होता है और उस तत्त्व में शंकाशीलता तो सारे रास्तों को बंद कर देती है। शरीर में चैतन्य देव का प्रकाश वर्तमान है जो सूर्य के प्रकाश से भी अधिक तेजस्वी है। इतने तेजस्वी प्रकाश को प्रकट करने और देखने की सही विधि आवश्यक है। इस विधि का ज्ञान और पालन न करें तो वांछित उपलब्धि कैसे हो सकती है? कई मजदूर लकड़ियाँ लेने के लिये घने जंगल में पहुँचे। वे लकड़ी काट और बेच कर ही अपना व अपने परिवार का निर्वाह करते थे। उन में अधिक बुद्धि नहीं थी और बुद्धि को प्रकट करने की विधि का भी ज्ञान नहीं था। इतनी-सी व्यवस्था उन्होंने कर रखी थी कि बाकी सब लोग जब तक लकड़ी काटते तो उनमें से एक-दो लोग तब तक खाना बना लेते ताकि सबको मेहनत के बाद गरम खाना मिल जाता। सब लोगों की प्रतिदिन खाना बनाने की बारी उन्होंने तय कर रखी थी। एक दिन सब लोग लकड़ी काटने के लिये घने जंगल में चले गये। खाना बनाने की जिसकी बारी थी उसने सोचा कि जल्दी खाना बना लूंगा तो सब लोग शाम तक आयेंगे तब तक वह ठंडा हो जायेगा, इसलिये खाना देर से ही बनाऊंगा। यह सोचकर वह सो गया। उसे ऐसी गहरी नींद आयी कि समय का पता ही नहीं चला। सूर्यास्त में दो-तीन घड़ी समय रहा तो वह हड़बड़ा कर उठा किन्तु तब तक आग बुझ चुकी थी और उसे फिर से सुलगाने के लिये वह दी गई लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े करने लगा, क्योंकि जाते वक्त वे लोग कह गये थे कि यह आग बुझ जाये तो उस लकड़ी से पैदा कर लेना। वह लकड़ी से आग पैदा करना नहीं जानता



था इस कारण उसके टुकड़े-टुकड़े करके उनमें आग दूँद रहा था। भला आग उस विधि से उसे कैसे मिलती? सब लोग लकड़ी के गट्टर लेकर भी आ गये किन्तु उससे कुछ भी नहीं बना। उसे अपना अज्ञान तो समझ में आया नहीं, उलटा उन लोगों से लड़ने लगा कि उन्होंने उसे आग पैदा करने की धोखेभरी जानकारी दी। तब साथियों ने कहा—तू अपने अज्ञान का दोष हम पर लगा रहा है? हमने बताया था कि इस लकड़ी के टुकड़ों को आपस में रगड़ना—आग पैदा हो जायेगी और तू समझा नहीं। उन्होंने उसे तब आग पैदा करके दिखायी।

अभिप्राय यह कि लकड़ियों में आग थी, लेकिन आग पैदा करने की विधि का उसको ज्ञान नहीं था, इस कारण लकड़ियाँ पास में होते हुए भी वह आग पैदा नहीं कर सका। इससे विधि की अनिवार्यता का बोध होता है। और वह विधि सही तो होनी ही चाहिये वरना सफलता नहीं मिल सकती है क्योंकि गलत विधि का अर्थ विधि का अभाव ही होगा। इसी प्रकार अपने चैतन्य देव को दूँदने में सही विधि के प्रयोग की ही अपेक्षा होती है और यह भी कि उस सही विधि में किसी प्रकार से शंकाशीलता न लायी जाये तथा अटूट भाव से उस विधि की अनुपालना की जाये।

### सही मार्ग, सही विधि फिर सही पुरुषार्थ

साधक चाहे छोटी साधना कर रहा हो या दीर्घ साधना—जब तक वह विधिपूर्वक नहीं होगी तब तक वांछित फल प्राप्त नहीं होगा। जो निष्क्रिय होते हैं, वे सोचते हैं कि भाग्य में लिखा होगा तो फल मिल जायेगा लेकिन उनके हाथ निराशा ही लगती है। किन्तु वीतराग देवों द्वारा उपदेशित सही मार्ग पर सही विधि के साथ चलते हैं और उसके लिये अपने सही पुरुषार्थ का विनियोजन करते हैं, वे अवश्य एक को जान लेते हैं तथा एक को जानकर सबको जानते हैं।

सही मार्ग, सही विधि और सही पुरुषार्थ का विनियोजन हो तो इस वर्तमान मानव जीवन को दिव्य एवं तेजस्वी बनाया जा सकता है। इन तीनों का संयोग मिलाने के लिये मन को एकत्रित एवं संकल्पित करना आवश्यक होता है। जैसे एक जौहरी पहले मन को एकत्रित करके सीखता है कि अमुक पत्थर हीरा है या पन्ना और जिस किस्म का है, उसमें उसकी मूल्य की कैसी स्थिति है? रत्नों के प्रकार और मूल्य का बुद्धिपूर्वक ज्ञान न हो तो क्या जौहरी अपना व्यवसाय चला सकता है? बुद्धि जितनी कुशाग्र होती जाती है, उसकी दृष्टि अधिक से अधिक पारखी बन जाती है और तदनुसार उसका व्यवसाय भी अधिकाधिक समृद्ध और फलदायी बनता जाता है। इसी प्रकार मन पहले

एकत्रित हो, सम्यक् बने और तब पुरुषार्थ में लगे तो आत्म-विकास की कठिन यात्रा भी एक न एक दिन सफल होकर ही रहती है।

ध्यान रखिये कि मन को बिगाड़ने वाला यह मोह, लोभ और धन की तृष्णा है जो मनुष्य को सदा अशान्त बनाये रखती है। आप निन्यानवे के फेर की बात तो जानते ही होंगे कि एक मजदूर रोज कमाने और रोज खाने की मस्त जिन्दगी जीता था और मस्ती से सोता था। लेकिन पास में रहने वाले एक सेठ ने निन्यानवे रुपयों की थैली चुपचाप उसकी झोंपड़ी में डलवा कर उसे अशान्त बना दिया। अब उसे चस्का लगा कि इस थैली में एक रुपया और मिलाकर सौ तो बना लूं। फिर तो सौ से हजार और हजार से लाख! और आगे की दौड़ का कहीं अन्त आता हुआ इस परिग्रह लोभी मन को दिखाई नहीं देता। फिर अपनी आत्मा तो सुषुप्त होती ही है किन्तु वह अपनी तृष्णा की दौड़ में अनेकानेक आत्माओं को संत्रास देता रहता है। इस कारण इस मन को सबसे पहले भटकने से रोकेँ और एकत्रित करें। फिर इसमें वह संकल्प जगावें कि सही मार्ग तथा सही विधि के प्रति उसकी निश्शंक आस्था बन जाये। तदनन्तर उसे सही पुरुषार्थ में नियोजित कर दिया जाये।

मन यदि इस रूप में जागृत और सक्रिय हो तो सच मानिये कि वह निन्यानवे रुपयों की थैली पाकर उसको देखेगा भी नहीं, बल्कि अपनी आंखों से दूर फेंक देगा। मन के हारे हार है, मन के जीते जीत, अतः मन को जीतना सीख जाइये। आपको इसी शरीर पिंड में चैतन्य देव के तेजपुंज को ढूंढने में कोई कठिनाई नहीं होगी। स्वयं अपने वास्तविक स्वयं को प्राप्त कर लें तो फिर उसे कोई भी भुलावा नहीं दे सकता है, न अपना मन और न कोई अन्य।

इसलिये अपने मन का निरीक्षण कीजिये। परीक्षण कीजिये। उसे जानिये, अपनी आत्मा को जानिये तथा संसार की समस्त आत्माओं एवं समग्र पदार्थों को जानिये—यही तो पूर्णत्व प्राप्त करने का मार्ग है।

## 14

## शुद्ध अवलम्बन की महत्ता

शान्ति जिन मुझ एक विनति सुनो...

मनुष्य का यह जीवन एक लता के तुल्य है। वनस्पति की एक बेलड़ी के समान है। इसके लिये किसी न किसी अवलम्बन की आवश्यकता होती है। लता या बेलड़ी अपने आप ही ऊपर नहीं जाती है। माली उसे ऊपर पहुंचाने के लिये योग्य सहारे की रचना करता है। उस बढ़ने वाली लता को ऐसा और इस तरह का अवलम्बन देता है कि उसके ऊपर उठने की गति कहीं भी बाधित न हो तथा यथासमय वह पल्लवित-पुष्पित होती हुई फलित भी बने।

यह अवलम्बन किस विचार से तथा किस रूप में दिया जाता है? लता जब सामान्य रूप से दो-चार हाथ की लम्बाई पकड़ लेती है लेकिन जमीन पर ही रहती है, तब माली दस पन्द्रह हाथ का लम्बा बांस उसके पास गाड़ देता है और उस पर उस लता को चढ़ा कर बांध देता है ताकि उसका विकास मुख्य रूप से एक ही दिशा में यानी कि ऊपर से ऊपर ही हो। वह बांस उस लता की ऊर्ध्वगामी प्रगति का अवलम्बन बन जाता है। इस दृष्टि से अवलम्बन का विचार ऊर्ध्वगामी गति के लक्ष्य से होता है तो लक्ष्य के ही अनुसार उसको योग्य अवलम्बन देने की आवश्यकता रहती है। लता उस बांस के सहारे ऊपर से ऊपर चढ़ती हुई फैलती व फूलती रहती है। मनोहर पुष्प भी उसके ऊपर लगते हैं तो स्वादिष्ट फलों से भी वह सुशोभित होती है। ऐसी ही प्रक्रिया को मनुष्य जीवन के साथ भी सम्बन्धित माना जाना चाहिये।

मनुष्य के जीवन में भी प्रारंभिक इन्द्रिय विकास के साथ-साथ ऊर्ध्वगामी गति को पकड़ने के लिये उसे भी शुद्ध अवलम्बन की आवश्यकता होती है। ऐसे अवलम्बन की सहायता से ही वह अपने आन्तरिक जीवन का उच्चतम विकास साध सकता है। जब तक ऐसा शुद्ध अवलम्बन उसे प्राप्त नहीं होता है तब तक उसके जीवन विकास को भी स्वस्थ गति नहीं मिलती

है। जिस प्रकार दो-चार हाथ लम्बी लता के लिये एक-दो या दो-चार हाथ का ही बांस लगाया जाये तो लता उस पर ठहर नहीं पायेगी और नीचे गिर जायेगी, उसी प्रकार किसी भी मनुष्य का जितना जीवन विकास है उससे अधिक विकास वाले का या कि उच्चतम विकास वाले का शुद्ध अवलम्बन ही उसे विकास की पर्याप्त प्रगति प्रदान कर सकता है। नीचा अवलम्बन उसके लिये सहायक नहीं हो सकता है। अवलम्बन की महत्ता उसकी शुद्धता एवं उच्चता में ही रही हुई होती है।

### मनुष्य जीवन के लिये अवलम्बन कैसा हो ?

मनुष्य के आन्तरिक जीवन को ऊपर उठाने के लिये अवलम्बन तो नितान्त आवश्यक होता है। किन्तु विचारणीय बिन्दु यह है कि वह अवलम्बन कैसा हो ? सर्वप्रथम यह देखा जाना चाहिये कि जो अवलम्बन ग्रहण किया जा रहा है, वह ऊर्ध्वगामी विकास के अनुकूल है या नहीं। कहीं वह प्रतिकूल तो नहीं है ? इस कारण उसकी अनुकूलता को समझने के लिये समुचित मानदंड को भी समझना होगा। अवलम्बन ग्रहण करने के साथ दृष्टि जागृत ही नहीं होती, बल्कि ऊर्ध्वमुखी भी हो जाती है। उस दृष्टि से देखने पर यह पता लगाने की जरूरत पड़ती है कि उसमें कौन-से पदार्थ या तत्त्व तुलनात्मक रूप से बड़े दिखाई दे रहे हैं ? यदि उस दृष्टि और मानसिकता में भौतिक तथा नश्वर पदार्थ ही बड़े रूप में दिखाई दे रहे हैं तो निर्णय लेना पड़ेगा कि लिया हुआ अवलम्बन शुद्ध नहीं है तथा उससे आन्तरिक जीवन का विकास साधा नहीं जा सकेगा। बाह्य जीवन को व्यामोहित करने वाले जो पदार्थ आदि हैं, वे आन्तरिक जीवन के विकास के लिये अनुकूल नहीं होते हैं। उसकी अनुकूलता तो आध्यात्मिक तत्त्वों के साथ बैठती है। जब आध्यात्मिक तत्त्वों का अवलम्बन ग्रहण किया जाता है तो आन्तरिक जीवन में विकास की अनूठी प्रफुल्लता प्रसारित हो जाती है।

अवलम्बन की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता की यही कसौटी है, जिसका निर्णय अपनी ही आन्तरिकता को निकालना होता है। मनुष्य के जीवन में उस समय जितनी जानने की योग्यता होती है या कि जितना ज्ञान सम्पन्न वह होता है, उसी के आधार पर वह अपने अवलम्बन की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता की परख कर सकता है। उस ज्ञान के आधार पर उसे चिन्तन करना होता है तथा अवलम्बन की महत्ता एवं उच्चता का सही अनुमान लगाना होता है। इस विषय में जिस आयु में अथवा जिस स्तर पर ऐसा चिन्तन किया जाता है तो उसके अनुरूप भी वह सही निर्णय

पर पहुँच सकता है। आप सोचते होंगे कि एक बालक ऐसा निर्णय कैसे ले सकता है? एक बालक में ऊँचा ज्ञान भले न हो, उसकी ग्रहण शक्ति और समझने की ताकत कम नहीं होती है बल्कि कई अर्थों में अधिक तीव्र होती है। उस तीव्रता के साथ यदि उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा मिले तो उसकी प्रगति अधिक सचोट और अधिक ऊर्ध्वमुखी भी हो सकती है। उसका कोमल हृदय उच्चादर्शी प्रेरणा के अनुसार ढाला जा सकता है तथा समुचित विकास के लिये सक्षम बनाया जा सकता है। जितना एक बालक सीखता है और जो देखता है उसे भी वह गहराई से ग्रहण करता है। बालक की जितनी तीव्र ग्रहण शक्ति होती है, वैसी ग्रहण शक्ति आगे नहीं रहती है। इस कारण बालक के समक्ष सशक्त प्रेरणा होनी चाहिये जिससे वह अवलम्बन की श्रेष्ठता को भी परख सकता है तो शुद्ध अवलम्बन को अपने आन्तरिक मन की सुदृढ़ता के साथ भी ग्रहण कर सकता है।

### वृत्ति निर्माण एवं विकास की प्रारंभिक वेला में

वृत्ति निर्माण एवं विकास की प्रारंभिक वेला में बालक को किस प्रकार की प्रेरणा मिलती है—यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। इसका कारण है कि जन्म क्या, गर्भ से लेकर कम से कम तीन वर्ष की आयु तक बालक की ग्रहण शक्ति अत्यधिक तीव्र होती है—ऐसा मनोविज्ञान-वेत्ताओं का मत है। बालक की सभी इन्द्रियाँ जो कुछ उनके सामने आता है, उसे ग्रहण कर लेती हैं। इसलिये बालक के सामने जिस प्रकार की वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ आती हैं, वह उन्हें ही अपनाने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से बाल्यकाल का अवलम्बन उसके आसपास छाया हुआ वातावरण ही मुख्य रूप में होता है। यदि बालक का जन्म किसी धर्मनिष्ठ परिवार में हुआ है तो उसके मन पर भी इस प्रकार के सत्संस्कार उभरते हैं कि चैतन्य तत्त्व क्या है, जड़ तत्त्व क्या है तथा जड़ तत्त्वों की अपेक्षा चैतन्य तत्त्व का सर्वोपरि मूल्यांकन क्यों किया जाना चाहिये? इसके विपरीत यदि परिवार अज्ञान और अविवेक में भटकने वाला हुआ तो उस परिवार में जन्मा बालक भी जड़ पदार्थों के प्रति व्यामोहित रहने वाला बनेगा। वह बालक अपनी समझ शक्ति पकड़ने के बाद सोचेगा तो उसे प्रतीत होगा कि जड़-चैतन्य का सही ज्ञान उसे उसके बचपन में मिला ही नहीं। तब उसकी समझ अच्छी होगी तो वह दिशा परिवर्तन कर लेगा और समझ अच्छी भी हुई किन्तु कर्तृत्व शक्ति कमजोर होगी तो पश्चात्ताप करता रहेगा कि यथासमय उसे सही ज्ञान व कार्य शक्ति नहीं मिली जिसके परिणामस्वरूप चाहते हुए भी उसे सही दिशा नहीं मिल सकी।

यथासमय किसी के जीवन में उसकी सही मानसिक वृत्तियों का निर्माण हो जाता है तथा काल प्रवाह में उनका सम्यक् रीति से सही विकास भी हो जाता है तभी उस जीवन में सुदृढ़ एवं श्रेष्ठ आचार विचार बन सकता है। यही निर्माण यदि बुराई की दिशा में चला जाता है तो सम्पूर्ण जीवन ही बर्बाद हो जाता है। उदाहरण के तौर पर देवलोक में देव जीवन की शक्ति अधिक होती है तथा उनका शरीर भी मनुष्य से अधिक विलक्षण होता है। क्योंकि मानव शरीर में तो नाना भांति के रोग रहते और फैलते हैं तथा शक्तिहीनता व जराग्रस्तता भी आती है जबकि देव शरीर में यह सब कुछ नहीं होता। वह सदा सुन्दर, शक्तिसम्पन्न, स्वस्थ तथा युवक रहता है। उनका शरीर वैक्रिय शक्ति वाला तथा लब्धियों वाला होता है। मानव शरीर तो औदारिक यानी मांस, मज्जा, हड्डी वाला होता है और गर्भ से पैदा होता है। मनुष्य का शरीर अन्न, जल पर आधारित होता है जबकि देव शरीर नहीं। इतना सब होने पर भी आध्यात्मिक आचरण के अभाव में देव जीवन का भी कोई विशेष अर्थ नहीं। देव जीवन मिलता भी है मनुष्य जीवन में अर्जित किये हुए पुण्यों के बल पर और देव जीवन के बाद मनुष्य जीवन पुनः मिलता है तब उसी जीवन में आध्यात्मिक साधना की परम श्रेष्ठता अर्जित की जा सकती है। यह श्रेष्ठता ज्ञान की विपुलता और विशुद्धता से साधी जाती है। देव जीवन में यह साधना संभव नहीं। वे यदि सम्यक् ज्ञानी होते हैं तो मनुष्य जीवन की पुनः प्राप्ति की कामना करते हैं ताकि आत्म-विकास की सीढ़ियों पर तेजी से ऊपर चढ़ सकें। आशय यह है कि वृत्ति निर्माण तथा विकास के महत्त्वपूर्ण पक्ष को जीवन में कभी भुलाया नहीं जाना चाहिये और यह निर्माण व विकास चैतन्य देव को समझने व निखारने में प्रयुक्त होना चाहिये।

### अवलम्बन शुद्ध ज्ञान एवं ज्ञानीजनों का

जीवन के प्रारंभिक निर्माण में यदि शुद्ध ज्ञान एवं ज्ञानीजनों का अवलम्बन मिल जाता है तो सम्पूर्ण जीवन का निर्माण श्रेष्ठता में ढल जाता है। ऐसी आध्यात्मिक श्रेष्ठता को प्राप्त करना इस मानव जीवन की ही विशेषता है जो देव जीवन के लिये भी असाध्य है। स्वयं देव जीवन की दिव्यता भी मानव जीवन में अर्जित पुण्यों के फलस्वरूप ही प्राप्त होती है। इन्हीं पुण्यों की शुभता का फल यदि दीर्घकालानुबंधी होता है तो देव जीवन की समाप्ति के बाद पुनः मनुष्य भव मिल सकता है। चारित्र की सम्यक् आराधना से ऐसे दीर्घकालीन पुण्यों का अर्जन होता है। देव रूप में जन्म लेने के लिये जिस समय जीव देवलोक में पहुंचता है, वहां शय्या पर पूर्ण यौवन

एवं शक्ति-सामर्थ्य के साथ देव रूप में आवरण उधाड़ कर प्रकट हो जाता है। देवलोक में अपार समृद्धि व देवियाँ होती है तथा सभी प्रकार का सुखोपभोग रहता है, लेकिन सन्तान नहीं होती है। यह जीवन-लाभ एक अन्तर्मुहूर्त में मिल जाता है। देव जीवन में अपार भौतिक वैभव तो उपलब्ध होता ही है किन्तु मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के सिवाय अवधिज्ञान भी प्राप्त होता है। इस ज्ञान के प्रभाव से देवता सुदूर क्षेत्रों की वस्तुएं देख सकते हैं तथा अदृश्य स्थानों का भी ज्ञान कर सकते हैं। वे पूर्व जन्मों के वृत्तान्त भी जान सकते हैं। इसी कारण वे अपने पूर्व जन्म के परिवार जनों का भी ध्यान लगावें तो ज्ञान कर सकते हैं। इससे उन्हें ज्ञात हो सकता है कि किन ज्ञानी-जनों ने उनकी आत्मा को धर्म का शुद्ध अवलम्बन देकर ऐसे पुण्यों के उपार्जन में सफल बनाया जिसके कारण उसे देव जीवन की दिव्यता प्राप्त हुई? ऐसी मानसिकता में वह अपने परिवार के लोगों या कि अन्य जनों को यथाशक्ति सहयोग कर सकता है। कुछ ऐसे प्रसंग भी हो सकते हैं जो उस जन्म में उसके लिये कष्टदायक बने हों और देवता के मन में द्वेष भाव उपज जाये तो वह उस मानसिकता में प्रतिशोध का कार्य भी कर सकता है। किन्तु ऐसा करके वह पाप कर्मों का उपार्जन कर लेता है।

देव जीवन में भी महापुरुषों के संयोग से उनके शुद्ध अवलम्बन को स्वीकार किया जाता है तो देवता सम्यक् दृष्टि बना रहता है जिससे उसको अशुभ बंध नहीं होता। किन्तु यदि वह मनोवृत्तियों की कटुता में गिर जाता है तो ऐसा पापानुबंध भी कर लेता है कि उस जीवन की समाप्ति के बाद एकेन्द्रिय तक की योनियों में उसे जन्म लेना पड़ जाता है। कई बार देवता द्वारा पैदा की गई विपदाओं के बारे में सुनने को मिलता है कि अमुक के घर में पत्थर बरसते हैं जिससे उसमें रहने वाले लोग घायल हो जाते हैं लेकिन यह पता नहीं चल पाता कि कौन पत्थर फेंक रहा है या किस दिशा से पत्थर आ रहे हैं? इसी प्रकार की कई दुर्घटनाएं बतायी जाती हैं तो ऐसी दुर्घटनाएं पुराने द्वेष से पीड़ित निम्नजाति के देवता अपने वैक्रिय शक्तियों से उत्पन्न करते हैं और कटु भाव से बदला लेते हैं। ऐसी आक्रोशभरी भावनाओं में उनके आगे के आयुष्य का बंध हो जाता है तो पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के स्थावर जीव निकायों में उन्हें जन्म लेना पड़ता है।

मनुष्य जन्म में शुद्ध अवलम्बन ग्रहण करते हैं, तब तो देव जीवन प्राप्त होता है किन्तु उस जीवन में जब शुद्ध अवलम्बन नहीं रहती है तो देव से मनुष्य बनने की बजाय मन और इन्द्रियों से विकल जीवन मिल जाता है।

## मूल अवलम्बन अपने विशुद्ध चैतन्य देव का

इस दृष्टि से शुद्ध अवलम्बन की प्राप्ति इस मनुष्य जीवन में ही हो सकती है और मूल में शुद्ध अवलम्बन माना गया है अपनी ही विशुद्धि की ओर गतिशील चैतन्य देव का। इसकी प्राप्ति भी शुद्ध ज्ञान और ज्ञानीजनों की पवित्र वाणी के अवलम्बन से होती है। चैतन्य शक्ति का अवलम्बन ही चैतन्य को प्रबुद्ध बना सकता है। यह शक्ति जड़ में नहीं होती क्योंकि वह शून्य होता है। कोई चैतन्य यदि जड़ में आसक्ति भाव रखे यानी कि अपनी गृह्य मनोवृत्तियों से जड़ पदार्थों में आकृष्ट बनकर उनका अवलम्बन पकड़ ले तो उनमें रहने वाले स्थावर एवं सूक्ष्म जीविकायों में जन्म ले लेता है।

इसलिये यदि इस मनुष्य जीवन को सार्थक बनाना है तो इन भौतिक एवं दृश्य जड़ पदार्थों में आसक्ति नहीं रखी जाये तथा सिद्धात्माओं का विशुद्ध अवलम्बन ग्रहण किया जाये ताकि निजात्मा भी उस विशुद्ध अवस्था की ओर गतिशील बन सके। सिद्धों के स्वरूप को समझें तथा उनका ध्यान लगावें तो अपने आत्म-स्वरूप में भी वैसी विशुद्धि का आगमन होना आरंभ हो। यह अपने चैतन्य देव के लिये उनका शुद्ध अवलम्बन होगा जिसे ग्रहण करके अपना चैतन्य देव स्वयं भी अवलम्बन रूप बन जायेगा। अभी अरिहन्तों का प्रत्यक्ष स्वरूप अपने समक्ष नहीं है किन्तु सन्त भगवन्त तो हैं जो उनकी वाणी का अनुपालन करते हुए पंच महाव्रत धारण किये हुए संयमी जीवन में चल रहे हैं, उनका अवलम्बन लिया जा सकता है। सन्तों के आध्यात्मिक एवं त्यागमय जीवन के स्वरूप को समझते हुए स्वयं भी दीक्षित होने के मनोरथ का चिन्तन करते रहें तो एक दिन वह अवलम्बन भी स्वयं के अवलम्बन रूप में ढल सकता है।

साधु जीवन में न भूमि, भवन या सम्पत्ति होती है और न ही सांसारिक भोग। वे सूक्ष्म हिंसा का भी त्याग करते हैं, सत्य का पालन करते हैं, छोटी से छोटी चोरी भी नहीं करते। नवबाड़ से शुद्ध ब्रह्मचर्य पालते हैं तथा परिग्रह के पूर्ण त्यागी होते हैं। जीवन निर्वाह के लिये भी वे शुद्ध निर्दोष भोजन घरों-घरों से गवेषणा करके लाते हैं तथा इस रूप में एक आदर्श जीवन जीते हैं। छोटी से छोटी वस्तु की आवश्यकता होगी तब भी साधु उसके मालिक की आज्ञा के बिना कभी नहीं लेगा। जो किसी की मिल्कीयत की न होकर साधारण चीजें होती हैं, वे भी किसी समीप वाले की आज्ञा लेकर ही साधु लेता है। कल्पना करें कि साधु को एक तिनके की आवश्यकता है और पास में आज्ञा लेने की दृष्टि से कोई व्यक्ति मौजूद नहीं है तो उसे भी वह नहीं लेगा। यद्यपि तिनके जैसी



वस्तु का कोई महत्त्व नहीं है किन्तु वीतराग देव ने सावधानी दिलायी है कि बिना आज्ञा कोई भी वस्तु लेने से साधु को अदत्तादान का दोष लग सकता है।

साधु जीवन की महत्ता पर कहने का आशय यह है कि जब अपने चैतन्य देव को विशुद्धि के पथ पर अग्रगामी बनाते हैं और संयमी जीवन की यतनापूर्वक आराधना करते हैं तो वह चैतन्य देव ही स्वयं का शुद्ध अवलम्बन बन जाता है। जब वह अपना अवलम्बन होता है तो पथ दर्शक के रूप में दूसरी विकास की अभिलाषी आत्माओं का भी अवलम्बन बन जाता है। स्वयं के उन्नति पथ को स्वयं देख लेने की क्षमता तभी उत्पन्न होती है जब उस पथ पर साधक बनकर चला जाता है। इस पथ पर होने वाली प्रगति ही उस पथ को दूसरों को दरसाने का सामर्थ्य देती है। पथ खोजने वाला और पथ पर चलने का अनुभव लेने वाला ही पथदर्शक बन सकता है। यह साधु जीवन की विशिष्टता है जो साधक को पथ शोधक से पथ दर्शक बनाता है।

### अवलम्बन लेने से देने तक की विकास यात्रा

साधु जीवन में आत्म-विकास की यात्रा इस रीति से सफल बन सकती है कि वही आत्मा जिसे अवलम्बन लेने की अपेक्षा रहती थी, वह विकासोन्मुख आत्माओं को अवलम्बन देने के योग्य बन जाती है। अवलम्बन लेने से देने तक की यह विकास यात्रा पंच महाव्रतों के सम्यक् अनुपालन से ही सफल बनती है क्योंकि उससे छिपी और दबी हुई आत्म-शक्तियां अभिव्यक्त बनती है। इस दृष्टि से मानव जीवन को जो एक लता की उपमा दी गई है, वह इस रूप में समझी जानी चाहिये कि वह लता आरंभिक काल में बांस का अवलम्बन चाहती है लेकिन धीरे-धीरे ऐसी शक्ति-सम्पन्न स्वयं भी बन सकती है जिसे बांस के अवलम्बन की अपेक्षा नहीं रहती अपितु वह दूसरी लताओं को अवलम्बन प्रदान कर सकती है। जो अवलम्बन लेता है वह यदि अवलम्बन देने के योग्य बनकर दिखाता है तो उसका वैसा जीवन सराहनीय कहलाता है। यह अवलम्बन शक्ति पंच महाव्रतों के सम्यक् पालन से समुत्पन्न होती है।

जो स्वयं जागता है, वही दूसरों को भी जगा सकने के योग्य बनता है। जो अरिहन्त देवों का अवलम्बन लेकर संयमी जीवन से अपनी आत्मा को सशक्त बनाता है, वही संयमोत्सुक आत्माओं का अवलम्बन बनने की क्षमता भी प्राप्त करता है। इन पंच महाव्रतों का पालन इस दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होता है जिनके कारण आत्म-शक्तियां प्रकट होकर अपना सुप्रभाव दिखाती हैं। इन पांच महाव्रतों को पुष्ट करने के लिये पचीस भावनाओं का शास्त्रों में

उल्लेख आया है जिनके सम्बल से साधु जीवन को अधिकाधिक प्रभावशाली बना सकते हैं। प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाएं बतायी गई हैं जो इस प्रकार हैं—

### 1. प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत की पांच भावनाएं—

(अ) ईर्यासमिति—साधु ईर्या समिति में उपयोग रखने वाला हो क्योंकि इसके बिना साधु प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा करने वाला होता है। (ब) आलोकित पान भोजन—साधु सदा उपयोगपूर्वक देखकर चौड़े मुख वाले पात्र में आहार पानी ग्रहण करे और प्रकाश वाले स्थान में देखकर भोजन करे। अनुपयोगपूर्वक बिना देखे आहार आदि ग्रहण करने वाले एवं भोगने वाले साधु के प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व की हिंसा की संभावना रहती है। (स) आदान भांड—मात्र निक्षेपणा लेने समिति—अयतना से पात्र आदि भंडोपकरण लेने और रखने का आगम में निषेध है। इस कारण साधु आगम के निर्देशानुसार देखकर और पूजकर यतनापूर्वक भंडोपकरण लेवे और रखे अन्यथा प्राणियों की हिंसा की संभावना रहती है। (द) मन गुप्ति—संयम में सावधानी साधु मन को शुभ प्रवृत्तियों में लगावे। मन को दुष्ट रूप में प्रवर्ताने वाला साधु प्राणियों की हिंसा करता है। काया का गोपन होते हुए भी मन की दुष्ट प्रवृत्ति कर्मबंध का कारण होती है। (य) वचन गुप्ति—संयम में सावधान साधु अदुष्ट अर्थात् शुभ वचन में प्रवृत्ति करे। दुष्ट वचन में प्रवृत्ति करने वाले साधु के प्राणियों की हिंसा की संभावना रहती है।

### 2. मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत की पांच भावनाएं—

(अ) अनुविचिन्त्य भाषणता—साधु को सम्यग्ज्ञानपूर्वक विचार करके बोलना चाहिये अन्यथा बिना विचारे बोलने वाला कभी झूठ भी बोल सकता है। (ब) क्रोध विवेक—क्रोध के कुफल को जानकर साधु को क्रोध का त्याग करना चाहिये क्योंकि क्रोधान्ध व्यक्ति का चित्त अशान्त हो जाता है। क्रोधी स्व-पर का भान भूल जाता है तथा जो मन में आता है, वही कह देता है। इस प्रकार क्रोध की अवस्था में झूठ बोले जाने की बड़ी संभावना रहती है। (स) लोभ विवेक—साधु को लोभ का त्याग करना चाहिये क्योंकि लोभी व्यक्ति धन आदि की इच्छा से झूठी साक्षी आदि से झूठ बोल सकता है। (द) भय विवेक—साधु को भय का भी परिहार करना चाहिये। भयभीत व्यक्ति प्राण आदि को बचाने की इच्छा से सत्य व्रत को दूषित कर असत्य में प्रवृत्ति कर सकता है। (य) हास्य विवेक—सत्यवादी साधु को हास्य का भी त्याग करना चाहिये क्योंकि हास्य वश मृषा भी बोल सकता है।

### 3. अदत्तादान विरमण रूप तीसरे महाव्रत की पांच भावनाएं—

(अ) अवग्रहानुज्ञापना—साधु को स्वयं (दूसरों के द्वारा नहीं) स्वामी अथवा स्वामी से अधिकार प्राप्त पुरुष को अच्छी तरह जानकर शुद्ध अवग्रह (रहने का स्थान) की याचना करनी चाहिये, अन्यथा साधु को अदत्तग्रहण का दोष लगता है। (ब) सीमा परिज्ञान—साधु को उपाश्रय की सीमा खोलकर एवं आज्ञा प्राप्त कर उसका सेवन करना चाहिये अर्थात् एक बार स्वामी के उपाश्रय की आज्ञा दे देने पर भी बार-बार उपाश्रय का परिमाण खोलकर आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। ग्लान आदि अवस्था में लघुनीत, बड़ीनीत परठवने, हाथ पैर आदि धोने के स्थानों की अवग्रह यानी उपाश्रय की आज्ञा होने पर भी याचना करनी चाहिये ताकि दाता का दिल दुःखित न हो। (स) अवग्रहानुग्रहणता—अवग्रह की आज्ञा लेकर भी वहां रहे हुए तृण आदि के ग्रहण के लिये साधु को आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। शय्यातर का अनुमति वचन सुनकर ही साधु को उन्हें लेना चाहिये, अन्यथा वह बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने एवं भोगने का दोषी हो जाता है। (द) आज्ञा लेकर साधर्मिकावग्रहण भोगना—उपाश्रय में रहे हुए समान आचार वाले संभोगी साधुओं से नियत क्षेत्र और काल के लिये उपाश्रय की आज्ञा प्राप्त करके ही वहां रहना एवं भोजन आदि करना चाहिये अन्यथा चोरी का दोष लगता है। (य) आज्ञा लेकर साधारण भक्त पान का सेवन करना—गुरु आदि की आज्ञा प्राप्त करके आहार करना चाहिये। शास्त्रों में बतायी गई विधि से प्रासुक एषणीय प्राप्त हुए आहार को उपाश्रय में लाकर गुरु के आगे आलोचना कर और आहार को दिखलाकर फिर साधु मंडली में या अकेले उसका उपभोग करना चाहिये। धर्म के साधन रूप अन्य उपकरणों का ग्रहण एवं उपभोग भी गुरु की आज्ञा से ही करना चाहिये।

### 4. मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत की पांच भावनाएं—

(अ) प्रणीताहार विवर्जन—ब्रह्मचारी को आहार के विषय में संयत होना चाहिये। उसे अति स्निग्ध तथा सरस आहार नहीं करना चाहिये तथा परिमाण से अधिक ठूस-ठूस कर भी आहार नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से ब्रह्मचर्य की विराधना हो सकती है। मात्रा से अधिक आहार तो ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त शरीर के लिये भी पीड़ाकारी बनता है। (ब) पूर्वरत पूर्व क्रीडितानुस्मरण—साधु को गृहस्थावस्था में भोगे हुए काम भोग आदि का स्मरण नहीं करना चाहिये क्योंकि पूर्व रति एवं क्रीडा का स्मरण करने से कामाग्नि दीप्त होती है तथा ब्रह्मचर्य का घात हो सकता है। उसे शरीर की शोभा हेतु स्नान, विलेपन, केश सम्मार्जन आदि नहीं करने चाहिये क्योंकि वैसा करने वाला साधु सदा चंचल

चित्त वाला रहता है जिससे चौथे व्रत की विराधना हो सकती है। (स) स्त्री इन्द्रियावलोकन वर्जन—स्त्री एवं उसके मनोहर मुख, नेत्र आदि अंगों को काम वासना की दृष्टि से नहीं निरखना चाहिये। वासना भरी दृष्टि से यह सब कुछ देखने से ब्रह्मचर्य के खंडित होने की संभावना रहती है। (द) स्त्री पशु पंडक संसक्त शयनासन वर्जन—स्त्री, पशु, नपुंसक से सम्बन्धित उपाश्रय, शयन, आसन आदि का साधु सेवन न करे, न स्त्रियों के साथ परिचय रखे। अन्यथा ब्रह्मचर्य महाव्रत भंग हो सकता है। (य) स्त्री कथा विवर्जन—संयम में सावधान साधु स्त्री विषय की कोई कथा न करे। स्त्री कथा में आसक्त साधु का चित्त विकृत हो सकता है अतः स्त्री कथा को ब्रह्मचर्य के लिये घातक समझकर इससे ब्रह्मचारी साधु को सदा दूर रहना चाहिये।

#### 5. परिग्रह विरमण रूप पांचवें महाव्रत की पांच भावनाएं—

(अ) श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति—साधु श्रोत्रेन्द्रिय के विषय शब्द के इन्द्रिय-गोचर होने पर मनोज्ञ शब्द पर मूर्च्छा भाव न लावे तथा अमनोज्ञ शब्द पर द्वेष न करे। (ब) चक्षुरिन्द्रिय रागोपरति—चक्षुरिन्द्रिय अर्थात् आंखों के विषय रूप को देखने पर मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ दृष्टि से राग और द्वेष भाव साधु को नहीं लाना चाहिये। (स) घ्राणेन्द्रिय रागोपरति—घ्राणेन्द्रिय यानी नाक के विषय गंध के इन्द्रिय गोचर होने पर साधु मनोज्ञ गंध पर रति तथा अमनोज्ञ गंध पर अरति भाव न लावे। (द) जिह्वेन्द्रिय रागोपरति—साधु स्वाद को जीते। मनोज्ञ आहार-पानी आदि पर राग भाव तथा अमनोज्ञ आहार-पानी आदि पर द्वेष भाव नहीं लावे। साधु अपनी जिह्वा को वश में रखे। (य) स्पर्शनेन्द्रिय रागोपरति—इसी प्रकार साधु स्पर्श विषय के इन्द्रिय गोचर होने पर मनोज्ञ पर मूर्च्छा-गृद्धि भाव नहीं लावे तथा अमनोज्ञ पर द्वेष न करे। पांचवें महाव्रत में साधु को मूर्च्छा रूप भाव परिग्रह का त्याग करना होता है क्योंकि द्रव्य परिग्रह का तो वह पहले ही त्याग कर देता है। यों तो विषयों के गोचर होने पर इन्द्रियां उन्हें भोगती ही हैं किन्तु साधु को मनोज्ञ यानी इष्ट एवं अमनोज्ञ यानी अनिष्ट विषयों पर राग एवं द्वेष के भाव नहीं लाने चाहिये क्योंकि मूर्च्छा-ममत्व करने से पांचवें महाव्रत के खंडन की संभावना रहती है।

साधु जब अपने संयमी जीवन के निर्वाह में इन पचीस भावनाओं के प्रति पूर्ण रूप से सतर्कता बरतता है तो उसके अपने आध्यात्मिक परिवेश में आत्मावलम्बन के शुभ भाव का उदय होता है। यही है चैतन्य देव को स्वावलम्बी बनाने का संयमपूर्ण जीवन जिसका संबल लेकर अपना ही चैतन्य देव स्वावलम्बी ही नहीं होता, बल्कि अपना सुदृढ़ अवलम्बन दूसरों को भी

प्रदान करता है। साधु जीवन की यह विशिष्टता ही उसे अवलम्बन लेने से अवलम्बन देने की क्षमता तक पहुंचा देती है। शुद्ध अवलम्बन की इसी रूप में महत्ता समझी जानी चाहिये तथा शुद्ध अवलम्बन की इसी सक्षम अवस्था को प्राप्त करने का प्रत्येक भव्य आत्मा को अपना लक्ष्य बनाना चाहिये।

### महत्ता शुद्ध अवलम्बन की

आत्म-स्वरूप के सम्यक् विकास के उद्देश्य से शुद्ध अवलम्बन की सभी को अपेक्षा रहती है। आप सुबह प्रार्थना के लिये यहां पर आते हैं तो प्रार्थना भी एक प्रकार का शुद्ध अवलम्बन है। प्रार्थना की पंक्तियों में परमात्म-स्वरूप का विवेचन रहता है तथा उसका स्मरण करने से विकासोन्मुख आत्मा को उस दिशा में क्रियाशील बनने का एक आश्रय मिलता है। अवलम्बन लेकर व पुनः अवलम्बन देने योग्य सामर्थ्य का विकास करना एवं तद् हेतु संयमी जीवन को अपनाना प्रत्येक भव्य आत्मा को आचरणीय समझना चाहिये क्योंकि किसी स्तर पर शुद्ध अवलम्बन ग्रहण करना तथा किसी स्तर पर शुद्ध अवलम्बन प्रदान करना—ये दोनों कर्तव्य शुद्ध अवलम्बन की महत्ता को ही प्रकाशित करने वाले होते हैं।

दिनांक 10.10.86

(जलगांव)

## 15

## अचौर्य व्रत की गूढ़ता

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

वर्तमान युग में मानव समुदाय की एक बहुत बड़ी चाह लगी रहती है कि वह अपने जीवन में शान्ति के अनमोल क्षणों की प्राप्ति करे। प्रत्येक मानव अभिलाषा रखता है कि अशान्ति के काले बादल छटें और शान्ति का सूर्य पूरी प्रखरता के साथ चमके। ऐसी चाह और अभिलाषा वास्तव में बहुत अच्छी है और इसकी पूर्ति के लिये समुचित प्रयत्न भी किये जाने चाहिये। किन्तु अधिकांशतः देखा यह जाता है कि मानव जो कुछ भी प्रयत्न और पुरुषार्थ कर रहा है, उससे उसे अभिलषित शान्ति की प्राप्ति नहीं हो रही है। यदि शान्ति प्राप्ति की चाह वास्तविक है तो यह खोज करनी जरूरी है कि वे क्या हेतु या कारण हैं जो वांछित अवस्था की उपलब्धि में बाधक बने हुए हैं।

प्रत्येक कार्य का जिस प्रकार से कोई न कोई हेतु अवश्य होता है, उसी प्रकार प्रत्येक अकार्य का भी कोई न कोई हेतु अवश्य होता है। अभिलाषा की जाती है कि अमुक कार्य सम्पादित हो और वह कार्य न बने तो उसके हेतु की खोज करनी ही चाहिये ताकि बाधक या अभावित हेतुओं को दूर करके कार्य की सिद्धि की जा सके। जहां प्रयत्न करने पर भी फल की प्राप्ति नहीं हो तो उससे यह सिद्ध होता है कि या तो जिस लक्ष्य की अभिलाषा की गई है, उसके स्वरूप को भली प्रकार से नहीं समझा गया है अथवा जिस प्रकार का प्रयत्न व पुरुषार्थ उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किया जाना चाहिये, वैसा प्रयत्न व पुरुषार्थ नहीं किया जा सका है। इसी संदर्भ में अप्राप्ति के उपयुक्त हेतुओं की खोज की जानी चाहिये। इस खोज में भी उपयुक्त विवेक तथा प्रयत्न की आवश्यकता होगी।

कार्य सिद्धि के किसी भी हेतु के अपूर्ण रहने तक अर्धैर्य और असमंजस बना रहता है। उस मनःस्थिति में कुछ समय तक प्रयत्न करते रहने पर जब

वांछित लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती है तो उसका परिणाम दो रूपों में प्रकट हो सकता है। पहला तो यह कि मन निराश और हताश होकर अपनी कर्मण्यता को खो देता है किन्तु प्रत्येक पुरुषार्थी का प्रयास यह होना चाहिये कि दूसरे प्रकार का परिणाम प्रकट हो। वह यह कि अनुपलब्धि की उस हताशा से नया जोश और उत्साह फूटे तथा दुगुने पुरुषार्थ के साथ प्रयत्नों का नया दौर चले। ऐसा होने पर नव जागरण का प्रसंग उपस्थित होता है और कार्य सिद्धि की संभावना परिपुष्ट बनती है।

### अशान्ति के विभिन्न हेतुओं की खोज

शान्ति का लक्ष्य निर्धारित करने के बाद जब अशान्ति नहीं मिटती है और शान्ति नहीं मिलती है तो मनुष्य अपने उत्साह को बनाये रखकर अन्य प्रकार के प्रयत्न करने की बात को सोचता है तथा शान्ति प्राप्ति के नये प्रयत्न प्रारंभ करता है। इस प्रकार प्रत्येक विफलता के बाद वह नये-नये प्रयत्नों का क्रम चलाता रहता है। शान्ति का स्वरूप सही रीति से समझ लिया हो तथा सही लक्ष्य का निर्धारण भी कर लिया हो तब भी सही विधि की कमी रहती है तो वांछित अवस्था की उपलब्धि नहीं होती है। यों विधि के प्रयोग में भी अन्तर आ सकता है। जो जिस प्रक्रिया से कार्य कर रहा है, उसमें जब उसे एक बार सफलता नहीं मिलती है तो मानव उस प्रक्रिया को छोड़ सकता है। इससे कार्य सिद्धि कठिन हो जाती है। प्रक्रिया में स्थिरता रखना भी बहुत कुछ मनुष्य की स्वयं की वैचारिकता पर निर्भर करता है। विचारों की स्थिरता ही क्रिया की प्रवृत्ति को स्थिर बनाये रख सकती है।

अशान्ति से चिन्तित बना हुआ एक पुरुष सोचता है कि परिवार में आखिर अशान्ति क्यों बनी हुई है— घरवालों की मानसिकता में उलझनें क्यों हैं? खान-पान, रहन-सहन की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है, फिर भी शान्ति क्यों नहीं है? परिवार में खाने-पीने या रहने-सहने की वस्तुओं का अभाव हो तो फिर भी अशान्ति का कारण समझा जा सकता है, क्योंकि उससे अन्तर्कलेश पैदा हो सकता है। तब वह सोचता है कि इस अशान्ति का हेतु परिवार के सदस्यों की स्वभाव-विषमता हो सकता है। सब लोगों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है और उसका आपस में तालमेल नहीं बैठता है। उसे लगता है कि जीवन में तामसिक वृत्तियों की अधिकता है, जिसके कारण परिवारजन न तो स्वयं शान्ति व सुख का अनुभव करते हैं तथा न ही वे दूसरों को शान्ति व सुख का अनुभव करने देते हैं। तब वह उस तामसिक वृत्ति को दूर करने की विधि को समझता है तथा

उसका परिवार में प्रयोग करता है। सफलता न मिलने पर भिन्न-भिन्न विद्वानों तथा मनोविज्ञानवेत्ताओं द्वारा बतायी गई भिन्न-भिन्न विधियों का प्रयोग वह जारी रखता है और चाहता है कि परिवार के वातावरण में सात्त्विक वृत्ति का प्रचलन हो जाये। वह इसके लिये मान-अपमान भी सहन करता है और सुनिष्ठापूर्वक भरसक कोशिश भी करता है। फिर भी जब परिवर्तन नहीं आता है तो वह परिवार से विलग होकर और निकट रहकर सुधार लाने का प्रयास करता है। यह विधि भी जब विफल हो जाती है तब वह घर से बाहर चला जाता है, यह दृष्टि रखते हुए कि वहां किसी भी तरह सुधार आ जाये। जब सभी प्रयासों के उपरान्त भी तामसिक वृत्तियों में परिवर्तन नहीं आता है तो एक हताशा की वृत्ति जन्म लेने लगती है। एक व्यक्ति की ऐसी दृष्टि के समान समाज और राष्ट्र की दृष्टि भी बन सकती है।

### तामसिक वृत्तियों की अधिकता समाज और राष्ट्र में

जैसा व्यक्ति के जीवन में दिखाई देता है, वैसी ही तामसिक वृत्तियों की अधिकता समाज और राष्ट्र के जीवन में भी दिखाई देती है। इस विषम स्थिति को सुधारने के लिये जब कोई विवेकी और त्यागी पुरुष अपने मान और अपमान की परवा न करते हुए सामाजिक जीवन के नवनिर्माण का बिगुल बजाता है तथा निरर्थक हुए पुराने रीति-रिवाजों को हटाकर नये गरिमामय रीति-रिवाजों को अपनाने की प्रेरणा देता है तो कई बार उसे अपने कार्य में प्रोत्साहन नहीं मिलता और कई बार वह निराश-सा हो जाता है क्योंकि तामसिक वृत्तियाँ उस कार्य की मुख्य रूप से बाधक बन जाती हैं। ऐसा सुज्ञ पुरुष कभी समाज के भीतर रहकर कार्य करता है और उसे सफलता नहीं मिलती है तो वह समाज के किनारे रहकर अपने प्रयास में संलग्न बनता है। कई बार देखा जाता है कि समाज के अन्दर रहने वाले व्यक्ति जितना उस समाज के हित में कार्य नहीं करते हैं, उससे अधिक हित-सम्पादन समाज के किनारे रहने वाले व्यक्ति अति निष्ठापूर्वक कर लेते हैं। वे यह भी सोचते हैं कि जो स्वयं शान्त नहीं रहते तथा समाज को भी शान्तिपूर्वक नहीं रहने देते—ऐसे लोगों का हृदय परिवर्तन किया जाये तथा उनकी प्रवृत्तियों को रूपान्तरित बनाया जाये। समाज के किनारे से काम करने वाले चाहे समाज के सदस्य नहीं होते किन्तु ऐसा नहीं है कि वे समाज से अलग हो गये हैं। समाज से अलग वह व्यक्ति माना जायेगा जो समाज के प्रति हित साधना के अपने लक्ष्य को छोड़ दे। जिस लक्ष्य के प्रति निष्ठा वह भीतर रहते हुए रखता है, वही निष्ठा जब वह बाहर रहते



हुए भी रखता है तो कभी यह भी होता है कि बाहर रहने वाला समाज सुधार के लिये अधिक उपयोगी कार्य कर गुजरता है।

मूल वस्तुस्थिति यह होती है कि ऐसे व्यक्ति को तामसिक वृत्तियों से ग्रस्त नहीं होना चाहिये। सात्त्विक वृत्तियों के साथ जब समाज की हितसाधना के लक्ष्य के प्रति उसके हृदय में एक निष्ठा होती है तब वह समाज के अन्दर रहे या समाज के किनारे—सदा समाज का हितैषी ही बना रहता है। इस प्रेरणा से और इस विधि से वह समाज का रूपान्तरण करना चाहता है और राष्ट्र में एक नये वातावरण की रचना के लिये कदम आगे बढ़ाता है। ऐसे व्यक्तियों के सद्प्रयत्नों से ही समाज और राष्ट्र में तामसिक वृत्तियों को मन्द बना सकते हैं तथा सात्त्विक वृत्तियों को सबलता प्रदान कर सकते हैं।

समाज की जैसी आज दयनीय दशा है, उसका मूल कारण है मौलिकता का अभाव। जब अपनी आत्मा के मूल स्वरूप की ओर लोगों का ध्यान नहीं होता है, तब वे अपने जीवन को विकृत बना लेते हैं तथा उन विकारों का दोष सारे समाज और राष्ट्र में प्रसारित होता है। इस प्रकार की विकृति से ही विषमता का वातावरण चारों ओर फैल जाता है।

### धरातल समान और समतल होना चाहिये

सामाजिक हो या राष्ट्रीय—उसका धरातल एक समान और समतल होना चाहिये। किन्हीं व्यक्तियों के पास कोई उपलब्धियाँ हैं तो उनकी सहायता दूसरों को भी मिलनी चाहिये। किन्हीं के पास कोई अधिकार हैं तो उनसे दूसरों के हितों का संरक्षण होना चाहिये। किन्हीं के पास किसी प्रकार की विशिष्ट शक्ति है तो उसका अनुचित प्रदर्शन करके दूसरों को पीड़ा नहीं पहुंचायी जानी चाहिये। दिल और दिमाग में ऐसी साम्यता और सौम्यता रहेगी तो विषमता का वातावरण सहयोगिता के वातावरण में बदलेगा तथा समाज और राष्ट्र में शान्ति का प्रसार होगा।

राष्ट्रीय धरातल पर भी हित साधना की एकनिष्ठा वाले पुरुष दलों, संगठनों या संस्थाओं की परिधि से अलग रहकर ही अधिकांश रूप से रचनात्मक कार्य करते हैं तथा चाहते हैं कि विषमता की परिस्थितियाँ मिटें तथा समतापूर्ण अवस्था का निर्माण हो। इसके लिये वे भरसक प्रयत्न करते हैं किन्तु कुछ व्यक्तियों के परिवर्तन से उन्हें सम्बल नहीं मिलता है तथा उन्हें अपने लक्ष्य में सफलता मिलती हुई नहीं दिखाई देती है। फिर भी वे एकनिष्ठा से अपने प्रयत्नों में जुटे रहते हैं। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप चाहे वांछित वायुमंडल का

निर्माण न हो, तब भी उनके अपने एकनिष्ठ प्रयत्नों से वे अपने जीवन में शान्ति का अनुभव कर सकते हैं क्योंकि उन्हें इस बात का सन्तोष होता है कि वे विषमता को मिटाने तथा समता को फैलाने के पवित्र कार्य में जुटे हुए हैं। ऐसे व्यक्तियों की मानसिकता एवं कर्मठता पर इन तथ्यों का कोई असर नहीं होता है कि उनकी उस काम के पीछे आर्थिक स्थिति बिगड़ गई है या उन्हें समाज में अपमान का सामना करना पड़ा है अथवा उनके उस योग्य होते हुए भी उन्हें नेता पद की प्राप्ति नहीं हुई है।

ओडिशा प्रान्त में मेरा विहार चल रहा था तब की बात है कि एक बार एक सज्जन मेरे पास आये जो वहां के समाज में पूरी निष्ठा और ईमानदारी से सुधार कार्य में लगे हुए थे। उन्होंने जब अपने जीवन का विवरण सुनाया तो मैंने उनसे पूछा कि आप जिस राष्ट्रीय संस्था में कार्य कर रहे थे, उससे अलग क्यों हुए? आपके अलग हो जाने से क्या वह संस्था सुधर गई है? संस्था में ही आप बने रहते तो ऊपर के पदों पर पहुंच कर आप अधिक राष्ट्रीय हित साध सकते थे। उन्होंने उत्तर दिया—महाराज साहब, मैंने अपने जीवन का अधिकांश समय राष्ट्र-सेवा में लगा दिया था और सभी से इस बात का पूरा आग्रह किया करता था कि प्रत्येक कार्य पूरी ईमानदारी से किया जाये। मैं स्वयं ईमानदारी को अपना सबसे बड़ा धर्म मानता था और दूसरों से भी ऐसा ही मानकर कार्य करने का अनुरोध करता था। मैं कहा करता था कि जहां जिस कार्य से आम जनता को सुख और शान्ति की उपलब्धि होती है, वहां उस कार्य में अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और धन लिप्सा को मत लाओ। राष्ट्रीय कार्यों से अपने व्यक्तिगत प्रश्नों को सदा अलग रखो। किन्तु इतने वर्षों की अपनी एकनिष्ठ सेवा के बाद मुझे यह देखने को मिल रहा है कि चारों ओर व्यक्तिगत स्वार्थों की ही पूर्ति में सभी लोग लगे हैं भले ही दुहाई राष्ट्रीय हितों की देते हैं। उन्होंने बताया कि जिस मकान में रह रहे हों और उसकी एक-दो ईंटें गिर गई हो तो उन्हें वापस लगा सकते हैं तथा चिन्ता करने की कोई स्थिति उसमें नहीं बनती है। परन्तु जिस मकान की सारी ईंटें खिसक रही हो और बुरी तरह से जर्जर बन गई हों, उस मकान को ठीक करना किसी अति चतुर पुरुष के ही सामर्थ्य में हो सकता है, बाकी सामान्य लोगों की तो उससे बाहर निकल आने में ही सुरक्षा रहती है। उस मकान को बचाने की बात की बजाय अपने आप को बचाने की बात ही मुख्य हो जाती है। यही कारण है कि मैं संगठन या संस्था—आप कुछ भी कहें—उससे बाहर आ गया हूँ।

## विनाश शुरू होता है चौर्य कर्म से

उन सज्जन ने जब आपबीती सुनायी तो उन्होंने इस बिन्दु को स्पष्ट किया कि समाज और राष्ट्र की आज जो दुर्दशा हो रही है उसका सबसे बड़ा कारण है—चौर्य कर्म। जब जो प्राप्य अपना नहीं है, उसे हड़पने की चेष्टाएँ शुरू हो जाये यानी कि आदमी अर्जन करने वाला नहीं, चोरी करने वाला बन जाये तो उस स्थान पर विनाश के लक्षण अवश्य प्रकट हो जाते हैं। चाहे वह कोई संगठन हो या संस्था, कोई समाज हो या राष्ट्र—उस मकान की सारी ईंटें खिसकने लगती हैं। जर्जर हो जाती हैं। जिस घटना से उनके मन को झटका लगा था, उसका विवरण सुनाते हुए उन्होंने बताया कि मैं अपने व्यापार की एक वस्तु का लाइसेंस सदा लेता आया था, वर्ष समाप्त होने पर उसके नवीनीकरण का जब मैंने आवेदन किया तो इस बार मुझे कुछ सन्देह हुआ कि लाइसेंस मुझे दिया जायेगा या नहीं। सब यह जानते थे कि राजनीति में मैं जैसी ईमानदारी बरतता आया था, वैसी ही पक्की ईमानदारी व्यापार में भी बरतता था तथा छोटे से भी भ्रष्टाचारण का एक भी तथ्य कभी कोई नहीं दूँढ़ सका था। मैं अपने आवेदन के परिणाम को जानने के लिये कुछ दिन बाद कार्यालय में गया तो मुझे ज्ञात हुआ कि जो लाइसेंस निश्चित रूप मुझे मिलना ही चाहिये था, वह किसी और को दे दिया गया है। मुझे पता चला कि उस कार्यवाही में खुलकर भ्रष्टाचार हुआ—धन भी रिश्वत में कई लोगों को दिया गया तो शराब आदि वस्तुएँ भी पहुंचायी गई। इस घटना से मेरा मन बुझ-सा गया। लाइसेंस मिलने या न मिलने का मेरी दृष्टि में कोई महत्व नहीं था, किन्तु मेरे खेद का कारण बढ़ता हुआ भ्रष्टाचारण था जो असल में चौर्य कर्म था।

ओडिशा प्रान्त में विचरण करते हुए मुझे स्थान-स्थान पर सुनने को मिला कि वहां भ्रष्टाचार बहुत है। लोग खुले आम कहते फिरते हैं बड़े-बड़े नेताओं व अधिकारियों के लिये कि अमुक-अमुक चोर हैं। वहां गरीबी बहुत है और इस कारण गरीबों के शोषण रूप में चौर्य कर्म बहुत अधिक है। बड़े कहाने वाले लोगों की नैतिकता इस कदर गिर गई है कि मानवों के साथ पशुओं जैसा क्रूर व्यवहार किया जाता है। गरीबों की जवान लड़कियाँ खरीदी जाती हैं—भगायी जाती हैं और वासना की आग बुझायी जाती है। तामसिक वृत्तियों का ऐसा नग्न प्रदर्शन होता है कि दिल दहल जाये। यों देखें तो धीरे-धीरे राष्ट्र और समाज के कई भागों में तामसिक वृत्तियों का खिलवाड़ हो रहा है जिनका मूल उद्देश्य धन की अपार लालसा की पूर्ति करना है और इस धन का अर्जन अपने श्रम से नहीं करना चाहते बल्कि चोरियाँ करके लूटना चाहते हैं। एक खुले चोर की चोरी तो दिखती है कि उसने मकान में सेंध लगायी और अमुक-अमुक वस्तुओं की चुपके से चोरी कर

ली। लेकिन शोषण और भ्रष्टाचार के तरीकों से जो बड़े-बड़े कहलाने वाले लोग चोरियाँ करते हैं, उनका भेद बड़ा गहरा होता है। इस दृष्टि से आज के युग में अचौर्य व्रत की गूढ़ता को समझना अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

### अचौर्य व्रत की महत्ता और गूढ़ता

महावीर प्रभु ने चौर्य कर्म को अदत्तादान के नाम से उल्लिखित किया है तथा उसे अणुव्रत या महाव्रत माना है कि अदत्तादान से विरमण किया जाये। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि मनोज्ञ रूप, शब्द, रस आदि पांचों इन्द्रियों के विषयों से जो सन्तुष्ट नहीं है, वह उनके परिग्रह में आसक्ति और लालसा वाला बना रहता है। उस आसक्ति और लालसा वश वह असन्तोष से दुःखी तथा लोभ से कलुषित बनकर अपनी इष्ट वस्तुएँ पाने के लिये चोरी करता है। वास्तविकता यही है कि इन्द्रियों की तामसिक वृत्तियाँ ही चौर्य कर्म को उभाड़ती हैं। यदि वृत्तियाँ सात्त्विक हों तो उस मानव की आवश्यकताएँ भी अल्प और सादी होती हैं तथा वैसा मानव अपनी उन आवश्यकताओं की पूर्ति भी अपने श्रम से अर्जित शुद्ध धन के द्वारा ही करना चाहता है। वैसे पुरुष का जीवन भी इसी कारण शुद्ध और नैतिक होता है। इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति बन जाने वाला व्यक्ति ही चोरियाँ करता है, भ्रष्ट बनता है तथा अपने अनैतिक दुराचरण से सारे समाज तथा राष्ट्र में विकृतियाँ और विषमता फैलाता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में अदत्तादान की परिभाषा इस रूप में बतायी गई है कि स्वामी के बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना अदत्तादान है। प्राणधारी आत्मा का प्राणहरण भी उसकी आज्ञा न होने से अदत्तादान है। वीतराग देवों द्वारा निषिद्ध आचरण का सेवन करना भी अदत्तादान है। साधु के लिए गुरु की आज्ञा के बिना कोई वस्तु ग्रहण करना भी अदत्तादान है। दशवैकालिक सूत्र में साधु और अदत्तादान के संदर्भ में कहा गया है कि संयमी साधु सचेतन पदार्थ हो या अचेतन पदार्थ हो, अल्प मूल्य पदार्थ हो या बहुमूल्य पदार्थ हो, यहां तक कि दांत कुरेदने का तिनका भी स्वामी से याचना किये बिना न स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरों को ग्रहण करने के लिये प्रेरित करते हैं और न ग्रहण करने वालों का अनुमोदन ही करते हैं। यहां तक कहा गया है कि जो साधु तप का चोर है, वाक्शक्ति का चोर है, रूप का चोर है, आचार का चोर है और भाव का चोर है, वह नीच योनि के देवों में उत्पन्न होता है। यह अदत्तादान की सूक्ष्म परिभाषा है कि इन्द्रियों के विषय सेवन में तो चोरी निन्दनीय है ही किन्तु तपस्या, प्रवचन, आचार और भावों की शुभता के सम्बन्ध में भी यदि दूसरों से लुका-छिपी करने की वृत्ति है तो वह भी एक प्रकार से चोरी ही है।

भगवान् महावीर ने चोरी के सभी प्रकारों से विरति लेने की अपूर्व शिक्षा प्रदान की है। अदत्तादान विरमण अथवा अचौर्य व्रत का जो स्थूल रूप से ग्रहण है, उसे अणुव्रत कहा गया है तथा वह श्रावकों द्वारा आचरणीय बताया गया है। सम्पूर्ण रूप से अचौर्य व्रत का पालन महाव्रत कहा गया है जो साधुओं के लिये आचरणीय बताया गया है। इस रूप में अचौर्य व्रत की गूढ़ता का चिन्तन-मनन किया जाना चाहिये।

### अचौर्य व्रत का विवेचन एवं विश्लेषण

श्रावक के लिये पालनीय अचौर्य व्रत का स्थूल भाग इस रूप में बताया गया है कि क्षेत्र आदि स्थानों में सावधानी से रखी हुई या असावधानी से पड़ी हुई या भूली हुई किसी सचित्त, अचित्त स्थूल वस्तु को, जिसे लेने से चोरी का अपराध लग सकता हो अथवा दुष्ट अध्यवसाय पूर्वक साधारण वस्तु को स्वामी की आज्ञा बिना लेना स्थूल अदत्तादान है तथा एक गृहस्थ को इससे विरमण लेना चाहिये। खात खनना, गांठ खोलकर चीज निकालना, जेब काटना, दूसरे के ताले को बिना आज्ञा चाबी लगाकर खोलना, मार्ग में चलते हुए को लूटना, स्वामी का पता होते हुए भी किसी पड़ी वस्तु को ले लेना आदि ऐसे सभी कार्यों का समावेश स्थूल अदत्तादान में ही किया गया है। ऐसा स्थूल अदत्तादान त्याग रूप श्रावक का तीसरा अणुव्रत कहा गया है।

अचौर्याणुव्रत अर्थात् स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पांच अतिचार बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं—

1. स्तेनाहत— चोर की चुरायी हुई वस्तु को बहुमूल्य समझ कर लोभवश उसे खरीदना या यों ही छिपाकर ले लेना स्तेनाहत अतिचार है।

2. स्तेन प्रयोग— चोरों को चोरी के लिये उकसाना, उन्हें चोरी के उपकरण, औजार आदि देना या बेचना अथवा चोर को चोरी के काम में मदद देना—ये सब स्तेन प्रयोग अतिचार के रूप हैं। यह कहते हुए कि तुम्हारे पास खाना नहीं है तो मैं देता हूँ या तुम्हारी चुरायी हुई वस्तु को कोई बेचने वाला नहीं है तो मैं बेच दूंगा—आदि आश्वासनों से चोर को चोरी करने के लिये उकसाना भी स्तेन प्रयोग ही कहलाता है।

3. विरुद्ध राज्यातिक्रम— शत्रु राजाओं के राज्य में आना-जाना विरुद्ध राज्यातिक्रम अतिचार है। कारण, विरोध के समय शत्रु राजाओं द्वारा राज्य में प्रवेश करने की मनाही होती है।

4. कूट तुला, कूट मान— झूठा यानी कम-ज्यादा तोल व माप रखना, परिमाण से ज्यादा तोल और माप से वस्तु लेना तथा कम तोल और माप से वस्तु बेचना—यह कूट तुला, कूट मान का अतिचार है।

5. तत्प्रतिरूपक व्यवहार— बहुमूल्य बढ़िया वस्तु में, कम मूल्य वाली घटिया वस्तु जो उसी के समान दिखाई देती हो या उसी रूप-रंग की हो या उसमें खप जाने लायक हो, को मिलाकर बेचना अथवा असली सरीखी नकली या बनावटी वस्तु को ही असली बताकर या उसके नाम से बेचना तत्प्रतिरूपक व्यवहार नाम का अतिचार है।

इन पांचों अतिचारों में वर्णित क्रियाएं चोरी के नाम से न कही जाने पर भी चोरी के बराबर हैं। इन क्रियाओं को करने वाला राज्य के द्वारा भी अपराधी माना जाकर दंड का भागी होता है। इस कारण ऐसी क्रियाओं को जान-बूझकर करने से तो अचौर्य व्रत ही भंग होता है किन्तु बिना विचारे अनुपयोगपूर्वक करने से या व्रत की अपेक्षा रखकर करने से या अतिक्रम आदि की अपेक्षा से ये अतिचार के रूप में मानी जाती हैं।

निश्चय और व्यवहार की दृष्टि से इस व्रत का इस प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है—दूसरे के धन, धान्य आदि वस्तुओं को स्वामी की आज्ञा बिना लेना, छिपाना या चोरी व ठगी करके लेने का व्यवहार अदत्तादान है और इसका त्याग करना व्यवहार अदत्तादान विरमण व्रत है। पांच इन्द्रियों के तेईस विषय, आठ कर्मों की वर्गणा इत्यादि आत्मा से भिन्न वस्तुओं को ग्रहण करना निश्चय अदत्तादान है। ये आत्म-स्वरूप से इतर या पर वस्तुएं हैं तथा ये आत्मा के लिये अग्रह्य हैं। इन्हें ग्रहण करने की इच्छा भी मोक्ष की अभिलाषा रखने वाली आत्मा को नहीं करनी चाहिये। जो लोग पुण्यों का उपार्जन करने के लिये शुभ क्रियाएं करते हैं और उन्हें आचरणीय समझते हैं, वे व्यवहार अदत्तादान से विरत होते हुए भी निश्चय अदत्तादान के सेवी हैं क्योंकि वे आत्म-भिन्न पुण्य को ग्रहण करते हैं। मोक्षाभिलाषी आत्मा की क्रियाएं केवल निर्जरा के उद्देश्य से होनी चाहिये। इस प्रकार निश्चय अदत्तादान से निवृत्त होकर कामनाओं से मुक्त तथा निष्काम बनकर धर्म का पालन करना निश्चय अदत्तादान विरमण व्रत कहलाता है।

### साधु के लिये अदत्तादान विरमण महाव्रत

देशविरति श्रावक की अपेक्षा महान् गुणवान् साधु के सर्वविरति रूप व्रतों को महाव्रत कहते हैं तथा साधु का तीसरा महाव्रत अदत्तादान विरमण महाव्रत

कहलाता है। कहीं पर भी ग्राम, नगर या वन प्रान्तर में सचित्त, अचित्त, अल्प, बहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु को उसके स्वामी की बिना आज्ञा लेना साधु के लिये अदत्तादान है। यह अदत्तादान स्वामी, जीव, तीर्थ तथा गुरु के भेद से चार प्रकार का बताया गया है—

1. स्वामी द्वारा बिना दी हुई तृण, काष्ठ आदि वस्तु भी लेना अदत्तादान है।

2. कोई सचित्त वस्तु स्वामी ने दे दी हो, परन्तु उस वस्तु के अधिष्ठाता जीव की आज्ञा बिना उसे लेना जीव अदत्तादान है। जैसे माता-पिता या संरक्षक द्वारा पुत्र आदि शिष्य भिक्षा रूप में दिये जाने पर भी उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध दीक्षा लेने की भावना न होने पर भी उनकी अनुमति के बिना उन्हें दीक्षा देना जीव अदत्तादान है। इसी प्रकार सचित्त पृथ्वी आदि स्वामी द्वारा दिये जाने पर भी पृथ्वी शरीर के स्वामी जीव की आज्ञा नहीं होने से उसे भोगना जीव अदत्तादान है। इस प्रकार सचित्त वस्तु के भोगने से प्रथम महाव्रत के साथ-साथ तीसरे महाव्रत का भी भंग होता है।

3. तीर्थकर द्वारा निषेध किये हुए आधाकर्म आदि आहार ग्रहण करना तीर्थकर अदत्तादान है।

4. स्वामी द्वारा निर्दोष आहार दिये जाने पर भी गुरु की आज्ञा प्राप्त किये बिना उसे भोगना गुरु अदत्तादान है।

किसी भी क्षेत्र एवं वस्तु विषयक उक्त चारों प्रकार के अदत्तादान से सदा के लिये तीन करण तीन योग से निवृत्त होना साधु का अदत्तादान विरमण रूप तीसरा महाव्रत है।

### अचौर्य व्रत का अर्थ है तामसिक वृत्तियों का त्याग

शास्त्रकारों ने कहा है कि हे आत्मा, यदि तू शान्ति चाहती है तो निश्चय अदत्तादान का भी त्याग कर। व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार से जब अचौर्य व्रत ग्रहण किया जाता है तो मन की सारी तामसिक वृत्तियों का त्याग करना होता है क्योंकि ये तामसिक वृत्तियाँ ही आत्मा को नाना प्रकार के चौर्य कर्म करने के लिये उकसाती रहती हैं। तामसिक वृत्तियों को छोड़ने से जीवन में सात्त्विक वृत्तियों का संचार होता है तथा अचौर्य व्रत की पालना होती है। जो इस रूप में अचौर्य-व्रत की पालना करता है, वही सच्ची शान्ति का लाभ प्राप्त कर सकता है।

साधु प्रक्रिया को करते हुए साधु तथा श्रावक प्रक्रिया में चलते हुए सद्गृहस्थ अचौर्य व्रत का पालन करें—यह प्रभु महावीर का निर्देश है। सदा

अदत्त वस्तु को ग्रहण न करने का विवेक रखना चाहिये। यदि जीवन में बिना दी हुई वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं तो यह समझिये कि तामसिक वृत्तियों का जाल फैला रहे हैं। वीतराग देव ने जिन साधकों की वैसी क्षमता जानी, उन साधुओं को अदत्त वस्तुओं का सम्पूर्ण त्याग करने का निर्देश दिया लेकिन गृहस्थी में रहते हुए श्रावक-श्राविकाएँ सूक्ष्म अदत्तादान का त्याग नहीं कर सकते हैं अतः उनके लिये अदत्तादान विरमण अणुव्रत का प्रावधान किया है। एक गृहस्थ चलते-चलते मार्ग पर पड़ी हुई कोई वस्तु देखता है तो उसे उठा लेता है या किसी की दुकान आदि पर जाता है तो बिना आज्ञा लिये भी वहाँ बैठ जाता है, किन्तु ये ही काम एक साधु नहीं कर सकता है।

अदत्त यानी नहीं दी गई वस्तुओं का जहाँ तक सम्बन्ध है वे दो प्रकार की होती हैं—एक सचित्त यानी सजीव तथा दूसरी अचित्त यानी निर्जीव। सजीव वस्तु को ऐसे नहीं लेना कि परिवार पर कलंक लगे। इसके अलावा कोई भी वस्तु यदि गृहस्थ चुराता है तो उसकी व उसके परिवार की चारों ओर अपकीर्ति होती है। चंडप्रद्योत राजा ने भी उदयन महाराजा की दासी चुरायी तो आप जानते हैं कि उसे किस प्रकार की अपकीर्ति सहन करनी पड़ी थी। दासी को चुराना—यह सजीव वस्तु का अदत्तादान था। जो व्यक्ति, गृहस्थ या श्रावक तामसिक वृत्तियों का त्याग करने वाला तथा शान्ति को चाहने वाला होता है, वह कभी भी किसी के अपहरण का अपराध नहीं करता है। मुम्बई में सुना गया था कि किन्हीं स्त्रियों को धन का लालच देकर उनका चरित्र भ्रष्ट कराया जाता है। ऐसे जघन्य कृत्य एक श्रावक को कदापि नहीं करने चाहिये। ये ऐसे काले धब्बे होते हैं जिनको हटाने में भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

कई ऐसी घटनाएँ आपके सुनने में आती होंगी कि छोटी-छोटी वस्तुओं की चोरी भी कभी-कभी राष्ट्रीय अपकीर्ति का कारण बन जाती है। यह घटना मेरे द्वारा किसी पत्र में पढ़ने में आयी थी कि एक बार किसी भारतीय ने किसी विदेशी पुस्तकालय से एक पुस्तक की चोरी कर ली। बाद में खोज करने से पता चला तो सारे देश की बदनामी हुई। उसके बाद उस पुस्तकालय में एक सूचना पट्ट लगा दिया गया कि “भारतीय का प्रवेश निषिद्ध है।”

प्रभु महावीर ने अचौर्य व्रत का जो संकेत दिया है, उसकी व्याख्या में कर रहा हूँ। चोरी करने से जीवन के सारभूत तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और इहलोक के साथ परलोक भी बिगड़ जाता है। अदत्त वस्तु को ग्रहण करने तथा भोगने से निकाचित कर्मों का बंध होता है और उनका कुफल भोगना पड़ता है।



## सात्त्विक वृत्तियों से शान्ति की प्राप्ति

आप दूर-दूर से यहां पर आते हैं तो क्या उसका लक्ष्य शान्ति प्राप्त करना है? यदि आपकी भीतर की अभिलाषा शान्ति प्राप्त करने की है तो आप को गहराई से सोचना चाहिये कि शान्ति क्यों नहीं मिल रही है? आप जानते हैं कि गृहस्थी के कार्यों में शान्ति नहीं मिलती है, इसी कारण समय निकाल कर सन्तों के पास आते हैं कि जिन्होंने अपने जीवन का शुभ रूपान्तरण कर लिया है, उनके सामीप्य में अवश्य शान्ति लाभ हो सकेगा। वास्तव में सन्तों के सहज सम्पर्क से ही आपको यह ज्ञान हो सकेगा कि भांति-भांति के चौर्य कर्मों से तामसिक वृत्तियां एवं विषमता फैलती है अतः अचौर्य व्रत को यथा सामर्थ्य स्वीकार करके अपनी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों को सात्त्विकता में ढालना चाहिये। यह सात्त्विकता जितनी घनीभूत होगी, उतनी ही सच्ची और स्थायी शान्ति प्राप्त हो सकेगी।

दिनांक 11.10.86

(जलगांव)

## 16

## तामसिकता बनाम सात्त्विकता

शान्ति जिन मुझ एक विनति सुनो...

जिनेश्वर देव के चरणों में प्रतिदिन प्रार्थना के माध्यम से निवेदन किया जा रहा है। इस निवेदन में एक ही अभिलाषा है कि भगवान् शान्तिनाथ के दिव्य स्वरूप को कैसे जान सकते हैं? कारण, प्रत्येक मानव अपने अन्तर्मन से शान्ति का रसास्वादन करना चाहता है। मनुष्य अपने भीतर और बाहर की अशान्ति से जितना दुःखी होता है, अन्य किसी बात से नहीं। जिस में भी जरा बहुत समझ है, वह यही चाहता है कि जब तक भी वह जीवित रहे, उसका जीवन शान्तिपूर्वक चले। वह यह भी चाह रखता है कि उसे परिपूर्ण शान्ति की प्राप्ति भी हो जाये। वह कामना करता है उस दिन की—जब वह सदा-सदा के लिये शान्ति की भव्य अनुभूति लेता हुआ धन्य बन जाये।

वास्तविकता यह है कि शान्ति की प्राप्ति में ही जीवन के उद्धार का अनुभव किया जाता है। शान्ति की अभिलाषा हो या अन्य सिद्धियों की—इन सब अभिलाषाओं की पूर्ति तभी हो सकती है, जब वीतराग देवों द्वारा उपदेशित जीवनोद्धार मार्ग का निष्ठापूर्वक एवं विधिपूर्वक अनुसरण किया जाये। वीतराग देवों ने एक उच्चतम अवलम्बन का आदर्श प्रस्तुत किया है तथा संसार के प्राणियों को सम्बोधन दिया है कि यदि इस उच्चतम अवलम्बन का आश्रय ग्रहण करोगे तो शान्ति का यथार्थ स्वरूप भी समझ में आ जावेगा तथा वांछित शान्ति की प्राप्ति भी संभव हो सकेगी। एक बार यदि ऐसा हो जाता है तो समझिये कि सभी प्रकार से जी के जंजालों से स्वतः ही छूट जाने की स्थिति पैदा हो जाती है। शुद्ध अवलम्बन की प्राभाविकता अति महत्त्वपूर्ण होती है, किन्तु उसको हृदय से ग्रहण करने के लिये मानव की पूर्ण रूप से तैयारी होनी चाहिये। इस तैयारी के लिये अन्तरावलोकन की आवश्यकता होती है कि अपने भीतर के क्षेत्र में कितनी तामसिक वृत्तियां अपना रौरव दिखा रही हैं और सात्त्विक वृत्तियां कितनी प्रबल

हैं—यह देखा और जाना जाये, क्योंकि इन्हीं वृत्तियों के प्रचलित होने के आधार पर ही समुचित तैयारी के कदम उठाये जा सकते हैं।

### अन्तःकरण की तैयारी के महत्त्व को समझें

शुद्ध अवलम्बन को ग्रहण करने तथा जीवन को विकास के मार्ग पर अग्रगामी बनाकर शान्ति को पाने के लिये अन्तःकरण की तैयारी के महत्त्व को भली-भांति समझा जाना चाहिये। कल्पना करें कि कोई व्यक्ति अपने बंगले पर किसी विशिष्ट पुरुष को आमंत्रित करना चाहता है तो वह उसके लिये क्या तैयारी करेगा? विशिष्ट पुरुष के आगमन से पूर्व वह सारे बंगले की भली प्रकार से सफाई करेगा, सब ओर सुगन्धित पदार्थ छिड़केगा, फर्नीचर आदि व्यवस्थित करके सुदर्शनीय साज सजावट करेगा और तब उनके आगमन पर उनका सुस्वागत करेगा।

जब लौकिक दृष्टि से भी किसी विशिष्ट पुरुष के आगमन की इस रूप में तैयारी की जाती है, तब परमात्म-तत्त्व की अभिव्यक्ति करने वाले शुद्ध अवलम्बन के स्वागत की तैयारी के लिये तो गंभीरता पूर्वक विचार करने की बात है कि कितनी उत्कृष्ट एवं त्यागमय आध्यात्मिक तैयारी की जानी चाहिये। वस्तुतः यह शुद्ध अवलम्बन भी कहीं बाहर से आने वाला नहीं है, उसका अस्तित्व तो अपने भीतर में ही है। किन्तु, उसे जागृत करने एवं कर्तव्यनिष्ठ बनाने की अपेक्षा है। इस हेतु से ही अपनी आन्तरिकता को स्वच्छ बनाने की आवश्यकता उत्पन्न होती है। इस भीतर की सफाई का अपना अलग तरीका है तथा उसी तरीके से पहले वह सफाई करनी होगी। आन्तरिकता के स्वरूप पर अशुभता और मलिनता के आवर्त चढ़े हुए होते हैं और उन आवर्तों को दूर हटाने से ही आन्तरिकता की स्वच्छता हो सकती है। ज्यों-ज्यों कर्म मूल के आवर्त हटते जाते हैं और अशुभ वृत्तियों की परतें मिटती जाती हैं, त्यों-त्यों आन्तरिकता का मूल स्वरूप व्यक्त होता जाता है। जो प्रकाशमय एवं आनन्दमय होता है। आत्म-स्वरूप की स्वच्छता के साथ ही अनन्त सूर्यो के अपार प्रकाश को भी परास्त करने वाला आन्तरिकता का तेजस्वी प्रकाश इस जीवन में सुप्रकट होने लगता है। इस प्रकाश का उदय ही क्या होता है कि अन्तर्वृत्तियों के द्वन्द्व, भावों के तूफान और अशान्ति की ज्वालाएँ स्वतः ही शान्त होने लगती हैं। क्योंकि आत्म-स्वरूप के रूपान्तरण के रूप में ही वह शुद्ध अवलम्बन स्पष्ट हो उठता है। यह शुद्ध अवलम्बन का सूर्य जब उदय होता है और अधिकतम प्रकाश फैलाता जाता है, तब वहां अन्तर्वृत्तियों के अंधकार

ठहर नहीं पाते हैं—तामसिक वृत्तियाँ हटती जाती हैं और सात्त्विक वृत्तियाँ प्रबलतर बनती जाती हैं।

आत्म-जागृति के रूप में प्राप्त यह शुद्ध अवलम्बन इतना तेजोमय होता है कि अज्ञान और मोह का अंधकार दूर तो भागता ही है लेकिन वापस इस आत्म-स्वरूप को आवर्त करने का दुस्साहस भी नहीं कर सकता है। इस प्रकार का अन्तरावलोकन, आत्मसंशोधन एवं आत्म-जागरण इस मानव जीवन की योनि में ही शक्य हो सकता है, अन्य किसी भी योनि में पर्याप्त उत्कृष्टता के साथ ऐसा होना दुष्कर बल्कि असंभव ही कहा जायेगा। यह तो इस मानव जीवन की ही विशिष्टता है जो आत्मा को परमात्मा की श्रेणी तक पहुंचा सकती है। मानव इस दिशा में जो भी करना चाहे—यदि उसका ज्ञान, दर्शन और चरित्र उस उत्कृष्ट कोटि का बन जाता है तो वह कुछ भी कर सकता है। उसके लिये कोई भी लक्ष्य असंभव नहीं होता। इसी दृष्टि से उसे अपने भीतर की समुचित तैयारी करने एवं शुद्ध अवलम्बन को पा लेने के गहरे महत्त्व को पूरी निष्ठा से समझना और आचरण में उतारना चाहिये।

### तामसिकता बनाम सात्त्विकता का संघर्ष

मानव जीवन की ऐसी विशिष्ट शक्ति उसकी अन्तरात्मा में समाविष्ट होती है, किन्तु बाहरी गतिविधियों में बार-बार उलझते हुए भी वह अपने भीतर में मुश्किल से ही निहारता है। तनावों, दबावों और परेशानियों से जब वह बहुत घबरा जाता है तो इधर-उधर की प्रवृत्तियों में फंसता है। कभी ज्योतिषी के पास जाता है और अपनी अशान्ति की समाप्ति का भविष्य पूछता है तो कभी पुजारियों या तांत्रिकों के चक्कर में घूमता है। इन्हीं परेशानियों का कभी-कभी उसके दिमाग पर भी बुरा असर होने लगता है तो मनोचिकित्सकों के मुंह से अपने मानसिक रोग का हाल जानकर वह चिन्ताग्रस्त हो जाता है। इस तरह ग्रहों को शान्त करने के प्रयास तो वह करता है किन्तु वास्तविक रूप से उसे शान्ति किस विधि से प्राप्त होगी—इस ओर वह विशेष ध्यान नहीं देता है।

जिस व्यक्ति का सन्तों से संसर्ग होता है तथा धार्मिक क्षेत्र से परिचय होता है, वह इस संदर्भ में मूल बात तक पहुंच जाता है। वही व्यक्ति शुद्ध अवलम्बन के स्वरूप को भी जानता है तथा उसे जागृत करने के सम्बन्ध में समुचित प्रयास भी करता है। ऐसे प्रयासों के अन्तर्गत ही उसकी अन्तरावलोकन की प्रवृत्ति बनती है और अन्तरावलोकन से ही अपनी अन्तर्वृत्तियों के सम्बन्ध में ज्ञान होता है। वे अन्तर्वृत्तियाँ भीतर किस रूप में चल रही हैं और उनका

जीवन के क्रियाकलापों पर किस रूप में प्रभाव पड़ता है—उस ओर एक अन्तर्दृष्टा का ध्यान जाता है। वृत्तियों के निरीक्षण एवं परीक्षण से स्पष्ट होता है कि तामसिक वृत्तियाँ कैसी होती हैं और उन्हें सात्त्विक स्वरूप में किस विधि से रूपान्तरित कर सकते हैं।

तामसिक वृत्तियों के आत्म-स्वरूप घाती स्वभाव को जानते हुए तीर्थकर-देवों ने स्पष्ट रूप से निर्देश दिया है कि इन वृत्तियों को अपने पास भी मत भटकने दो—कहीं उनका आक्रमण अपने अन्तःकरण पर हो तो उन्हें तुरन्त दूर हटा देने का प्रयास करो। ऐसा करने से ही शान्ति प्राप्त करने की अभिलाषा पूरी हो सकती है, जब तक तामसिक वृत्तियों से छुटकारा नहीं पाया जाता है तब तक सात्त्विक जीवन निर्माण की ओर गति नहीं हो सकती है। यह समझने की बात है कि तामसिक वृत्तियाँ कैसी होती हैं? तमस का अर्थ होता है अंधकार अर्थात् जो वृत्तियाँ इस जीवन को अंधकार की ओर ढकेलती रहें, वे सब तामसिक वृत्तियाँ कहलाती हैं। अंधकार क्या होता है—यह तो आप जानते हैं कि अज्ञान और मोह—ये दोनों आत्मा के लिये अंधकार स्वरूप होते हैं। अपनी वृत्तियाँ जितनी अज्ञानमय रहती हैं और मोहदशा में भ्रमित होती है, उतनी ही वे आत्मा को अंधकार में भटकाती हैं। अज्ञान को दूर करने के लिये सम्यक् ज्ञान की अपेक्षा रहती है और ज्ञान के प्रकाश में मोह का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है कि वह अपनी राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि की वृत्तियों से ज्ञानवान् आत्मा को भी किस तरह व्यामोहित बनाकर सात्त्विकता की ओर मुड़ने नहीं देता है।

अंधकार में भटकने से हानि के सिवाय और क्या हो सकता है? ये मनोवृत्तियाँ मोह की प्रगाढ़ता के साथ अधिकाधिक संक्लिष्ट बनती जाती हैं तो उनकी तामसिकता भी भयावह होती जाती है। तब उन्हें दूर हटाने के लिये विशेष विवेक एवं पुरुषार्थ की जरूरत पड़ती है। यह तामसिकता विषयों एवं कषायों में गहरी रंगी हुई वृत्तियों के माध्यम से जीवन की बाहरी प्रवृत्तियों में जब फूटती है तो उससे समाज और राष्ट्र का जीवन भी कलुषित बनता है। इस कारण तामसिकता के विरुद्ध सात्त्विकता जगाने की सर्वदा और सर्वत्र चेष्टा की जानी चाहिये।

### ज्ञान सम्यक् हो तो सात्त्विकता अवश्य आयेगी

ज्योतिषियों और तांत्रिकों की भविष्यवाणियों तथा ग्रह नक्षत्रों की चालों से वह व्यक्ति प्रभावित होता है, जिसका ज्ञान सम्यक् नहीं होता। सम्यक्-ज्ञानपूर्वक चलने वाले पुरुष के लिये इनका कोई महत्त्व नहीं होता, क्योंकि वह

जानता है कि अशान्ति को मिटाने के लिये तामसिक वृत्तियों को घटाना तथा सात्त्विक वृत्तियों का विकास करना जरूरी है। वह अन्तरावलोकन करता है तथा तामसिक वृत्तियों के स्वरूप को समझने में समर्थ होता है।

आज विजयादशमी का दिन है। इस दिन स्थान-स्थान पर रावण का पुतला जलाया जाता है। इसके पीछे भावना क्या है—यह जानना चाहिये, क्योंकि असल में महत्त्व उसी का है। सामान्य रूप से इस दिन सोचा यह जाता है कि विजयादशमी को विजय राम के चरणों में लोट-पोट हो गई थी क्योंकि रावण की इति उनके द्वारा हुई। राम ने रावण को धरातल से हटा दिया। इन दोनों को सात्त्विक एवं तामसिक वृत्तियों के प्रतीक मानें तो आज भी रावणी वृत्तियाँ सब ओर फैली हुई दिखाई देती हैं जिनकी समाप्ति सात्त्विक वृत्तियों के बल पर ही की जा सकती है। राम अपने जीवन में मर्यादापूर्वक सात्त्विक वृत्तियों का अनुसरण करते थे। रघुकुल की परम्परा से पिता के देहावसान के पश्चात् राज सिंहासन ज्येष्ठ पुत्र को मिलता था किन्तु पिता की वचननिष्ठा की पूर्ति के लिये राम ने सत्ता को सहज ही में ठोकर मार दी और वनवास में चले गये। उनको अवसर था और शक्ति थी कि वे सत्ता को फिर भी हस्तगत कर लेते किन्तु सहज भाव से उन्होंने अपनी त्याग वृत्ति का परिचय दिया। उन्होंने सोचा कि मुझे संसार के जंजालों में नहीं फंसना है तथा लोगों को त्याग का बोध देना है। राज्य के मोह को त्यागकर उन्होंने स्वयं आदर्श प्रस्तुत किया ताकि दुनिया उनके त्याग को समझ कर स्वयं भी त्याग की दिशा में आगे बढ़ सके। उनके इस विचार पर कोई चिन्तन करे तो उसका रहस्य ज्ञात हो सकेगा कि उनके जीवन में शुद्ध अवलम्बन की प्रकाश किरणें फूट चुकी थीं। उनका आत्म-जागरण और आत्म-विश्वास उच्च कोटि का बन चुका था। उनका अयोध्या का त्याग एक प्रकार से भौतिक सुखों का त्याग था। जहां भौतिक सुखों का स्वेच्छापूर्वक त्याग होता है, वहां तामसिक वृत्तियाँ पहले ही समाप्त हो जाती हैं क्योंकि वैसा त्याग सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में ही संभव होता है।

अभी मैं रामायण का प्रसंग सर्व रूप से नहीं कर रहा हूँ—मुख्यतः राम की सात्त्विक वृत्तियों के सम्बन्ध में ही कुछ कह रहा हूँ। तामसिक वृत्तियाँ घटती और मिटती हैं तभी जीवन में धार्मिकता का प्रवेश होता है। धार्मिकता चूंकि सम्यग् ज्ञान से संपन्न होती है अतः अधिकाधिक सात्त्विकता को सक्रिय बनाती है। तामसिकता और सात्त्विकता का अन्तर रामायण के संदर्भ में इस रूप में देखा जा सकता है कि एक ओर रावण तो उसको भी हथिया लेना चाहता है जो दूसरों का है और दूसरी ओर राम उसे भी सहर्ष त्याग देने को तत्पर हो जाते हैं

जो उनका अपना है। यह है वृत्तियों का अन्तर। वृत्तियों का स्वरूप इस रोशनी में समझा जा सकता है कि अपने अन्तःकरण में किन वृत्तियों की अधिकता है? क्या ऐसी वृत्तियाँ अधिकांश रूप में क्रियाशील हैं जो अपना तो अपना दूसरों का भी अपना बना लेने के कुटिलतम प्रपंच करती रहती हैं अथवा वे वृत्तियाँ अधिक हैं जो सही कार्य के लिये अपना भी त्याग देने की प्रेरणा फूंकती हैं? इस तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हो जायेगा कि अपना यह जीवन सम्यक् ज्ञान और सात्त्विकता के वातावरण में कार्यरत है या कि अज्ञान और मोह के अंधकार में भटकता हुआ तामसिकता से लिप्त बना हुआ है?

### राम-रावण अपनी ही चित्तवृत्तियों में हैं

राम सात्त्विक वृत्तियों के तथा रावण तामसिक वृत्तियों का प्रतीक था और प्रत्येक मानव के हृदय में सात्त्विक एवं तामसिक वृत्तियों का दौरा दौरा चलता रहता है, इसलिये कहा जा सकता है कि राम और रावण का निवास वस्तुतः कहीं बाहर नहीं, अपनी ही चित्तवृत्तियों में रहता है और इसी दृष्टि से निरन्तर अन्तरावलोकन का निर्देश दिया जाता है। यह जानते रहने के लिये कि भीतर में राम-रावण युद्ध किस रूप में चल रहा है और उसमें विजय राम की हो रही है या रावण की? अन्तरावलोकन के अभाव में कई बार ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जो बाहर से माला तो राम-नाम की फेरते रहते हैं, मगर उनके दिलों पर शासन तो रावण का चल रहा होता है।

रावण राक्षस था, इसी कारण तीन खंड का अधिपति होते हुए भी दूसरों का धन अपने अधीन करने को लालायित रहता था। हकीकत में राक्षस उसे ही कहा गया है, जिसकी तृष्णा अनन्त हो—जो हो अपने पास और जो लूटे दूसरों से—सबको अपने पास रखता जाता है। जो रखे सो राक्षस तथा जो देवे सो देव। राम देवता थे—उदार हृदय, अपना क्या, जो है उसे भी सदा न्योछावर करने को तैयार—परिग्रह के प्रति कोई मूर्च्छा नहीं। राक्षस को अपार लोभ, फिर भी सन्तुष्टि नहीं और देवता सन्तोष धन के स्वामी जो है उस पर भी पूर्ण त्याग भाव। राक्षस और देवता का, रावण और राम का आप अन्तर समझ गये होंगे। यही अन्तर है तामसिक और सात्त्विक वृत्तियों का तथा यही अन्तर है अशान्ति और शान्ति का। तामसिक वृत्तियों से ग्रस्त व्यक्ति को शान्ति कहां तथा सात्त्विक चित्तवृत्तियों वाले पुरुष को अशान्ति छू तक नहीं सकती।

सीता का चुपचाप हरण करके रावण ने चौर्य कर्म भी किया। लोभी चोर भी होता है और हिंसक भी। परिग्रह की मूर्च्छा में अस्तेय और अहिंसा व्रत

तो नष्ट होते ही हैं असत्य एवं अब्रह्म का भी सेवन होता है। इस प्रकार एक तृष्णावान व्यक्ति तामसिक वृत्तियों की जटिल जकड़ में बंधा हुआ रहता है। रावण के मन में भी अब्रह्म समाया और उसने सीता का हरण किया। सीता शुद्ध अवलम्बन को धारण करने वाली थी और वह पांचों इन्द्रियों के विषयों की ओर आकर्षित होने वाली नहीं थी। रावण को यह ज्ञान था कि जो पतिव्रता अयोध्या के राजमहलों के सुखों को छोड़कर पति की सेवा में जंगल-जंगल भटक रही है, वह उसे कभी चाह नहीं सकती, लेकिन अपनी ही तामसिक वृत्ति की उद्वंडता के आगे वह बेबस था। सीता को धोखा देने के लिये तुलसीकृत रामचरितमानस के अनुसार इसी कारण रावण ने जोगी भेस में सीता का अपहरण किया। जोगी के रूप में सीता के सामने उसने यह प्रदर्शन किया कि वह शुद्ध अवलम्बन को लेकर चल रहा है। सीता ने भी सोचा कि यह जोगी जैसा बाहर है वैसा ही भीतर भी होगा, क्योंकि सज्जन तो प्रथम दृष्टि में दुर्जन को भी सज्जन रूप में ही देखता है। इस कारण सीता का यही चिन्तन रहा कि जोगी को भिक्षा देने का अवसर आया है तो संकोच या अविश्वास नहीं रखना चाहिये। वह पतिव्रता नारी थी और उसके हृदय में आत्म-विश्वास भरा हुआ था। किन्तु तामसिक वृत्ति ने सात्त्विक वृत्ति का अपहरण कर ही लिया।

परन्तु राम तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे। उनकी न तो लंका लेने की चाह थी और न रावण को मारने की। राम को विक्षोभ हुआ कि रावण ने चोर कर्म किया और वह भी मुझ जैसे समर्थ पुरुष की पतिव्रता नारी का अपहरण करके—यह अधर्म और अन्याय है। यदि मैं प्रतिकार नहीं करूंगा तो अन्य महिलाओं का क्या होगा या कि संसार की नैतिकता पर कैसा असर पड़ेगा? दूसरे, रावण ने साधु का वेश धर कर चोरी की है—इससे अधिक कुप्रभावी वृत्ति क्या हो सकती है? उनके मन में यही रहा कि उन्हें रावण की हत्या नहीं करनी है बल्कि उसकी तामसिक वृत्तियों को नष्ट करना है। इसी हेतु से राम ने युद्ध का प्रसंग किया और वह भी मर्यादाओं के अन्दर। वस्तुतः वह युद्ध सात्त्विक और तामसिक वृत्तियों का था।

### तामसिक वृत्तियों से सतत सावधान रहें

तुलसीकृत रामचरितमानस में चौर्य वृत्ति का जो वर्णन हुआ है, वह बड़ा ही प्रेरणाप्रद है। आज रावण नाम से जाना जाने वाला राक्षस मौजूद नहीं है, लेकिन तुलसी ने आज के मानव को प्रेरणा दी है कि तुम सतत सावधान रहो। साधु और जोगी की पोशाकों में भी आज की दुनिया में रावण घूमते फिरते हैं



और धर्म की आड़ में नाना प्रकार के कुकर्म करते रहते हैं। मुम्बई की अभी की घटना तो आपके ध्यान में है कि धर्म की पोशाक में नारी और उसके पीछे अन्य कुंवारी कन्या का क्या हुआ? ये सब रावण ही तो हैं। रावण एक ही पोशाक में नहीं, अनेक पोशाकों में रहता है। आज तक का इतिहास उठाकर देखें या आज के विभिन्न क्षेत्रों में झाँकें तो पता लगेगा कि तामसिक वृत्तियों के कुप्रभाव से कैसा-कैसा अधर्म नहीं हुआ है या होता है? और धर्म की पोशाक में तो ये वृत्तियाँ ऐसा व्यवहार करती हैं जिससे आश्चर्य भी होता है तो विक्षोभ भी। राम ने तामसिक वृत्तियों की इस अनीति का ही प्रतिकार किया।

रामायण में इसी तत्त्व का विस्तृत वर्णन है कि मनुष्य के चित्त में तामसिक एवं सात्त्विक वृत्तियों का संघर्ष चलता रहता है और इस संघर्ष में एक ओर मनुष्य उत्साह से भरा-पूरा भी रहता है तो व्यथित भी। क्योंकि जब तामसिक वृत्तियों को परास्त करती हुई उसकी सात्त्विक वृत्तियाँ प्रबल बनती हैं तो वह उत्साह से भर उठता है, किन्तु किन्हीं परिस्थितियों में जब सात्त्विक वृत्तियाँ दुर्बल होने लगती हैं तो वह व्यथित हो जाता है। इस संघर्ष में मनुष्य की यदि सतत सावधानी रहती है तो धीरे-धीरे ही सही, वह अपनी सात्त्विक वृत्तियों के बल से तामसिक वृत्तियों को नष्ट करता हुआ चला जाता है। इस कारण मनुष्य के जीवन विकास की प्रारंभिक परिस्थितियों में ऐसा संघर्ष आवश्यक है। कारण, जहां चित्तवृत्तियों का ऐसा संघर्ष नहीं है, वहां दो ही अवस्थाएं हो सकती हैं। एक तो यह कि वह वीतराग हो गया हो और दूसरी यह कि वह अपनी तामसिक वृत्तियों की जटिलता से इस तरह जकड़ा हुआ हो कि उसमें सात्त्विक वृत्तियों के अपनाने का विवेक ही न बचा हो। चित्त में जब केवल तामसिक वृत्तियों की ही क्रूर लीलाएँ चल रही हों तो वहां संघर्ष कैसे होगा? धर्मोपदेशों का यही अभिप्राय है कि सात्त्विक वृत्तियों का स्वरूप समझाया जाये, उसकी शुभ प्राभाविकता बतायी जाये तथा उन्हें प्रयास के साथ अपनाने को कहा जाये। इस प्रेरणा से चित्त में संघर्ष का जन्म होता है तथा इसी संघर्ष का ही सुपरिणाम यह होता है कि एक दिन सात्त्विक वृत्तियाँ विजयी बनकर तामसिक वृत्तियों के अंधकार को नष्ट कर देती हैं। इसी तरह राम की विजय होती है।

इसीलिये ज्ञानीजनों का कथन है कि सात्त्विक एवं दैविक वृत्तियों को अपने जीवन में स्थान देने से मनुष्य राम के तुल्य बनता है। प्रत्येक मानव को यह भावना रखनी चाहिये कि रावण को मारा उसकी तामसिक वृत्तियों ने और राम को जिताया उनकी सात्त्विक एवं दैविक वृत्तियों ने, अतः तामसिक वृत्तियों से अपने जीवन को बचाने में सतत सावधानी रखी जाये। रावण यदि अपनी

कामवासना की तामसिक वृत्ति के अधीन होकर विवेकशून्य नहीं बनता तो वह मारा नहीं जाता। काम ऐसा शल्य देता है जो मनुष्य को शान्ति की सांस तक नहीं लेने देता, क्योंकि काम रूपी शल्य उसके भीतर में इस प्रकार दंड देता है कि अन्तर्चेतना को निरन्तर पीड़ित करता रहता है—शल्य की तरह चुभता रहता है। जहां मन में काम विकार आता है तो वह दृष्टि में आये बिना नहीं रहता है जो पांचों इन्द्रियों के विषय विकारों का पोषण करता है।

### सात्त्विक वृत्तियों को संवारना परमावश्यक

आज की दुनिया, आज के मनुष्य और आज के जीवन में सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि अधिकांश रूप में तामसिक वृत्तियों का नग्न नर्तन हो रहा है। काम का शल्य तीखा है तो लोभ की कटार भी गहराई से अन्तर्चेतना में घुसी हुई है। आज का मानव अपनी धर्मपत्नी को भी वासना की दृष्टि से देखता है तो सोचने की बात पैदा होती है कि तामसिक वृत्तियों का कुप्रभाव कितना बढ़ गया है। वह साधु-सन्तों के समीप आकर कहता है कि उसे शान्ति नहीं मिलती, लेकिन ऐसी तामसिक वृत्तियों के साथ भला शान्ति मिलेगी तो कैसे? वह शान्ति की चाह तो रखता है किन्तु उसके लिये अनुकूल पुरुषार्थ नहीं करना चाहता और कल्पना करता है कि सीधी तैयार रसोई की तरह शान्ति उसे यों ही मिल जाये। महाराज साहब के पास आवे और जैसे वे उसे शान्ति का तैयार लड्डू पकड़ा दें। किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। शान्ति को प्राप्त करने के लिये तामसिक वृत्तियों से छुटकारा लेना तथा सात्त्विक वृत्तियों को संवारना परमावश्यक है।

जो पुरुष अपने भीतर शुभ अवलम्बन को लेकर चलता है, वह वहां प्रत्येक परिस्थिति में अपनी सात्त्विक वृत्तियों का पोषण करता है। वह कहीं चोरी नहीं करता, लोभ के वशीभूत नहीं होता, हिंसक नहीं बनता या कि असत्य या अब्रह्म का सेवन नहीं करता अर्थात् किसी भी रूप में अपनी चित्तवृत्तियों को तामसिक वृत्तियों के अधीन नहीं होने देता है। तामसिक या मलिन वृत्तियों का जिस रूप में या जितने अंशों में कुसंस्कार इस मन-मानस में बना रहता है, तब तक जीवन की सात्त्विकता परिपुष्ट नहीं हो पाती है।

आप धर्मयश की कथा सुन रहे हैं। पीड़ादायी अशान्ति से ग्रस्त धर्मयश अपनी व्यथा कथा मुनि को बता रहा है। वह कहता है—मेरे जन्म लेते ही घर की सम्पत्ति समाप्त हो गई और जो थोड़ी बहुत बची थी, उसे भी विश्वास-पात्रों ने खाली कर दी। जिनको ब्याज पर राशियाँ दी हुई थी वे ब्याज तो

ब्याज, मूल राशि भी खा गये। मैंने पूर्व जन्म में ऐसी कौन-सी तामसिक वृत्तियों का आचरण किया जिसके फलस्वरूप मुझे इस जीवन में ऐसी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है? महात्मा ने दो मिनट ध्यान किया और कहा— धर्मयश, तुम दुःखी होकर मेरे पास बैठे हो, किन्तु वर्तमान में तुम्हें जो अशान्ति है, उसका कारण यह आवश्यक नहीं कि वर्तमान का ही हो, वह भूतकाल का भी हो सकता है। यह पूर्व जन्म की तामसिक वृत्ति का फल मिल रहा है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। तुम्हारे इस जन्म से तीन जन्म पहले तुम सात्त्विक वृत्तियों वाले व्यक्ति थे तथा सन्तों के मुख से शान्ति के उपाय जानते थे और उन पर अमल करते थे। तुमने अणुव्रतों के क्रम में तीसरा अचौर्य अणुव्रत स्वीकार किया था। तुम्हें शान्ति का अनुभव होने लगा किन्तु तब तक तुम साधु धर्म ग्रहण करने का निश्चय नहीं बना सके थे और गृहस्थी में रहते हुए अशान्ति का अनुभव भी करते रहते थे।

वास्तव में गृहस्थ दशा में रहते हुए अशान्ति की अवस्था रहती ही है। यदि ऐसा न हो तो वह साधु धर्म को ही ग्रहण कर ले। चारों ओर नजर फैलाते हैं तो देखा जाता है कि तरुणाई में प्रवेश करने के बाद खुशी-खुशी शादी तो कर ली जाती है, किन्तु उसके परिणाम प्रकट होने पर तरह-तरह की मनःस्थितियाँ सामने आती हैं। किसी शादीशुदा को पूछा गया कि क्या हालचाल है तो उसने बताया कि एक-एक करके लगातार आठ कन्याएँ हो गई हैं और भविष्य की चिन्ता उसे खाये जा रही है। स्व. आचार्य श्री गणेशलाल जी म.सा. ने एक व्यक्ति को उसकी लड़की का नाम पूछा तो उसने बताया—अणुचाई। पूछा—ऐसा क्या नाम रखा तो वह कहने लगा—पहले से छः लड़कियाँ थी और इसकी कतई चाह नहीं थी। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वर्तमान सामाजिक ढाँचे में कुरीतियों के कारण कन्या के विवाह के समय पैसे मांगे जाते हैं और मजबूर होकर कन्या के पिता को दहेज देना पड़ता है। इससे पहले लड़कियों के पैसे लिये जाते थे और अब लड़कों के पैसे लिये जाते हैं। इस कुरीति के कारण निम्न या मध्यम वर्ग के लोगों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है और कई बार विवाहित बहुओं को भारी अत्याचार का शिकार भी होना पड़ता है। यह सब तामसिक वृत्तियों का नजारा है और सात्त्विक वृत्तियों को संवारे बिना व्यक्ति और समाज जीवन बदलेगा नहीं।

### सात्त्विकता सत्य की महिमा से मंडित बने

सात्त्विकता होगी वहां सत्य होगा ही, किन्तु कई बार ऐसे ढोंगी और पाखंडी लोग भी देखे जाते हैं जिनके क्रिया-कलापों से ऐसा प्रतीत होता है,

जैसे वे अपने जीवन में पूर्ण रूप से सात्त्विकता के साथ चल रहे हैं, पर भीतर ही भीतर वे सत्य को महिमामंडित करने की बजाय सत्य को खंडित करते रहते हैं, अस्तेय व्रत को खंडित करते रहते हैं अथवा तामसिक वृत्तियों के दबाव में गलत कार्य करते रहते हैं। एक व्यक्ति ने एक महात्मा से चोरी न करने का नियम लिया अर्थात् किसी के द्वारा न दी हुई वस्तु को वह ग्रहण नहीं करेगा। एक बार शाम को वह बाहर गांव से लौटता हुआ अपने घर की ओर आ रहा था। रास्ते में उसको एक आम का पेड़ दिखाई दिया। मौसम था सो वह पेड़ आम के पके हुए फलों से लदा था। उसका मन ललचा गया। तभी उसे याद आया कि उसने तो अचौर्य व्रत धारण कर रखा है। आम भी खाने हैं और व्रत भी नहीं तोड़ना— इस पर खूब सोच कर उसने एक गली निकाली। उसने मन ही मन तर्क उठाया कि आम के फल का माली या जनक यह आम का वृक्ष ही है सो वृक्ष से पूछकर फल लिये जा सकते हैं। तब उसने स्वयं ही वृक्ष से कहा—देखो, तुम्हारी आज्ञा से मैं तुम्हारे फल ले रहा हूँ। फिर क्या था—मन भाए उतने फल तोड़कर खा लिये। वह रोज उसी रास्ते से आता था और रोज इसी विधि से आम खाने लगा। फिर भी निश्चित कि उसका व्रत तो भंग हुआ ही नहीं है।

उधर आम का मालिक सोचता कि प्रतिदिन पेड़ पर से फल कम क्यों होते जा रहे हैं? एक दिन वह पास ही में छिप कर बैठ गया। उसने उस व्यक्ति को फल खाते हुए देख लिया तथा वह उसे पहचान भी गया कि यह तो वही व्यक्ति है जिसने चोरी करने का त्याग किया हुआ है। वह वहां से उठकर पेड़ के नीचे उस व्यक्ति के पीछे से पहुंचा और उसकी गर्दन पकड़कर पूछने लगा—तुमने चोरी करने का तो त्याग किया हुआ है और इस तरह से चोरी करके मेरे आम खा रहे हो। शर्म नहीं आती तुम्हें? वह बोला—मैं तो पेड़ की आज्ञा लेकर खा रहा हूँ, चोरी नहीं कर रहा हूँ। तब तो वह मालिक डंडा उठा कर उस पर झूम पड़ा कि इस तरह अपने आपको ही नहीं, सारी दुनिया को धोखा देना चाहते हो। वह चिल्लाने लगा कि मुझे डंडे से क्यों मार रहे हो? पेड़ का मालिक भी कहने लगा—मैंने तुम्हें मारने के लिये डंडे से पूछ लिया है। वह व्यक्ति शर्म से गड़ गया और माफी मांगने लगा कि आगे से ऐसा पाखंड वह कभी नहीं करेगा।

कहने का आशय यह है कि जो सात्त्विकता के जामे में लपेट कर तामसिकता का आचरण करते हैं, वे और भी अधिक निकृष्ट होते हैं। सद्गुणों को धारण करने में एवं सात्त्विक वृत्तियों के आचरण में कभी भी तामसिकता

का या ढोंग का प्रयोग नहीं करना चाहिये। सात्त्विकता का यदि ढोंग किया जाता है तो मानना होगा कि वह वास्तव में सात्त्विकता ही नहीं है, क्योंकि सात्त्विकता होगी तो मन की सरलता और सचाई वहां पर अवश्य होगी। इस दृष्टि से सात्त्विकता की आड़ लेकर तामसिकता का आचरण कदापि नहीं किया जाना चाहिये।

सात्त्विक वृत्ति वह मूल है जिस पर सत्य, अहिंसा, अचौर्य, संयम एवं त्याग के फूल खिलते ही हैं तथा शान्ति का फल लगता ही है।

दिनांक 12.10.86

(जलगांव)

## 17

## वृत्तियों का पट्टिमार्जन

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

परमात्मा के चरणों में कुछ आत्म-निवेदन करने की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी कविताओं का उच्चारण हुआ। इनके उच्चारण से मन-तंत्री के तारों के झंकृत होने का प्रसंग आता है। मन तंत्री या मानस-तंत्र शरीर का महत्त्वपूर्ण तंत्र होता है। इस तंत्र के व्यवस्थित होने पर जीवन की सारी प्रवृत्तियाँ स्वयमेव ही व्यवस्थित हो जाती हैं। इस तंत्र का जाल गुप्त धन के समान सारे शरीर में व्याप्त होता है। इस जाल के बीच में शुद्ध अवलम्बन को खोजना जरा कठिन कार्य अवश्य है किन्तु इतना कठिन नहीं कि वह खोज कभी पूरी हो ही नहीं सके। इस खोज में मुख्य कठिनाई यही है कि शोधी मानव की अपने लक्ष्य के प्रति स्थिरता की भावना नहीं रहती है। पूर्व की ओर गति करना चाहें लेकिन ध्यान पश्चिम की ओर लगा हुआ रहे तो उस गति में सफलता कैसे मिल सकती है? बिना ध्यान के कोई कार्य करना कठिन ही होता है।

लक्ष्य के प्रति ध्यान देने का नाम ही निष्ठा है और इस निष्ठा को जब केन्द्रस्थ कर लेते हैं तो वह एकनिष्ठा बन जाती है। किसी भी लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठ होने पर ही उसमें सफलता मिल सकती है। एकनिष्ठा के बल पर कठिनता से मिल सकने वाली प्राप्ति भी सरल हो जाती है। एकनिष्ठा के निर्माण के लिये मानसिक वृत्तियों को तदनु रूप मोड़ना व तैयार करना जरूरी होता है।

### मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण व वर्गीकरण

मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण करने के लिये उनके विविध वर्गीकरणों तथा दृष्टिकोणों को खयाल में रखना आवश्यक है। यह भी जानना आवश्यक है कि अन्दर के इस तंत्र के विपरीत मानसिक वृत्तियाँ गति क्यों करती हैं? इस विपरीतता के कई कारण होते हैं, जिनमें बाह्य एवं आन्तरिक कारण भी सम्मिलित हैं। इनमें कुछ कारण भावात्मक भी होते हैं तो कुछ द्रव्यात्मक भी।

भावात्मक कारण विचारों के वायुमंडल से उत्पन्न होते हैं, जिनकी विविध आकृतियाँ विचार श्रेणियों के अनुसार मानस-पटल पर बनती रहती हैं। आन्तरिकता में इस प्रक्रिया को बारीकी से देखें तो एक रील जैसी बन जाती है। मन इस रील को देखने में इस प्रकार मुग्ध बन जाता है कि उसका ध्यान दूसरी तरफ मुड़ता ही नहीं है। यह मन की मुग्धता भी हो सकती है तो मन की तन्मयता भी हो सकती है।

यहां पर मुग्धता एवं तन्मयता के भेद को समझ लेना चाहिये। बाह्य-वृत्तियों में मोह के प्रभाव से जो मन की प्रगाढ़ संयुक्तता होती है, वह मुग्धता होती है। इस मुग्धता की दशा में यदि मन का विवेक जाग जाये व बाह्य वृत्तियों के दुष्प्रभाव से सावधान बन जाये तो वह अपनी आत्मा की आन्तरिक शक्ति के जागरण में प्रयासरत हो सकता है। ऐसा होने की तभी संभावना रहती है जब मन में यह सत्य जम जाये कि बाह्य वृत्तियों से इस जीवन का कुछ बनता नहीं है बल्कि न्यूनाधिक रूप से बिगड़ता ही है। इस विवेक में अन्दर की शक्ति नियोजित होती है। इस नियोजन से शरीर में एक प्रकार की रिक्तता-सी छा जाती है। बाहरी वृत्तियों के प्रति जागा हुआ यह भाव बाहर की वृत्तियों पर भी असर डालता है और शरीर की रिक्तता का भी उन पर असर होता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि बाहरी वृत्तियों को संशोधित एवं परिमार्जित करने के लिये भीतर की शक्ति ही काम आती है, बाहर की कोई शक्ति नहीं। शरीर की रिक्तता से बाहरी प्रवृत्तियाँ शिथिल होती हैं तथा भीतर की शक्ति जागती हैं, जो सरलतापूर्वक शिथिल होती हुई बाहर की वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में वांछित संशोधन एवं परिमार्जन कर सकती है। मन जब इसमें रमता है तो वह तन्मय होता है।

प्रत्येक शोधी मानव या साधक को इस दृष्टि से उसे शान्ति के साथ बैठकर खयालों की रील को बन्द करना चाहिये ताकि बाह्य वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में परिमार्जन लाने का अवसर उत्पन्न हो। आन्तरिक अवस्था के अनुकूल बनते ही इस परिमार्जन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है, जो प्रभावशाली बनती हुई जीवन के शुभ रूपान्तरण को सफल बना सकती है। किन्तु इसके अनुरूप व्यवहार नहीं करने से मानसिक वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने में कठिनाइयाँ आती हैं।

अनुरूप व्यवहार का ध्यान कई प्रकारों से रखना पड़ता है। इसमें बाह्य पदार्थों के उपयोग आदि के प्रति भी सतर्कता बरतनी होती है तो निरन्तर चलने वाले विचारों के वायुमंडल के प्रति भी सावधान रहना पड़ता है। सबसे पहले खाद्य पदार्थों के उपयोग की ही बात ले लें। खाद्य पदार्थों के भी प्रकृति-

विरुद्ध उपयोग से तंत्र बिगड़ता है और मन की वृत्तियाँ मलिन बनती हैं। मूल रूप से तो खाद्य पदार्थों के नियमित उपयोग से मानस तंत्र में जीवनी-शक्ति उभरनी तथा उजागर बननी चाहिये। खाद्य पदार्थ श्रम की दृष्टि से एक हैं, परन्तु पदार्थ-पदार्थ में अन्तर होता है। कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जिनको ग्रहण करने से शरीर में आलस्य और शिथिलता व्याप्त होती है, निद्रा बल पकड़ती है तथा मन में विकार पैदा होते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जिनके नियमपूर्वक सेवन से आलस्य और प्रमाद दूर होता है तथा जीवन में स्फूर्ति का समावेश होकर अन्तर्चेतना में भी जागृति के लक्षण प्रकट होते हैं। इन पदार्थों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि प्रमाद या आलस्य पैदा करने वाले पदार्थ तामसिक कहलायेंगे और स्फूर्ति जगाने वाले पदार्थ सात्त्विक होंगे।

### वृत्तियों के परिमार्जन की समस्या कैसी?

तामसिक खाद्य पदार्थों के उपयोग से मानसिक वृत्तियों में तामसिकता का समावेश होता है। तामसिक वृत्तियाँ मनुष्य की सत्चेतना पर प्रहार करती हैं और उसे अपनी आन्तरिकता से दूर हटाती हैं। मनुष्य अपने आपको भूल जाता है तथा इनके दुष्प्रभाव से अपने जीवन का मूल्यांकन नहीं कर पाता है। तामसिक वृत्तियों के जीवन पर पड़ने वाले विकृत प्रभाव को ध्यान में रख कर ही प्रभु महावीर ने साधकों को सावधानी दिलायी है कि हे साधक! यदि तू अपने भीतर शान्ति और समाधि चाहता है तो बाह्य वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के प्रति अपने राग और लगाव को घटाता हुआ चल। उसके साथ ही यह भी ध्यान में रख कि तेरा भोजन उसके अनुकूल हो। इसके लिये संकेत दिया गया है कि भोजन आवश्यक भी है और अनावश्यक भी। शान्ति और समाधि की कामना करने वाले तपस्वी साधक को भी अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिये शारीरिक शक्ति की भी आवश्यकता होती है और शरीर भोजन के बिना नहीं चल सकता। शरीर को खाना देना ही पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि शरीर को उतनी और वैसी ही खुराक दी जाये जो उसमें आलस्य नहीं, स्फूर्ति पैदा करे। इस दृष्टि से साधक द्वारा लिया जाने वाला आहार मित और सात्त्विक हो। सात्त्विक भोजन का भी मानसिक वृत्तियों पर प्रभाव पड़ता है। इससे विकारों की तरफ भागने वाली मानसिक वृत्तियाँ संशोधित एवं संयोजित होकर सात्त्विकता उत्पन्न करती हैं। मित आहार का अर्थ है कि न्यूनतम आवश्यकता के अनुसार ही आहार लिया जाये, उससे अधिक कतई नहीं। मित और सात्त्विक आहार के प्रभाव से वृत्तियों की तामसिकता दूर होगी तथा स्फूर्तिमय सात्त्विकता जागृत बनेगी। इस रूप में



हित और सात्त्विक आहार आवश्यक है तो इन गुणों से हटकर किया जाने वाला आहार एकदम अनावश्यक होगा।

मानसिक वृत्तियों के परिमार्जन की समस्या को पहले तामसिक आहार के त्यागने के रूप में सुलझाना होगा। तामसिक पदार्थों का त्याग इसलिये अनिवार्य होगा कि तामसिक वृत्तियों का एक स्रोत बंद किया जाये। अंडा, मांस, मछली आदि मांसाहार तथा नशीले पेय आदि अन्तर्शक्ति को नष्ट करने तथा विकारों को पैदा करने वाले होते हैं। अतः इनसे तो सर्वथा ही दूर रहना चाहिये। किन्तु सात्त्विक आहार भी भूख लगने पर और आवश्यकता के अनुरूप मित परिमाण में ही लिया जाना चाहिये। जिस अन्न अथवा खाद्य पदार्थ को मनुष्य ग्रहण करता है, उसकी उदर में जाकर रासायनिक क्रिया प्रारंभ होती है। वह भोजन पचकर रस रूप में परिवर्तित होता है और आवश्यकता के अनुसार रस का रक्त बनता है। यह तंत्र सक्रिय होता है तब आत्मा पर नियंत्रण होता है, इसलिये इस तंत्र के विषय में सावधानी आवश्यक है।

प्रभु महावीर ने अपने अन्तिम उपदेश में उस निर्देश को दोहराया है कि आहार परिमित ही लिया जाना चाहिये। जितनी भूख हो, उससे भी कम लिया जाये, जिससे पाचन तंत्र का क्रम व्यवस्थित बना रहे—उसमें किसी तरह का बिगाड़ पैदा न हो। यदि अन्दर का तंत्र बिगड़ जाता है तो शरीर की सात्त्विक शक्ति को आघात लगता है। सात्त्विक शक्ति को जगाने के लिये जिस ऊर्जा की आवश्यकता होती है, पाचन तंत्र में विकार आ जाने से वह नहीं मिल पाती है। साधना की कितनी ही तीव्र अभिलाषा क्यों न हो, यदि तामसिक या अति आहार के कारण पाचन तंत्र बिगड़ जाता है तो वह साधना का क्रम भी स्थिर नहीं रहता है—भंग हो जाता है। अतः यह मुख्य बात है कि वृत्तियों की परिमार्जन रूप साधना में संलग्न पुरुष को अपने आहार पर कठोर नियंत्रण रखना चाहिये।

इस समस्या के समाधान में इन बातों का ज्ञान किया जाना चाहिये कि भोजन किस विधि से, कितनी मात्रा में कब किया जाये। इसका ज्ञान न हो तो पाचन तंत्र बिगड़ता है और एक तंत्र के बिगड़ने पर सभी तंत्रों में विकार समा जाते हैं। इससे साधना का क्रम धूमिल होता है। सन्त जीवन तो साधना का जीवन होता है। इसमें आहार पर गवेषणा युक्त नियंत्रण होना चाहिये। इस नियंत्रण के लिये मन पर पहले नियंत्रण किया जाना चाहिये। मन और आहार पर नियंत्रण रहेगा तो तामसिक आहार का त्याग सरल बन जायेगा तथा अति आहार से भी बचा जा सकेगा।

## वृत्तियों के परिमार्जन के लिये मन पर नियंत्रण

तामसिक आहार ग्रहण नहीं किया जाये तथा सात्त्विक आहार भी आवश्यकता से कम लिया जाये। अति कभी नहीं। इसके लिये भी मन पर नियंत्रण रखने की जरूरत पड़ती है तब सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियों के परिमार्जन के लिये तो मन पर नियंत्रण अनिवार्य है ही। मन पर नियंत्रण स्थापित होने से ही वृत्तियों का निरीक्षण व परीक्षण संभव होता है और उसके बाद उनका परिमार्जन किया जा सकता है। एक रूपक बता रहा हूँ।

एक नवीन साधक अपने गुरु के पास रहता था। अपनी साधना में वह मन की मलिन वृत्तियों को दूर हटाने तथा सात्त्विकता का प्रकाश पाने के अभ्यास में लगा रहता था और गुरु के आदेशानुसार सारे कार्य किया करता था। गुरुदेव ज्ञानी थे। वे भिक्षा लेने के लिये स्वयं जाते और भिक्षा लाकर आवश्यकता के अनुरूप आहार शिष्य को दे देते। तब भिक्षा के लिये स्वतंत्र रूप से जाने का शिष्य को अवसर ही नहीं आता था। एक बार गुरु ने महाप्राण योग की साधना चालू की और अन्तर की यात्रा में निमग्न हुए तो भिक्षा लेने के लिये जाने का अवसर शिष्य के सामने आया। गुरु ने गवेषणा की बात समझा दी और शिष्य भिक्षा के लिये निकला। शिष्य अब तक मानस तंत्र पर नियंत्रण करने का अभ्यास कर रहा था—पूरी दृढ़ता की अवस्था नहीं आयी थी। एक घर में शिष्य को मिष्टान्न ग्रहण करने के लिये कहा गया।

सन्त जीवन के लिये आहार के निमित्त से भगवान् महावीर ने आवश्यकता के अनुरूप चार प्रकार के पदार्थों का उल्लेख किया है—**असणं, पाणं, खाइमं व साइमं**। श्रावक भी अपने बारहवें व्रत की भावना भाता हुआ सन्तों को देने की इच्छा रखता है, किन्तु सन्त को तो अपनी आवश्यकता देखकर ही उतना तथा उस प्रकार का आहार ग्रहण करना चाहिये। आहार लेने से पहले सन्त को यह विचार करना चाहिये कि वह जो आहार ग्रहण कर रहा है, वह आवश्यकता के अनुरूप ही है—लोलुपता का भाव उसमें नहीं होना चाहिये। साधु स्वाद के लिये आहार कभी ग्रहण नहीं करता है।

साधक नया था और उसका भिक्षा का काम नहीं पड़ा था, इस कारण मिष्टान्न देखकर उसका मन ललच गया—वह अपनी स्वाद वृत्ति पर नियंत्रण नहीं रख सका। मीठा देखकर उसकी लालसा तीव्र बन गई। उसने वह मिष्टान्न अधिक मात्रा में ग्रहण कर लिया। भिक्षा लेकर गुरुदेव के पास में पहुंचा। गुरु साधना की भूमिका तैयार कर रहे थे इसलिये अन्न ग्रहण नहीं कर रहे थे।

मिष्टान्न के प्रति लोलुपता के कारण शिष्य वह सारा मीठा खा गया। ऐसा करने से उसका पाचन तंत्र बिगड़ गया और आन्तरिक क्रियाओं में विकृति भर जाने का प्रसंग आया। फलस्वरूप वह गुरु द्वारा निर्देशित साधना के लिये बैठा तो सही, लेकिन आलस्य ने उसे घेर लिया। आंखों पर नींद का भार पड़ने लगा और साधना में वह अपना चित्त लगा नहीं सका। बहुत कोशिश की पर ध्यान बैठा ही नहीं। ध्यान नहीं बैठने से रोज जो अन्तर्ज्योति के दर्शन उसे होते थे, उस दिन वे दर्शन भी नहीं हुए। वहां तो इन्द्रियों के विषय तैरने लगे। वह घबरा गया और गुरु के समीप में पहुंचा और प्रायश्चित्त के आंसू बहाते हुए कहने लगा—गुरुदेव, मेरा इतने दिनों का साधना का अभ्यास आज यकायक लुप्त कैसे हो गया है? इतने दिनों की साधी हुई साधना आज कहां चली गई? गुरु ज्ञानी थे—शास्त्रों के जानकार थे। उन्होंने शिष्य से पूछा—आज तुम भिक्षा कहां से लाये हो? शिष्य ने सारा वृत्तान्त सुनाया और बताया कि अमुक घर से अधिक मात्रा में मिष्टान्न लाया। गुरु ने पूछा—अधिक मात्रा में लाये सो तो ठीक, लेकिन अधिक मात्रा में मिष्टान्न तुमने खाया तो नहीं? शिष्य ने कहा—खा भी गया। तब गुरु ने कहा—यह उसी का दुष्परिणाम है। इसको दूर करने के लिये अब तुम तपस्या की आराधना करो। तपस्या से ही पाचन तंत्र ठीक हो सकेगा। पाचन तंत्र के ठीक हो जाने पर दूसरे तंत्र भी व्यवस्थित हो जायेंगे और तुम्हारी प्रतिदिन वाली स्फूर्ति पुनः लौट आयेगी। तुमने अपने मन पर नियंत्रण नहीं रखा जिससे तुम तामसिक और वह भी अति मात्रा में आहार लाये और उसे खा लिया। इस अनियंत्रण से तुमने अपनी साधना को क्षति पहुंचायी। अब उपवास करो, उससे यथावत् अवस्था नहीं आवे तो बेला, तेला करो और अपने ध्यान को पुनः साधना में लगाओ। शिष्य ने गुरु के निर्देश के अनुसार प्रायश्चित्त किया।

### साधु के लिये आहार की गवेषणा भी जरूरी

शिष्य की साधना में पैदा हुए विकार को देखकर गुरु के मन में विचार आया कि यह मात्र अति मात्रा में मिष्टान्न खाने का ही दुष्परिणाम नहीं है। इसमें गवेषणा का दोष भी दिखाई देता है। यदि भिक्षा ग्रहण करने में शिष्य ने गवेषणा का भी ध्यान नहीं रखा है तो उसने दोहरी भूल की है, क्योंकि साधु को लिये जाने वाले आहार की गवेषणा करना भी आवश्यक होता है कि उसके पीछे प्रयोजन क्या है? गुरु ने उस भिक्षा के बारे में जानकारी ली तो उन्हें पता चला कि जिस घर से मिष्टान्न लाया गया था, उसके पीछे जुड़ी हुई वृत्ति की अजीब कहानी थी। जिस गृहस्थ ने मिष्टान्न बहराया था, उसकी आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी और उसके घर पर कुंवारी कन्या बड़ी हो रही थी।

कई घरों से उसका सम्बन्ध जोड़ने के लिये उसने सम्पर्क किया लेकिन उनकी दहेज की मांगों के सामने वह निराश ही रहा। गरीब घर तक में वह अपनी बेटी का सम्बन्ध जोड़ नहीं पाया। तब हार थक कर वह दुःखी होने लगा। उन्हीं दिनों एक साठ वर्ष के वृद्ध की पत्नी का देहान्त हो गया और उसने फिर विवाह करने का निश्चय किया। कई विवेकशील पुरुष चालीस वर्ष की आयु के आसपास शीलव्रत स्वीकार कर लेते हैं किन्तु जो अपने मन पर नियंत्रण नहीं करते हैं और आहार का विवेक नहीं रखते, उनके भीतर वासना के कीड़े कुलबुलाते रहते हैं। ऐसा ही वासना का दास वह वृद्ध था। उसने दलाल दौड़ाये कि उससे विवाह कर सके ऐसी कन्या की खोज करो। दलाल उस गरीब गृहस्थ के पास भी पहुँचा। वृद्ध के पास बहुत धन था अतः किसी भी कीमत पर लड़की का सम्बन्ध कराने का उसने दलाल को कह रखा था। दलाल ने उसे समझाया कि लड़की सेठानी बन जायेगी और सुखी रहेगी। यह कहकर विवाह के खर्च के नाम पर दलाल ने पचास हजार रुपये भी उस गृहस्थ को दे दिये। उसने सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। तब गांव के पंचों ने जोर दिया कि ऐसी स्थिति में अब उसे गांव की जीमणवार भी करनी ही चाहिये। पंच वैसे भी खाड कड़े थे। जो उनको पैसे नहीं देते, उनको वे टोंक मारते थे और जो उनको जीमण जीमा दें, वह फिर कैसा भी अधर्म करे—उस ओर से वे अपनी आंखें बंद कर लेते थे। कन्या बहुत दुःखी हुई और दुःखपूर्ण मनःस्थिति में ही उसका वह विवाह सम्पन्न हुआ। वह ससुराल जाने लगी तो इस विचार से धार-धार रोने लगी कि अपने दादा की आयु के व्यक्ति के साथ वह अपना वैवाहिक जीवन कैसे व्यतीत करेगी। गुरु ने यह भी अनुसंधान किया कि कन्या के साथ भारी अन्याय और अत्याचार भी किया गया और वह इतना कि उसकी आहों और आंसुओं से वहां का वायुमंडल एक प्रकार से प्रदूषित हो गया था। उस वायुमंडल का प्रभाव जीमणवार के लिये तैयार किये गये उस मिष्टान्न पर भी पड़ा था। शिष्य के अति विकारग्रस्त हो जाने का यह मुख्य कारण था।

साधु के लिये गवेषणा का इस रूप में बड़ा महत्त्व होता है। आहार सात्त्विक होना चाहिये, मित मात्रा में लिया जाना चाहिये और गवेषणा के अनुसार दोषरहित शुद्ध भी होना चाहिये।

### वृत्तियों पर बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रभाव होते हैं

एक लौकिक कहावत है कि जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। इसका भावार्थ यह है कि मानसिक वृत्तियों के निर्माण एवं उनके प्रवृत्ति मूलक संचालन

पर जिस तरह मन से उपजा हुआ आन्तरिक प्रभाव होता है, उसी तरह बाहर की परिस्थितियों एवं वायुमंडल का प्रभाव भी वृत्तियों और तज्जन्य प्रवृत्तियों पर अवश्य गिरता है। एक प्रकार से बाह्य एवं आन्तरिक परिस्थितियों एवं अवस्थाओं को पूर्ण रूप से पृथक् करके नहीं देख सकते हैं, क्योंकि दोनों प्रकार की परिस्थितियाँ एक दूसरी को प्रभावित करती हैं। बाहर के वायुमंडल में चलने वाली प्रवृत्तियाँ उस वायुमंडल के संसर्ग में आने वाले व्यक्तियों की वृत्तियों पर अपना असर छोड़ती हैं तो एक व्यक्ति के अन्तःकरण में उठने वाली वृत्तियों का असर केवल उसकी ही प्रवृत्तियों पर नहीं पड़ता बल्कि सामान्य वायुमंडल पर भी पड़ता है जिसका सामूहिक अथवा सामाजिक प्रभाव परिलक्षित किया जा सकता है।

बाह्य एवं आन्तरिक वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के अन्योन्याश्रित प्रभाव को देखते हुए वृत्ति-परिमार्जन के साधन पर विचार किया जाना चाहिये। जैसे एक वस्त्र को मैल से बचाने के लिये ध्यान रखा जाता है कि बाहर जाने पर उड़ने वाली धूल न लगे और घर के अन्दर बैठे हुए भी जूठन आदि न लग जाये। उसी प्रकार यदि मानसिक वृत्तियों को मलिन नहीं होने देना है तो अपने वैचारिक क्रम का भी ध्यान रखना होगा एवं अपने बाह्य व्यवहार का भी— अपनी वृत्तियों के निर्माण व संचरण में भी सावधान रहना पड़ेगा तो अपनी प्रवृत्तियों के पड़ने वाले सामाजिक प्रभाव के सम्बन्ध में भी उतनी ही सावधानी रखनी पड़ेगी। दोनों क्षेत्रों के बुरे या अशुभ प्रभावों से अपनी मानसिक वृत्तियों की रक्षा करनी होगी तो उन्हें दोनों क्षेत्रों के शुभ प्रभावों के आधार पर उनका संशोधन एवं परिमार्जन करना होगा। वृत्तियों के परिमार्जन के साथ शुभता का प्रभाव गहरा होता जायेगा और उन वृत्तियों का जो रूपान्तरण होगा, वह जीवन विकास का सम्बल बन जायेगा।

### परिमार्जित वृत्तियाँ जब विस्तार पाती हैं

मन की परिमार्जित वृत्तियाँ जब व्यक्ति एवं समाज के जीवन में विस्तार पाती हैं तो उनका वह भव्य स्वरूप प्रकट होता है जो सबको सच्ची शान्ति प्रदान करता है। ज्ञानीजनों ने ऐसी वृत्तियों का स्वरूप इस रूप में अंकित किया है—

1. मैत्री की वृत्ति— संकुचित स्वार्थों की तामसिकता घुल जाने पर जो सात्त्विकता की उज्ज्वलता प्रकट होती है, उससे विश्व के समस्त प्राणियों के साथ मैत्री की वृत्ति और प्रवृत्ति रखने की स्थायी भावना जन्म लेती है। इस वृत्ति के कारण वैर भावना सर्वथा छूट जाती है। वैर भाव दुःख, चिन्ता और

भय का स्थान होता है जिससे राग और द्वेष बढ़ता है तथा जीवन अशान्ति के कारण विक्षिप्तों जैसा हो जाता है। ऐसे वैर भाव को छोड़कर जब मैत्री की वृत्ति अपनायी जाती है तो सारी चिन्ता और सारा भय मिट जाता है तथा मानस पटल पर अपूर्व शान्ति एवं सुख का उदय होता है। मैत्री की वृत्ति से मन नियंत्रित ही नहीं रहता, बल्कि सदा स्वस्थ और प्रसन्न भी रहता है। इस मैत्री की वृत्ति को पुष्ट बनाने के लिये यह तथ्य स्मरण में लाना चाहिये कि इस संसार में अनन्तकाल से भ्रमण करते हुए अनेकानेक प्राणी अनेकानेक जन्मों में इस आत्मा के माता, पिता, पुत्र आदि सम्बन्धी रह चुके हैं और उनके साथ घनिष्ठ स्नेह भी रह चुका है। अपकारियों के साथ भी यह सोचकर मैत्री वृत्ति बनाये रखनी चाहिये कि जैसे घर के लोग बुरे होते हैं तब भी वे अपने ही होते हैं, वैसे ही अपकार भले किया हो, वे सब भी अपने आत्मीय ही हैं और सबसे ऊपर यह भावना होनी चाहिये कि आत्म-समता की दृष्टि से सभी आत्माएँ हमारी आत्मीय हैं, अतः इस मैत्री वृत्ति का विस्तार सम्पूर्ण विश्व तक फैलना चाहिये। सारी वसुधा या कि सृष्टि हमारा कुटुम्ब है और इस विचार से समस्त प्राणियों के साथ हमारी मित्रता होनी चाहिये और हमें सबका हित साधन करना चाहिये—किसी के भी प्रति वैर भाव नहीं रहना चाहिये। वृत्तियों के परिमार्जन का ऐसा शुभ फल प्रकट होना ही चाहिये।

अन्तरात्मा की गहराई में पहुंच कर अनुभव लें तो यह अवश्य प्रतीत होगा कि मैत्री वृत्ति मनुष्य का स्वाभाविक गुण है और वैर भाव रखना पशुता या कि राक्षसी वृत्ति का लक्षण है। मैत्री वृत्ति का ऐसा चमत्कार दिखाई देता है कि विश्व-मित्र के समक्ष आने वाले क्रूर प्राणी भी अपना वैर भाव भूल जाते हैं। फिर शत्रुओं को मित्र बना लेना कोई बड़ी बात नहीं। इस भावना के साथ मैत्री वृत्ति का अधिक से अधिक निर्मल विस्तार किया जाना चाहिये।

**2. प्रमोद वृत्ति—** प्रमोद का अर्थ होता है—हर्ष और इस हर्ष भाव का जीवन के प्रत्येक क्षण में विस्तार होना चाहिये। मुख्य रूप से अधिक गुणसम्पन्न पुरुषों को और उनकी गुण गरिमा को देख-सुनकर हृदय हर्ष-विभोर हो जाना चाहिये। प्रमोद वृत्ति को धारण करने एवं पुष्ट बनाने का मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिये कि ईर्ष्या और मत्सर की अशुभ वृत्ति समाप्त हो जाये। सामान्यतया मनुष्य इस दृष्टवृत्ति को पकड़ लेता है कि उसे दूसरों की उन्नति सुहाती नहीं है। इस पर वह ईर्ष्यालु हो उठता है। ईर्ष्या से क्रूर वृत्ति का भी फैलाव होता है। वह दूसरों को गिरता हुआ देखकर खुश होता है और सबको अपने से नीचे स्तर पर ही देखना चाहता है। उसके ऐसा चाहने से कुछ होता नहीं, किन्तु वह अपनी

मानसिक वृत्तियों को मलिनता एवं नीचता की निम्नतम श्रेणी तक पहुंचा कर अपना ही पतन कर लेता है।

ईर्ष्या के इस दुर्गुण को नष्ट करने की एक ही विधि है कि प्रमोद वृत्ति अपनायी जाये। इस वृत्ति को अपना लेने पर हमारा चित्त भी प्रसन्न रहेगा तो शरीर भी स्वस्थ। प्रमोद वृत्ति को दृढ़ बनाने के लिये हमें इस तरह अपनी भावना बनानी चाहिये कि जिस प्रकार हम अपनी उन्नति से प्रसन्न होते हैं, वैसे ही हम दूसरों की उन्नति से भी प्रसन्न बनें। यह भी सोचें कि यदि हम चाहते हैं कि सभी हमारी उन्नति से प्रसन्न हों और सभी हमारे गुणों से प्रेम करें तो हमें भी ईर्ष्या वृत्ति को छोड़कर सभी की उन्नति से प्रसन्न होना चाहिये तथा सभी के गुणों से प्रेम करना चाहिये। इसी हेतु गुणी पुरुषों का हमें सदा गुणानुवाद करते रहना चाहिये।

3. करुणा वृत्ति— मन में रहने वाली क्रूर वृत्तियों को नष्ट किये बिना वृत्तियों का परिमार्जन संभव नहीं होता है। क्रूरता मिटती है तभी सहानुभूति पैदा होती है और सहानुभूति से ही करुणा वृत्ति का उदय होता है। शारीरिक अथवा मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के दुःख को दूर करने की इच्छा रखने का नाम ही करुणा वृत्ति है। गरीब, विकलांग, रोगी, निर्बल या किसी भी दुःख से दुःखी प्राणी को देखकर सहायता का भाव जाग जाना चाहिये और यथाशक्ति उस दिशा में प्रवृत्ति हो जानी चाहिये। करुणा वृत्ति के फलस्वरूप ही दयावान पुरुष वृद्ध, विधवा या अनाथ बालकों की सहायता करते हैं, दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक विपदाओं के समय में अन्न-जल के बिना कष्ट पा रहे प्राणियों के खाने-पीने की व्यवस्था करते हैं, गृहविहीन लोगों को शरण देते हैं, महामारी या अन्य संकट काल में अथवा सामान्य रूप से रोगियों को औषधि आदि पहुंचाते हैं, स्वजनों से बिछुड़े हुए लोगों को उनके स्वजनों से मिला देते हैं, भयाक्रान्त प्राणियों के भय को दूर कर देते हैं, वृद्ध एवं रोगी पशुओं की सेवा करते हैं तथा कोई भी कार्य नहीं छोड़ते हैं जिससे किसी भी प्राणी को सात्त्विक सुख उपजता हो। वे अपने पास धन, जन आदि की जितनी भी शक्तियाँ या उपलब्धियाँ होती हैं, उनका उपयोग अन्य प्राणियों के दुःखों को दूर करने में प्रयुक्त करते हैं। उनकी प्रत्येक वृत्ति तथा प्रवृत्ति में करुणा, दया या अनुकम्पा का संचार दिखाई देता है।

4. माध्यस्थ वृत्ति— इस संसार में सारे दुःखों की जड़ राग और द्वेष की वृत्तियाँ होती हैं। सांसारिकता में रमा हुआ व्यक्ति अपनी पसन्द के मनोज्ञ पदार्थों आदि के प्रति राग भाव रखता है और नापसन्द या अमोज्ञ पदार्थों के

प्रति द्वेष भाव तथा राग-द्वेष की वृत्तियों के थपेड़ों में वह दोलायमान होता हुआ परम दुःखी बना रहता है। इस दारुण दुःख को दूर करने वाली होती है माध्यस्थ वृत्ति अर्थात् मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थ एवं इष्ट-अनिष्ट मानवों के संयोग वियोग में राग-द्वेष न करना और किसी के अच्छे-बुरे का अपने हृदय पर असर न होने देना। माध्यस्थ वृत्ति को एक दर्पण के उदाहरण से समझिये। दर्पण अपने में प्रतिबिम्बित पदार्थों का जैसे कोई असर नहीं मानता है, वैसे ही माध्यस्थ वृत्ति को अपनाने वाला पुरुष किसी के कैसे भी व्यवहार से अपने आपको प्रभावित नहीं होने देता है। दर्पण में यदि पहाड़ का प्रतिबिम्ब दिखे तो क्या दर्पण पर पहाड़ का भार गिरता है? वैसे ही राग-द्वेष को त्याग देने के बाद माध्यस्थ वृत्ति का अवलम्बन लेने वाली आत्मा अच्छे-बुरे पदार्थों या संयोगों को कर्म का खेल समझ कर उनका समता भाव से सामना करती है।

संसार के सभी पदार्थ नाशवान होते हैं तथा संयोग या वियोग भी अस्थायी समय के लिये रहते हैं। स्वयं मनुष्य भी अच्छे से बुरे और बुरे से अच्छे होते रहते हैं तो फिर राग-द्वेष की वृत्तियों से मन को मलिन बनाने का औचित्य ही क्या है? फिर ये सारे संयोग या वियोग भी शुभ या अशुभ कर्मों के फल के रूप में होते हैं, जिन्हें टालना मनुष्य की शक्यता में नहीं। यह समझ कर मनुष्य को माध्यस्थ वृत्ति धारण करनी चाहिये। इस वृत्ति का ही परिपक्व नाम है—समता वृत्ति, जो आत्मा को परमात्मा के सन्निकट पहुंचाती है।

### परिमार्जित वृत्तियाँ : उत्थानगामी आत्मा

मानसिक वृत्तियों का परिमार्जन आत्मा को उत्थानगामी बनाने का प्रमुख कारण होता है। जब वृत्तियाँ परिमार्जित हो जाती हैं और शुभता में रूपान्तरित होकर मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ आदि वृत्तियों से अनुरंजित बन जाती हैं, तब उनको धारण करने वाली आत्मा भी वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्व जीव प्राणी भूत सत्त्व मैत्री तथा वीतरागता की दिशा में प्रगति करने लगती है एवं सबमें एक तथा एक में सबको देखने वाली समतावादी, समताधारी एवं समतादर्शी बनने लगती है। मानस तंत्र को सुव्यवस्थित बनाकर मानसिक वृत्तियों का समुचित रूप से परिमार्जन एवं रूपान्तरण करना और आत्मा को उत्थानगामी बनाना इस जीवन का लक्ष्य होना चाहिये।



## 18

## भावों की निर्लेपता

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

भव्य जनों के लिये परम शान्ति का स्वरूप समझाने वाले शान्ति के तीर्थ ने शान्ति प्राप्ति का जो मार्ग बताया है, वह मार्ग ही परम श्रेष्ठ है। परम श्रेष्ठता का कारण यह है कि तीर्थंकर देव संसार के प्राणियों को उपदेश तब फरमाते हैं, जब वे केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की उपलब्धि कर लेते हैं तथा वीतरागी निर्लेप भावों के साथ अनन्तानन्त अनुभूतियों के विविध स्वरूप बन जाते हैं। उन्हीं उपदेशों का ज्ञानवान गणधरों ने अपनी आत्म-शक्ति के विवेकपूर्ण प्रयोग के साथ ग्रंथन किया। अतः उनकी सत्यता एवं सारभूतता स्वयमेव सिद्ध है।

वे उपदेश पूर्ण सत्य को लिये हुए हैं, क्योंकि तीर्थंकर देवों के उपदेश देते समय उनके भाव सर्वथा निर्लेप थे। असत्य उसी के वचन होते हैं जिनके भावों पर राग-द्वेष आदि अशुभ वृत्तियों का लेप होता है। ऐसे व्यक्तियों के वचन सर्वहितकारी भी नहीं होते हैं क्योंकि वृत्ति भेद से हित भेद होता है। तीर्थंकर देव वीतराग होते हैं—राग-द्वेषादि वृत्तियों से सर्वथा मुक्त, अतः उनकी वाणी पूर्ण सत्य युक्त, सम्पूर्ण सारयुक्त तथा सर्वप्राणी हितैषिणी होती है। शास्त्रों के शब्दों में इसी कारण वीतरागता का आशय परिपूर्ण है। उस आशय को खोज लेना और अपने अन्तःकरण में उतारना सहज नहीं होता है। उसके लिये अपने भावों में भी संयतता की अपेक्षा रहती है। सामान्य अवस्था में वीतराग वाणी के अन्तर्निहित अर्थ का उद्घाटन कर लेने की शक्यता नहीं होती है। अतः सामान्य लोगों के सामने वीतराग वाणी का श्रवण करते समय यह कठिनाई आती है।

इसी दृष्टिकोण से भगवान् ने श्रमणों को सावधानी दिलायी है कि हे श्रमण! हे तपस्वी! यदि तू शान्ति और समाधि की अभिलाषा रखता है तो पहले मोह की दृष्टि को दूर कर, राग और द्वेष के लेप को उतार क्योंकि अशुभ वृत्तियों से लिप्त भावों के साथ वीतराग वाणी के रहस्य को समझा नहीं जा

सकता है। उसके लिये निर्लिप्त भावों के धरातल की आवश्यकता होती है तथा उसी धरातल पर वीतराग वाणी को हृदयंगम करने के साथ निज स्वरूप की अभिव्यक्ति एवं प्रतीति संभव हो सकती है।

### निर्लिप्त भावों का धरातल कैसे बनावें ?

भावों की निर्लेपता सहज साध्य नहीं होती है। अन्तःकरण में भावों के उद्भूत होने की भूमिका के रूप में बाह्य प्रवृत्तियों का भी अपना प्रभाव होता है। उस प्रभाव को पहले नियमित एवं संयमित करना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से सबसे पहले भोजन-आहार पर नियंत्रण करने का निर्देश शास्त्रकारों ने दिया है कि श्रमण द्वारा लिया या ग्रहण किया जाने वाला आहार सात्त्विक और मित तो हो ही, वह पूर्णतया ऐषणिक यानी गवेषणयुक्त भी हो। इस हेतु से ही आहार के दोषों का उल्लेख किया गया है, जिनको टालकर ही साधु को निर्दोष भिक्षा ग्रहण करनी होती है। शुद्ध भिक्षाचरी का साधु-साध्वी को पालन करना चाहिये।

शास्त्रोक्त विधि से आहार का नियंत्रण किया जाये—यह साधु जीवन की नीति है। इस नीति के अनुसार साधु-साध्वी अपने संयमी जीवन को लेकर चलें तो उनके साधनामय जीवन की प्रकाश किरणें प्रस्फुटित हो सकती हैं। कारण, आहार का नियंत्रण भावों की निर्लेपता की दिशा में उठाया गया आधारभूत चरण होता है। साधु का आहार निश्चित रूप से उस प्रकार और उतनी मात्रा का ही होना चाहिये जिससे उसकी संयम-साधना को सहायता मिले। इसका अंकन आहार के द्वारा शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव से किया जा सकता है। यदि आहार करने के बाद स्फूर्तिमय ऊर्जा जागृत होती है और संयम साधना में प्रमाद रहित वृत्ति बनती है तो समझना चाहिये कि लिया जाने वाला आहार साधना में सहायक है, अन्यथा आहार की प्रक्रिया के तदनुरूप में इस नीति का जो सदा ध्यान रखता है, वह नीति के विरुद्ध किसी भी रूप में अवांछनीय आहार को ग्रहण नहीं करता है।

स्वाद जय इस आहार नियंत्रण का मुख्य आधार होता है। स्वयं के प्रति जब समता भाव आ जाता है तो सात्त्विक और मित आहार लेना कठिन नहीं रहता। इससे गवेषणा भी सरल हो जाती है। स्वाद को जीतना है, वहीं आहार के प्रति अपने भावों को निर्लेप बनाना है। इस निर्लेपता के सुप्रभाव से साधु का आहार के प्रति अपना ध्यान स्पष्ट हो जाता है कि उसके आहार ग्रहण करने का एकमात्र प्रयोजन संयम की साधना है। इस आहार चर्या में सबसे पहला

प्रश्न आधाकर्मी आहार का आता है। भक्तजन भक्ति के वशीभूत होकर भावना के आवेश में साधु-साध्वियों के निमित्त से अगर भोजन तैयार करके उन्हें भिक्षा में देवें और साधु-साध्वी वैसा आहार ग्रहण करें तो आधाकर्मी दोष लगता है। संयमी जीवन की नीति के अनुसार तो यह भी है कि जब साधु किसी गृहस्थ के घर पर भिक्षा के लिये गया हुआ हो, उस समय उस साधु के मन में किसी भी प्रकार के आहार के प्रति कोई लालसा नहीं होनी चाहिये या ऐसा विचार भी नहीं आना चाहिये कि यह सम्पन्न गृहस्थ का घर है सो कई प्रकार की खाद्य सामग्री का योग मिल सकेगा। जब तक साधु स्वाद-जय का अभ्यास नहीं कर लेता है, तब तक आहार के प्रति लालसा से लिप्त भाव भी नष्ट नहीं होता है। अतः आहार के प्रति भावों की निर्लेपता प्राथमिक रूप से अनिवार्य मानी गई है।

### आहार-चर्या में लालसा का भाव न रहे

साधु-साध्वी की आहार चर्या में लालसा के भावों की लिप्तता न रहे—यह शुद्ध संयम की साधना की दृष्टि से आवश्यक कहा गया है। भिक्षा ग्रहण करते समय यदि किसी वस्तु पर साधु का लालसा-भाव पैदा हो जाये तो अच्छा हो कि वह उस वस्तु को ग्रहण ही न करे। किसी वस्तु के प्रति गवेषणा की दृष्टि से कोई शंका उत्पन्न हो जाये तो जब तब उसके समाधान से साधु को संतोष न हो, वह उस वस्तु को ग्रहण न करे। आहार बहराने वाले गृहस्थों का भी कर्तव्य होता है कि वे किसी भी खाद्य वस्तु के विषय में साधु को कोई झूठ बात न कहें। जब साधु गवेषणा करते हुए कोई पूछताछ करे तो वे सत्य बात बता दें। आहार दाता चाहे भाई हो या बहिन—किसी वस्तु के लिए झूठी बहानेबाजी नहीं करे कि वह वस्तु अमुक के लिये या अमुक कारण से तैयार की है, साधु के निमित्त से तैयार नहीं की है। स्पष्ट बात कह देने से दोनों पक्षों को बड़ा लाभ होता है। साधु के निमित्त से आहार बनाना और फिर झूठ बोलना यह कार्य अहितकारी होता है। एक तो हिंसा की, आरंभ समारंभ किया और ऊपर से असत्य का सेवन किया तो उससे अतिथि संविभाग व्रत का कैसा पालन होगा? यह गहराई से सोचने की बात है।

साधु-साध्वियों की गवेषणा दृष्टि मूल रूप से बहुत बारीक होनी चाहिये। उनका कर्तव्य है कि वे अन्तःकरण की भाव शुद्धि के साथ आहार के विषय में पूछताछ करें। इसके अलावा छद्मस्थ के साथ और कोई उपाय नहीं होता है। वे केवली नहीं हैं जो वस्तु की वास्तविकता का स्वतः ही ज्ञान कर लें। साधु

ने भली-भांति गवेषणा कर ली लेकिन दातार ने झूठ बोला तो ज्ञानीजनों का कथन है कि उससे साधु को आहार-दोष नहीं लगेगा। साधु ने अपनी आहार-चर्या ईमानदारी से की तो वह दोषरहित है। दातार ने झूठ बोलकर जो सदोष भिक्षा दी, उससे दातार की पुण्यवानी तो बंधती है, लेकिन हिंसा करके और झूठ बोलकर आहार देने से उसके आगामी जन्म का आयुष्य कम होता है। वह फलभोग इस तरह हो सकता है कि एक सम्पन्न घर में उसका जन्म तो हो लेकिन मृत्यु चार-पांच वर्ष की आयु में ही हो जाये। इसलिये गृहस्थों को साधु-साध्वी की आहार चर्या की शुद्धता में सहयोग करना चाहिये तथा किसी भी प्रकार से हिंसा और असत्य का सेवन नहीं करना चाहिये।

दान देने की भावना रखना अच्छी बात है, लेकिन घर में जो प्राशुक यानी निर्दोष आहार हो, वही साधु-साध्वी को देना चाहिये। शुद्ध आहार देने से दातार को पुण्यवानी का बंध होता है तथा कर्मों की निर्जरा भी होती है। निर्दोष आहार देने से साधु-साध्वी को अपनी संयम-साधना में श्रेष्ठ सहायता मिलती है और वे अपनी आहार चर्या में लालसालिप्त भावों पर कठिन नियंत्रण कर पाने में सहज रूप से समर्थ हो जाते हैं।

### निर्लिप्त भावों के साथ आहार की गवेषणा

साधु-साध्वी की आहार चर्या के सम्बन्ध में यह भगवान् की आज्ञा है कि आहार की गवेषणा निर्लिप्त भावों के साथ की जाये। साथ ही दान देने वाले श्रावकों एवं गृहस्थों का भी कर्तव्य है कि आहार के सम्बन्ध में की गई पूछताछ का वे सही समाधान करें। वे न तो झूठ बोलें और न ही चालाकी से जवाब दें। अपने लिये या किसी विशेष अवसर से कोई विशेष या सामान्य भोजन बनाया गया हो तो वैसी बात गवेषणा करने वाले साधु-साध्वी से स्पष्ट कहें और यदि उस भोजन को तैयार करने में किसी भी विचार से साधु-साध्वी का निमित्त लग गया हो तो वैसी बात भी स्पष्ट रूप से बिना हिचकिचाहट के कह दें।

साधु-साध्वी को दान देने की भावना माना कि श्रावक का धर्म है और इस हेतु उसका बारहवां अतिथि संविभाग व्रत है। किन्तु किसी कारण से साधु गोचरी लेने के लिये न आ सके तो उस दुःख या क्षोभ में यदि श्रावक ने सत्य निष्ठा का परिचय नहीं दिया किन्तु साधु ने पूरी गवेषणा करके भिक्षा ली और उसे गुरु महाराज के सामने रख दिया तो साधु ने नीति का पालन कर लिया है—यही माना जायेगा। यदि गुरु महाराज केवली हैं तो वे जान सकते हैं कि किसने कलाबाजी से किसको ठगा है? वे अपने ज्ञान में देखते हैं। उन्हें यदि

पता चल जाता है कि आहार सद्दोष है तब भी केवली नहीं कहते कि यह आहार सद्दोष है। यदि केवली जान जाते हैं तो वे स्वयं ग्रहण नहीं करते हैं। एक बार प्रभु केवलज्ञानी मार्ग में विचरण कर रहे थे। रास्ते में सन्तों को प्यास लगी। सामने ही एक छोटा जलाशय था जो जल से भरा हुआ था। समझें कि केवलज्ञानी ने अपने ज्ञान में देख लिया कि इस सरोवर में जो पानी है, वह निर्जीव है—एक बूंद भी सजीव नहीं है। पर उन्होंने साधुओं से जल पीने को नहीं कहा क्योंकि उनके ऐसा करने से वह बाद में परम्परा बन जाती है और वैसी परम्परा साधु धर्म के लिए घातक सिद्ध होती है।

एक बार मैं छत्तीसगढ़ प्रान्त में विहार कर रहा था तो एक छोटे से गांव में पहुंचा। वहां एक घर में ठहरने की दृष्टि से अनुमति चाही। उस घर में एक कपड़ा बंधा हुआ था। मैंने पूछा तो बताया गया कि गांव का मुखिया होने से बैठक के लिये बंधा हुआ रहता है। मुझे संतोष नहीं हुआ। तभी एक छोटा बच्चा मुखिया का पोता वहां आया। मैंने उससे कपड़ा बांधने का कारण पूछ लिया और पूछा कि यह कब बांधा। उसने सही बात कह दी कि आप आए हैं, इसलिए आज बांधा है। मैंने मुखिया जी से कहा कि आपने झूठ क्यों कहा? देखिये, आपका पोता सत्यवादी है। कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसी स्थिति कई स्थानों पर रहती है। बाहर के जो दर्शनार्थी आते हैं, वे एक-दो दिन के लिये आवें तो चौके में भोजन करते हैं लेकिन जो ज्यादा दिन के लिये आते हैं और अलग से रहते हैं, वे तो एक प्रकार से यहां बस जाते हैं। वे अपना भोजन भी अलग बनाते हैं। पहले सम्मेलन हुआ और चर्चा चली कि क्या दर्शनार्थी एक दिन के लिये भी आवे तो उसके वहां से क्या आहार लिया जा सकता है? यही चर्चा फिर भीनासर में भी चली तो मर्यादा निर्धारित की गई कि तीन दिन के बाद साधु-साध्वी उसके वहां से भिक्षा ले सकते हैं क्योंकि यह मर्यादा अगर एक दिन की ही रखी जाती तो भक्त श्रावक घर से बना बना कर टिफिन भर कर ला सकते हैं और मुनियों को बहरा सकते हैं। यह परिस्थिति चलती रही, पर बाद में स्व. आचार्यश्री ने सोचा कि तीन दिन की मर्यादा भी पर्याप्त नहीं है। तब उन्होंने तीन दिन की बजाय सात दिन की मर्यादा निर्धारित कर दी। दर्शनार्थी बाहर से आकर अपना भोजन बनाते हुए सात दिन रहे तो साधु-साध्वी उसके वहां से भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

अभी सारे आहार-दोषों के विवेचन का समय नहीं है। साधु-साध्वी को बयालीस दोष टालकर आहार पानी लाना चाहिये तथा पांच दोष टालकर उसे ग्रहण करना चाहिये। ये श्वेताम्बर मान्यता के दोष हैं। दिगम्बर मान्यता में

छियालिस दोषों का वर्णन है। साधु के लिये बना हुआ भोजन लाना यह एक मूल दोष है। जीवन निर्वाह के लिए उसके आवश्यक है किन्तु गृहस्थ और साधु के लिये उसके उपार्जन की नीति अलग-अलग है। गवेषणा—साधु नीति की विशेषता है।

### भावों की निर्लेपता में निपुण बुद्धि गुरु का योग

भगवान् ने केवलज्ञान से लेकर समग्र आध्यात्मिक ज्ञान का संकेत दिया है, किन्तु उस ज्ञान की विधि बताने वाला कौन है? भगवान् की जो दिव्यवाणी निःसृत हुई, उसे गणधरों ने गुंफित की, अब उसी वाणी का प्रवचन एवं विश्लेषण पंच महाव्रतधारी गुरु करते हैं। इसी दृष्टि से भगवान् ने संकेत दिया है कि जो साधक किसी भी साधना के लिये सक्रिय होना चाहता है, उसे अपने लिये योग्य गुरु की अभिलाषा करनी चाहिए। गुरु पद को ग्रहण करने का अधिकारी वही हो सकता है, जो निपुण अर्थ बुद्धि का धनी हो तथा शान्ति को खोजने का मार्ग दिखा सकता हो।

सूत्रों में ग्यारह अंग-सूत्रों को मूल सूत्र माना गया है। इन अंग सूत्रों में वर्णित विषयों के विरुद्ध जो भी कथन हो, उसे अमान्य एवं अग्राह्य कहा गया है। अतः अंग सूत्रों के अनुसार चलने वाला महात्मा ही गुरु पद के योग्य हो सकता है। इस दृष्टि से आगम शास्त्रों का वाचन करना है या उनके विवेचन को समझना है तो वैसा योग्य गुरु से ही करना चाहिये। आगम शास्त्रों को पढ़ाने वाला गुरु होता है। आगम को कंठस्थ कर लेना—यह अलग बात है लेकिन आगमों के अर्थ गांभीर्य को समझ पाना ही महत्त्वपूर्ण होता है।

भावों की निर्लेपता प्राप्त करने की किसी भी साधना के लिए ऐसे निपुण अर्थ बुद्धिवाले गुरु का योगदान अनिवार्य होता है—चाहे वह साधक श्रावक हो या साधु। साधना की सफलता के लिये योग्य गुरु का मार्गदर्शन मिलना ही चाहिये। ऐसा गुरु आगमों का जानकार हो, सम्यक्त्वधारी हो तथा सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर अडिग निष्ठा रखने वाला हो। ऐसे गुरु का शिष्य भी गुणी और आस्थावान होना चाहिये। उसे शास्त्रों का कोई अंश गुरु द्वारा समझा देने के उपरान्त भी समझ में नहीं आ रहा हो तो यह समझना चाहिये कि इसका कारण अपनी बुद्धि की अल्पता है और विश्वास रखना चाहिये कि अभ्यास करते-करते समझ में आ जावेगा। किन्तु आजकल ऐसे भी मिलते हैं, जिनको अगर शास्त्रों की कोई बात समझ में नहीं आवे तो कह देते हैं कि शास्त्र ही गलत है। ऐसे लोगों को मैं कहना चाहता हूँ कि शास्त्रों को मानो या न मानो—यह

आपके विवेक की बात है लेकिन यह भी तो मत कहो कि हम वीतराग देव की वाणी का अनुसरण करते हैं। फिर स्पष्ट कहना चाहिये कि हम मनमानी करते हैं। वीतराग देवों के सच्चे अनुयायियों को उनकी वाणी पर अटूट श्रद्धा होनी चाहिये। उनकी वाणी के निर्देशानुसार साधना करने से ही भावों की निर्लेपता प्राप्त की जा सकती है। आन्तरिकता की दृष्टि से साधक और साधक के गुरु दोनों का सम्यक्त्वधारी होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उसके बिना अशुद्ध वृत्तियों की अशुद्धता समझ में नहीं आती है तथा भाव शुद्धि की साधना सफल नहीं बनती है। भावों की निर्लेपता प्रधान रूप से भाव शुद्धि की गरिमा पर ही आधारित होती है। क्योंकि विशुद्धता जितने अंशों में उत्कृष्ट स्थिति तक पहुंचती है, उन्हीं अंशों में आन्तरिक भाव निर्लेप बनकर राग-द्वेषादि वृत्तियों से अछूते रह सकते हैं। भावों की शुद्धि ही निर्लेपता के रूप में परिपक्व होती है।

### निर्लेपता की साधना का आन्तरिक पक्ष

भावों की निर्लेपता को समझने के लिये लेप को समझना जरूरी है कि यह लेप क्या होता है। यह लेप क्या होता है जिससे निर्लेपता की साधना की जाती है? इसे एक दृष्टान्त से समझिये। कल्पना करें कि कांच की तीन गिलासों में तीन तरह का पानी भरा हुआ है। एक गिलास में पानी शुद्ध अवस्था में भरा हुआ है। एक गिलास में गटर में बहने वाला पानी है तथा तीसरे गिलास में शरबत का पानी भरा हुआ है। तीनों गिलास एक प्यासे व्यक्ति के सामने रखे हुए हों तो उस समय प्रत्येक गिलास के लिये उसके मन में किस प्रकार के भाव उत्पन्न होंगे? शरबत वाले गिलास की तरफ उसकी लालसा जागेगी कि यह अच्छा और मनोज्ञ पेय है अतः इसी का सेवन करूं। गटर वाले पानी का गिलास देखकर उसके मन में रोष और आक्रोश पैदा होगा कि क्या समझ कर वह पानी उसके लिये रखा गया है? वह उसे अपने लिये अमनोज्ञ मानेगा अतः कुपित भी होगा। उन दोनों गिलासों के बीच में साफ पानी के गिलास के लिये उसके मन में न मनोज्ञता जागेगी और न ही अमनोज्ञता पैदा होगी। एक निर्लिप्त भाव पैदा होगा कि प्यास की तृप्ति उससे हो जायेगी। शरबत का सुगंधित पानी मनोज्ञ था तो उसके साथ राग भाव जुड़ा। गटर का पानी गंदा था सो अमनोज्ञ लगा और इस कारण उसके साथ द्वेष भाव जुड़ा। राग और द्वेष को एक तरह से लेप मान लीजिये जो जब भावों पर चढ़ता है तो दृष्टि को उसी रंग से रंग देता है। तीसरे गिलास के पानी के साथ कोई रंग नहीं था तो उसका लेप भी नहीं चढ़ा। शुद्ध भाव रहा कि शुद्ध पानी है—पसन्द-नापसन्द की कोई बात नहीं। यह हुई निर्लेपता की बात।

ध्यानपूर्वक देखें तो जान पायेंगे कि सांसारिकता के आचार विचार के साथ प्रत्येक पदार्थ या संयोग के साथ मनुष्य के भावों पर एक न एक तरह का लेप चढ़ा हुआ होता है। या तो वह लेप राग का होता है—पसन्दगी का होता है अथवा वह लेप द्वेष का होता है—नापसन्दगी का होता है। ये दोनों लेप मूल में मोह दशा के कारण होते हैं। वास्तविकता में जो पदार्थ और संयोग आत्म-स्वरूप की दृष्टि से अपने नहीं होते हैं उनमें अज्ञान और मोहदशा से ग्रस्त बनकर मनुष्य अपने ममत्व को आरोपित कर लेता है। यह मेरा है—वह मेरा है—इस तरह का लिप्त भाव जीवन की समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का आधारभूत भाव बन जाता है। वह इसी चश्में से प्रत्येक सम्बन्ध, विचार या तत्त्व का मूल्यांकन करता है। जिनमें ममत्व भाव आरोपित किया जाता है, वह उसकी मनोज्ञता का लेप होता है और जो उसे मनोज्ञ नहीं लगते, उनके प्रति उसका भाव द्वेष का हो जाता है। राग की तरह द्वेष भी भावों पर चढ़ने वाला अपना-अपना रंगीन लेप होता है। राग-द्वेष की वृत्तियों के साथ जब संसार के विभिन्न क्रिया कलाप किये जाते हैं तो भावों पर इन लेपों की परतों पर परतें चढ़ती जाती हैं। यों समझिये कि इसी रूप में आत्म-स्वरूप पर कर्मों की परतें भी चढ़ती जाती हैं। इन परतों को उतारने का पुरुषार्थ करना ही निर्लेपता की साधना है और भावों की निर्लेपता से ही सम्पूर्ण क्रियाओं में निर्लेपता का सद्भाव होता है। यही निर्लेपता अपने पूर्ण स्वरूप में वीतरागता में प्रतिफलित होती है। जो वीतराग हो जाता है, वह मोक्षगामी बनता ही है। निर्लेपता की साधना का यही आन्तरिक पक्ष है।

### लेप उतारते रहने से शुद्धि होती है

लेप चाहे भला लगने वाला हो या बुरा लगने वाला—उससे मूल स्वरूप तो आच्छादित होता ही है और जहां मौलिकता नहीं होती, वहां पर शुद्धि भी नहीं होती, क्योंकि शुद्धि का प्रतीक या कि मानदंड ही मूल स्वरूप होता है। यही सत्य आत्म-स्वरूप की मौलिकता के साथ भी सम्बद्ध है। आत्मा का मूल स्वरूप परम विशुद्ध, परम ज्ञानमय तथा परम आनन्दमय होता है, लेकिन उस मूल स्वरूप पर चाहे रागवृत्ति की अथवा द्वेषवृत्ति की अथवा दोनों वृत्तियों की परतें चढ़ी हुई रहती हैं या कि लेप लगा हुआ रहता है, तब तक वह उसकी अशुद्ध अवस्था ही होती है। कारण, उसका जो परम पूर्ण मूल स्वरूप होता है, वह अभिव्यक्त नहीं हो पाता। वह आच्छादित रहता है। यह आच्छादन ही लेप है और इसे उतारते रहने से ही शुद्धि की प्राप्ति होती है तथा जब यह लेप पूरी तरह से उतर जाता है तब इस आत्म-स्वरूप को विशुद्ध मौलिकता एवं परिपूर्णता उपलब्ध हो जाती है।



राग और द्वेष के भाव क्रिया और प्रतिक्रिया की शृंखला के रूप में सामान्यतया संयुक्त हो चलते हैं क्योंकि मनोज्ञ पदार्थों एवं संयोगों के साथ में राग भाव होता है तो अमनोज्ञ पदार्थों एवं संयोगों के प्रति द्वेष भाव चलता है। फिर उनके साथ भी द्वेष भाव चलता है जो अपने मनोज्ञ पदार्थों या कि संयोगों को आघात पहुंचाने की चेष्टा करते हैं। राग और द्वेष के ये भाव मूल में मोह दशा से चलते हैं जो बड़ी ही प्रचंड होती है। आठों कर्मों में इसी कारण मोहनीय कर्म को घाती कर्मों में भी प्रमुखता मिली हुई है। राग और द्वेष ही कर्म बंधन के मूल कारण होते हैं और यह बंधन मोह दशा से होता है। कर्म बंधन के फलस्वरूप ही जन्म-मरण का चक्र चलता है तथा सांसारिकता की जकड़ बनी रहती है। इस संसार में जो परम दुःख का कारण है वह यह जन्म-मरण का चक्र और भव भ्रमण ही है। जैसे जंगल में दावाग्नि लग जाती है और उसमें प्राणी जलने लगते हैं तो दूसरे प्राणी राग और द्वेष के वशीभूत होकर दुःखित या प्रसन्न होते हैं, किन्तु यह नहीं सोचते कि यह बढ़ती हुई दावाग्नि उन्हें भी वशीभूत कर देगी अतः उन्हें जलते हुए प्राणियों को बचाना चाहिये तथा स्वयं भी बचना चाहिये। इसी प्रकार अज्ञान एवं मोह दशा से ग्रसित तथा काम भोगों के भावों में मूर्च्छित प्राणी यह भी नहीं सोचते कि सारा संसार राग-द्वेष रूपी अग्नि में जल रहा है और सबको मिलकर इस अग्नि से बचने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी प्रयत्न का अर्थ है कि राग और द्वेष के लेप उतारते जावें।

यह सर्वथा सत्य वस्तुस्थिति है कि समर्थ से समर्थ शत्रु भी इस आत्मा का जितना अहित नहीं कर सकता है, उससे कई गुना अहित राग और द्वेष का आच्छादनकारी यह लेप करता है। राग-द्वेष के भाव समता भाव के शत्रु होते हैं। इनके रहते आत्मा की आन्तरिकता से विषमता समाप्त नहीं होती है। राग और द्वेष का जबरदस्त जोर आत्मीय भावों में समता को समाविष्ट नहीं होने देता है। मोह या काम भोग अथवा अन्य सभी वृत्तियाँ अपने आप न तो किसी मनुष्य के मन में समता भाव पैदा करते हैं और न ही विकार भाव ही पैदा करते हैं, किन्तु जो मनुष्य उनके साथ राग या द्वेष करता है, वही मोह के वशीभूत होकर विकार भाव प्राप्त करता है तथा निकाचित कर्मों का बंध करता है।

इसलिये राग और द्वेष के भावों से मुक्त होने पर ही भावों की निर्लेपता प्राप्त होती है। जैसे कसौटी पर कसने से अथवा अग्नि में तपाने पर सोने की शुद्धता प्रकट होती है, उसी प्रकार जो अपने संयम एवं तप के पुरुषार्थ से राग और द्वेष के भावों से छुटकारा पा लेता है, वही अपने आत्मस्वरूप की शुद्धता एवं निर्मलता को प्राप्त कर सकता है।

## भावों की निर्लेपता का प्रतीक है समभाव

ज्ञान दृष्टि से विचार किया जाये तो जो गुणों को धारण करता है, वह साधु कहलाता है और जो गुणों से रहित है अथवा दुर्गुणों में फंसा हुआ है, वही असाधु है। अतः साधु के योग्य गुणों को धारण करना चाहिये तथा दुर्गुणों का त्याग कर देना चाहिये, लेकिन ऐसा वही कर सकता है, जो राग और द्वेष के दुर्भावों से ऊपर उठ जाता है। राग और द्वेष के परित्याग के साथ ही समभाव का उदय होता है तथा समभाव सभी गुणों का वाहक बनता है। आत्मा के मूल स्वरूप का ज्ञान करने वाला समभाव की साधना में निमग्न होता है क्योंकि वह जान लेता है कि समभाव ही भावों की निर्लेपता का प्रतीक होता है।

समभाव ही उत्थान की अभिलाषा रखने वाली आत्मा के लिये ग्राह्य गुण है, क्योंकि इसको धारण करके ही राग और द्वेष रूप पाप भावों पर नियंत्रण किया जा सकता है तथा शनैः शनैः उनको समाप्त करके वीतराग अवस्था में पहुंचा जा सकता है। राग और द्वेष के भाव ही प्रमुख रूप से पापपूर्ण प्रवृत्तियों में गति कराने वाले होते हैं। अतः जो साधु या साधक इन दोनों वृत्तियों का निरोध करता है, वही इस संसार के परिभ्रमण चक्र को काट सकता है।

वास्तविक वस्तुस्थिति तो यह है कि यदि राग और द्वेष के भावों का अस्तित्व नहीं होता तो इस संसार में न कोई दुःखी होता एवं न कोई सुख पाकर ही विस्मित होता बल्कि सभी मुक्त ही हो जाते। क्योंकि सत्य ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करने से, अज्ञान और मोह का त्याग करने से, समताभाव में आत्मरमण करने से तथा राग और द्वेष का क्षय कर देने से आत्मा को एकान्त रूप से सुखमय मोक्ष गति की प्राप्ति होती है।

अतः समभाव की साधना को प्राथमिकता दी जानी चाहिये। इस हेतु समभाव के लक्षणों को समझ लें। समभाव में न राग रहता है, न द्वेष अर्थात् न कोई प्रिय होता और न कोई अप्रिय। समभाव में भय की भी समाप्ति हो जाती है बल्कि समभाव का साधक दूसरों को भी अभयदान देता है। इस साधना में न तो किसी वस्तु या संयोग के लाभ पर गर्व होता है और न किसी वस्तु संयोग के न मिलने पर अथवा हानि पर चिन्त में दीनता या खिन्नता आती है। साधक के सामने कितना ही बड़ा संकट क्यों न आ जाये, वह कभी अपने धीरज को नहीं खोता है तथा प्रतिपल साम्य-विवेक के साथ उसका सामना करता है। समभाव में विचार ही साम्य और सौम्य नहीं होते बल्कि वचन और आचरण भी

समतामय एवं सौम्य हो जाता है। यही भावों में निर्लेपता की साम्य एवं सौम्य अवस्था होती है जो सम्पूर्ण जीवन को समतामय बना देती है।

### भाव शुद्धि से पलों में मुक्ति

शास्त्रों में ऐसे अनेक महापुरुषों का उल्लेख आता है, जिनके भावों में निर्लेपता और शुद्धि आयी कि वे मुक्ति के अधिकारी बन गये। यों भावों की परम शुद्धि के बिना वर्षों तक संयम व तप की आराधना की जाती रहे, बल्कि जन्म-जन्मान्तर तक भी ऐसा होता रहे, तब भी मुक्ति की प्राप्ति दुर्लभ बनी रहती है। किन्तु भावों की शुद्धि के साथ उसकी उत्कृष्ट श्रेणी में उत्थान होता रहे तो वर्षों या जन्मों का कार्य पलों में सिद्ध हो जाता है। भरत महाराज छः खंड के अधिपति चक्रवर्ती राजा थे। अपनी जिम्मेदारियों के कारण समझा जा सकता है कि उनकी आत्मा कितने लेपों से आच्छादित होगी लेकिन अंगुली में से मुद्रिका गिर जाने पर संसार की असारता के सम्बन्ध में जो उत्कृष्ट भाव उनके अन्तःकरण में पैदा हुए तथा उत्कृष्टतर बनते गये कि कुछ ही समय में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई अर्थात् वे मुक्ति के अधिकारी बन गये। अतः राग और द्वेष की कुत्सितता को समझ कर भावों की शुद्धि एवं निर्लेपता का पुरुषार्थ करना चाहिये।

## 19

## शान्ति-लाभ की लाल

शान्ति जिन एक मुझ विनति सुनो...

वीतराग देवों की वाणी के मर्म को समझने के लिये किसी योग्य पुरुष की आवश्यकता अनुभव की गई है। वह योग्य पुरुष 'गुरु' के नाम से जाना जाता है। वीतराग वाणी ने मुख्यतः तीन तत्त्वों की प्रतिस्थापना की है जिनके प्रति प्रत्येक आस्थावान व्यक्ति एवं साधक की अटूट निष्ठा होनी चाहिये। ये तीन तत्त्व हैं—देव, गुरु एवं धर्म। इन तीन तत्त्वों को परिभाषित किया गया है। देव कौन? क्या देव किसी को भी मान लिया जाये? नहीं। देव तो हमारा ज्योतिर्स्तम्भ होता है जो सर्वगुण सम्पन्न एवं सर्व प्राणियों का समान रूप से हितैषी होना चाहिये। ऐसा देव वही हो सकता है जो राग-द्वेष से मुक्त हो चुका हो, जिसकी वाणी पूर्ण सत्यमय हो तथा जो साम्यभाव के साथ संसार के सभी जीवों का तरण-तारण हो। ऐसे देव को कहा गया है अरिहन्त और सिद्ध। जो अपने समस्त कर्म शत्रुओं को परास्त कर देता है और अपनी आत्मा को वीतराग बनाकर समभाव में स्थित हो जाता है, वह अरिहन्त तथा वीतराग बनकर सिद्ध को प्राप्त कर लेता है—वह सिद्ध। इनसे बढ़कर अन्य कोई देव नहीं हो सकता, अतः ये ही सुदेव हैं। सुदेव के बताये हुए मार्ग पर चलने वाले गुरु ही सुगुरु हैं तथा सुधर्म भी वही है जो सुदेव (केवली) द्वारा प्ररूपित है। इन तीनों तत्त्वों के मूल प्रेरक केवली प्रभु ही होते हैं।

परन्तु जिस समय में केवली नहीं रहते हैं, उस समय में उनकी वाणी से मार्गदर्शन लिया जाता है। उस वाणी के अर्थ गांभीर्य को समझने और समझाने वाले सुगुरु होते हैं। ऐसे समय में इस दृष्टि से सुगुरु का ही श्रेष्ठतम स्थान होता है। तभी तो एक कवि ने कहा है कि 'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय' और अपनी समस्या का समाधान उसी ने देते हुए आगे कहा कि मेरे लिये तो गुरु ही बड़े हैं क्योंकि गोविन्द (परमात्मा) को उन्होंने ही बताया है, वरना मैं

गोविन्द को कहां से जानता? इस रूप में गुरु की महिमा अपूर्व मानी गई है। सुदेव की वाणी को ये सुगुरु ही व्याख्यायित एवं विश्लेषित करते हैं तथा सुधर्म का मर्म भव्य जनों को समझाते हैं।

### सुगुरु शान्ति मार्ग के ज्ञाता एवं दर्शक

सुगुरु सुदेव के सिद्धान्तों का मक्खन खींचकर सारभूत प्रवचनों से चतुर्विध संघ को उद्धोधित करते हैं। सुगुरु ही शान्ति-मार्ग के ज्ञाता एवं दर्शक होते हैं तथा भव्य जनों को वह मार्ग दिखाते हैं। कौन व्यक्ति शास्त्र के अर्थ को ग्रहण कर सकता है और कौन व्यक्ति नहीं तथा शान्ति के मार्ग को समझ कर उस पर आगे बढ़ने की क्षमता किस व्यक्ति में कितनी है—इसका सही रूप से अनुमान सुगुरु ही लगा सकते हैं। सुगुरु इन सारी बातों का विज्ञान लगाकर सुदेव की वाणी की सर्वत्र प्रभावना करते हैं। भव्य जनों के अन्तःकरण में इस वाणी का वे अंकुरण करते हैं जो अंकुर यथा भाव एवं यथासमय पल्लवित एवं पुष्पित बनता है।

सुगुरु एक प्रकार से सुदेव, सुधर्म एवं अनुयायियों के बीच की मजबूत कड़ी के रूप में प्रभावशाली होते हैं। दोनों तरफ कार्य करने से उनका कार्य महत्त्वपूर्ण कहलाता है। वस्तु मापक जो यंत्र होता है, उसे तराजू कहा जाता है। इस तराजू के दोनों तरफ दो पलड़े होते हैं तथा बीच में कांटा होता है। वस्तु का तोल करते समय पलड़ों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता बल्कि ध्यान को कांटे पर केन्द्रित रखा जाता है, क्योंकि कांटा सीधा रहेगा तो यह सुनिश्चित माना जायेगा कि दोनों पलड़े सीध में हैं और बराबर हैं। इसी कांटे के रूप में सुगुरु का स्थान एवं कार्य माना गया है। मोक्ष मार्ग रूपी तराजू के दो पलड़े और एक कांटा है। एक पलड़े में मानें कि सुदेव हैं और दूसरे पलड़े में सुधर्म है। अब कोई भव्य आत्मा अपने सुदेव का कितनी निष्ठा से अनुसरण कर रही है तथा अपने सुधर्म का कर्मठ आचरण—यह बीच के कांटे से जाना जा सकता है। इस बारे में सुगुरु का मूल्यांकन ही महत्त्वपूर्ण होता है।

इसीलिये संसार की दृष्टि में सुगुरु की सर्वोच्चता स्थापित हुई है। सबकी नजर सुगुरु की तरफ लगी रहती है कि वे ही एक कुशल पारखी की तरह किसी साधक के जीवन की प्रगति की वास्तविकता का अंकन कर सकते हैं। असन्तुलित कांटे की तरह अगर गुरु ही सही नहीं हो तो न उन पलड़ों का सही ज्ञान होगा और न साधकों की शान्ति के मार्ग पर प्रगति का सही अनुमान। सामान्य रूप से ऐसे गुरु के प्रति लोगों की आस्था भी कायम नहीं होती है।

अविश्वसनीय गुरु न गुरु पद के अधिकारी होते हैं तथा न ही उनके द्वारा साधकों का कोई हित सध सकता है।

वर्तमान में मानव समुदाय के पलड़ों का ज्ञान लगावें तो उसके एक पलड़े में शान्ति है तो दूसरे पलड़े में अशान्ति। अब जब तक बीच का कांटा ठीक नहीं होता तब तक मनुष्य का मन शान्ति और अशान्ति के बीच में डांवांडोल बना रहता है। कभी शान्ति का पलड़ा भारी होता है तो कभी प्रतिकूल परिस्थितियों के झटकों में अशान्ति का पलड़ा भारी बन जाता है। इसमें जब सुगुरु का योग मिलता है, तब वे उस पथ का प्रदर्शन करते हैं, जिस पर चलकर मानव अपने मन से अशान्ति मिटाता जाता है और शान्ति को स्थायी बनाता जाता है। अशान्ति से शान्ति की दिशा में अग्रगामी बनने के लिये सुगुरु की सहायता अनिवार्य है, क्योंकि वे ही शान्ति मार्ग के ज्ञाता और दर्शक होते हैं। अशान्त-चित्त मानव को वे ही शान्ति का मार्ग दिखा सकते हैं तथा उसे उस मार्ग पर स्थिरतापूर्वक चलने की शक्ति भी प्रदान कर सकते हैं।

### शान्ति लाभ के आशापूर्क सुगुरु होते हैं

सभी प्राणी शान्ति चाहते हैं—अशान्ति कोई नहीं चाहता। किन्तु इन दोनों अवस्थाओं में कितना अन्तर है तथा शान्ति लाभ की आशा क्या करने से पूरी हो सकती है—इसका ज्ञान भी सुगुरु ही लगा सकते हैं तथा साधक की तत्सम्बन्धी साधना की जांच-परख भी वे ही कर सकते हैं।

शान्ति लाभ में सहायक तीन तत्त्व माने गये हैं—शरीर, वचन और मन। शरीर का व्यवहार सही है या नहीं और वचन का प्रयोग सही है या नहीं—इसका निरीक्षक और परीक्षक मन होता है। इसलिये मन के संशोधन एवं शुभ रूपान्तरण का प्रश्न सामने आता है। मन की गति तीन रूप से हो सकती है। जब मन इन्द्रियों के विषयों, कषाय आदि में भ्रमित रहता है, तब उसकी गति विगति अर्थात् विकृत गति होती है। विविध विकारों के भंवर-जाल में ही वह पड़ा रहता है और अपने स्वरूप को कलंकित बनाता रहता है। ऐसे मन को जब कभी सुगुरु का सम्यक् उद्बोधन मिलता है और वह उस पर प्रभाव डालता है, तब वैसे मन में जागृति की किरण फूटती है और उसका विवेक सावधान बनता है यह देखने के लिये कि क्या उसकी गति स्वतंत्र रूप से हो रही है अथवा वह विकारों के पराधीन होकर चल रहा है। इस जागृति से मन जितने अंशों में अपना द्रष्टा बनता है, वह अपनी संशोधन प्रक्रिया को सक्रिय बनाने लगता है। ऐसे मन की गति को यथार्थ रूप से गति कह सकते हैं कि वह विगति से निकलकर गति

के धरातल पर आ गया है। उसकी गति जब शुभ से शुभतर बनती जाती है तो वह प्रगति का रूप ले लेती है। अपनी संशोधन एवं परिमार्जन की प्रक्रिया में से निर्मल बनता हुआ वह मन आत्मानुशासित बनने लगता है। ऐसे मन की क्रियाशीलता में ही आत्मा को अपने स्वरूप की प्रतीति होती है व अपने अपरिमित सामर्थ्य की अनुभूति होती है जिसके परिणामस्वरूप आत्मा की अनुपम शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है।

अतः मन की गति के निरोध का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि उसकी सम्पूर्ण स्थिरता सम्पूर्ण क्रियाहीनता से ही प्राप्त हो सकती है जो सांसारिक जीवन में संभव नहीं है। इस कारण चित्त वृत्तियों के निरोध की नहीं, संशोध की आवश्यकता है ताकि मनुष्य का मन विगति के अंधकार से निकल कर आत्म-विकास एवं शान्ति के मार्ग पर गति करे और केवल गति ही नहीं करे बल्कि अपने पौरुष को कर्मठ बना कर तीव्र गति से प्रगति करे। मन की इस विगति, गति और प्रगति की जांच विकास की प्राथमिक अवस्थाओं में सुगुरु ही कर सकते हैं। क्योंकि जब तक निजात्मा की जागृति एवं शक्ति उस स्तर तक नहीं पहुंच पाती है कि वह अपने मन को अपने अधीन रखकर उसकी गति को नियंत्रित कर सके, तब तक सुगुरु ही सच्चे परीक्षक हो सकते हैं।

शान्ति लाभ की आशा तब तक नहीं बंधती है जब तक कि निजात्मा की शक्तियाँ अभिव्यक्त होकर उसके विश्वास को परिपुष्ट नहीं बना देती है। इस परिपुष्टि तक सुगुरु की निरन्तर सहायता की अपेक्षा रहती है। यह नहीं है कि बाद में गुरु कृपा आवश्यक न रहे, किन्तु सतत संरक्षण की क्षमता अपनी प्रबुद्ध बनी आत्मा में उत्पन्न हो जाती है। आशा बंधने के स्तर तक तो सुगुरु की कृपा ही नहीं, सतत संरक्षकता की अनिवार्यता होती है। इसी कारण कहा गया है कि शान्ति लाभ की आशा के पूरणकर्ता सुगुरु ही होते हैं।

### शान्ति लाभ की दिशा में मनोबल की महत्ता

शान्ति लाभ की दिशा में मनोबल की ही सर्वाधिक महत्ता होती है, क्योंकि वचन और शरीर का नियंत्रक मन ही होता है। मन सही है, पवित्र है, तटस्थ है, समभावी है और आत्मानुशासित है तो वचन भी हितकारी, जन कल्याणकारी, स्व-पर का सन्तोषकारी और छोटे प्राणी से लेकर सम्पूर्ण विश्व के लिये शान्तिकारी होता है। मन सदाशय एवं सद्भावपूर्ण विचारों से ओत-प्रोत होता है तथा वचन सर्वसुखकारी तो उसका व्यवहार और कार्य भी सबको सुख और शान्ति पहुंचाने वाला ही होता है। शरीर स्वतः कुछ नहीं करता है और शरीर के

सारे अंग-उपांग हाथ, पैर, नाक, कान, मुंह आदि भी अपने आप कोई क्रिया नहीं करते हैं। वे सब मन के अधीन रहते हैं और मन के आदेश-निर्देश पर ही तदनुसार क्रियाएँ करते हैं। हाथ एक जगह चुपचाप पड़ा हुआ है, वह वहां से तब तक नहीं उठेगा जब तक उसको मन का संदेश सम्बन्धित नाड़ी के माध्यम से नहीं मिलेगा। हाथ जो क्रियाशील होगा तो उसी के अनुरूप क्रिया करेगा जैसा कि मन का संदेश होगा।

शरीर की समस्त क्रियाशीलता का संवाहक एवं संयोजक मन होता है। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के सामने चला गया, उसके सामने उसे हाथ जोड़ने चाहिये लेकिन जब तक मन वैसा करने की आज्ञा नहीं देगा, उसके हाथ नहीं जुड़ेंगे। यदि मन तदनुसार आज्ञा दे देगा तो वह पांचों अंग नवा कर बन्दन कर लेगा। मन कहेगा शरीर को या उसके किसी अंग को कि उठ तो वह उठेगा और बैठने को कहेगा तो बैठेगा। वस्तुतः मन संचालक है और शरीर उसके आज्ञाकारी सेवक की भांति उसके सुझाये हुए सारे कार्य करता है। मन रूपी कांटे के तुल्य ही सुदेव और सुधर्म का स्वरूप सुगुरु के समीप में समझा जाता है।

कवि ने उपरोक्त प्रार्थना की पंक्तियों में शान्ति का स्वरूप भी बताया है तो शान्ति को प्राप्त करने का मार्ग भी। यह कि शान्ति की अभिलाषा रखते हो तो उसे पाने के लिये सुगुरु की सहायता लो क्योंकि उनकी सहायता के बिना अपने इस चंचल और दुर्दान्त मन का परीक्षण और परिमार्जन नहीं हो सकेगा। मन जब तक नहीं बदला जायेगा और उसे अनुकूल दिशा में सक्रिय नहीं बनाया जायेगा, तब तक शान्ति लाभ के लिये की जाने वाली साधना को भी सफलीभूत नहीं बना सकेंगे। आप लोग तो अधिकतर व्यापारी हैं, किन्तु यह मत समझ लेना कि शान्ति कहीं किसी दुकान पर मोल मिल जायेगी। वह राजनीतिक या सामाजिक प्लेटफार्म पर भी मिलने वाली नहीं है। शान्ति प्राप्त करनी है तो उसके लिये अपने मन को उसके अनुरूप बदलना और ढालना होगा। मन के सम्यक् रूपान्तरण से ही शान्ति लाभ की दिशा में गति की जा सकेगी तथा यह रूपान्तरण जितना उत्कृष्ट होगा, मनोबल उतना ही श्रेष्ठ होकर साधक को शान्ति लाभ की दिशा में तीव्र गति से अग्रगामी बनायेगा।

### शान्ति-लाभ की लगन का मूल कहां?

शान्ति-लाभ एक तीव्र लगन और अडिग निष्ठा से संभव बनता है और यह आप जान चुके हैं कि वैसी लगन श्रेष्ठ मनोबल से प्राप्त होती है। इस लगन के दूरस्थ मूल को भी जान लीजिये। यह लगन मन के मूल से उत्पन्न होती है



किन्तु मन का परीक्षण और परिमार्जन सुगुरु की सहायता के बिना संभव नहीं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि शान्ति लाभ की लगन का मूल सुगुरु के मार्ग-दर्शन में रहा हुआ है।

इस संदर्भ में सोचिये कि शान्ति कहां से किस रूप में मिल सकेगी? इसका ज्ञान स्वतः नहीं हो सकता है। शान्ति का मार्ग बताने वाला सच्चा सहायक मिल जाता है तो फिर गति का क्रम भी आरंभ हो जाता है। जिसे सही मार्ग का ज्ञान नहीं होता है अथवा सही मार्ग से बार-बार भटक जाने का भय बना रहता है, उसे सहायता की आवश्यकता निश्चित रूप से महसूस होती है। समझें कि कोई व्यक्ति रास्ता भूल जाता है और जंगल में भटक जाता है। वह बड़ा व्यथित होकर मार्ग जानने के लिये इधर-उधर अपनी दृष्टि को फैलाता है और तब भी कोई मार्ग नहीं दिखाई देने से वह चिन्ताग्रस्त हो जाता है। उस समय यदि कोई व्यक्ति आ कर उसे कहे कि चलो, मैं तुम्हें सही मार्ग दिखा देता हूँ तो उसे कितना अपार हर्ष और सन्तोष होगा? वह व्यक्ति कहता है कि मैं तो रात-दिन जंगल में ही घूमता रहता हूँ—सारे मार्ग जानता हूँ, तुम्हें यथास्थान पहुंचा दूंगा। तब क्या वह व्यक्ति उसे अपने परम सहायक के रूप में दृष्टिगत नहीं होगा? क्या वह उसके प्रति विश्वस्त नहीं हो जायेगा? वह व्यक्ति उसे यथास्थान पहुंचाकर उसे अशान्ति से निवृत्त कर देता है तो क्या उसे शान्ति-लाभ नहीं हो जायेगा?

बाहर का जंगल कितना ही विकट दिखाई देता हो, किन्तु भीतर का जंगल उससे कई गुना विकट होता है, जिसमें विषय-कषाय, काम, क्रोध आदि कुटिल वृत्तियों की जटिल उलझनें होती हैं। इनमें भटका हुआ मन सही मार्ग से भटका हुआ तो रहता ही है, नाना प्रकार के दुःखों से आक्रान्त भी रहता है। भय, दुःख और आतंकपूर्ण इस वातावरण में मन कितना अशान्त रहता है—यह अनुभव की ही वस्तु विषय हो सकती है। भीतर के जंगल में भुलावा देने वाले अनेकानेक मार्ग होते हैं और भ्रमित बना हुआ मन कभी किसी मार्ग पर चलता है, उसे कटु अनुभव होते हैं तो वह उस मार्ग को बदल लेता है। लेकिन बार-बार मार्ग बदल कर भी उसको शान्ति नहीं मिलती है तो वह व्यथा से भर उठता है। उसका भटकाव तब तक जारी रहता है जब तक कोई सच्चा सहायक मिलकर उसे सही मार्ग का ज्ञान नहीं करा देता है। वह तब तक कभी किसी रास्ते पर चलता है तो कभी किसी रास्ते पर। जब किसी सुगुरु का मार्गदर्शन उसे मिलता है और वह स्वस्थ रीति से चिन्तन करता है तभी वह सही रास्ते की खोज कर सकता है। वह विचारों में उलझता भी है तो सुगुरु के मार्ग-दर्शन से सुलझता

भी है। क्योंकि ज्ञानीजनों ने अन्तःकरण की प्रक्रियाओं को जानने वाले सुगुरु की सहायता प्राप्त करने का संकेत दिया है। मोह माया से अपना सम्बन्ध तोड़ लेने वाले और मन को आत्मानुशासित बनाने की साधना करने वाले सुगुरु के चरणों में प्रत्येक शान्तिकामी को जाना ही चाहिये। कारण, उन्हीं की सेवा से उसे शान्तिलाभ का मार्ग मिलेगा और शान्ति लाभ के लिये आवश्यक एकनिष्ठ लगन भी लगेगी।

### शास्त्रों में सुगुरु के लक्षणों का वर्णन

उपरोक्त प्रार्थना में शास्त्रोक्त उन लक्षणों का वर्णन किया गया है जो एक सुगुरु में दिखाई देते हैं। इन लक्षणों का ज्ञान इस कारण से आवश्यक है कि शान्ति की अभिलाषा रखने वाला कोई भी विवेकशील व्यक्ति अपने सच्चे सहायक के रूप में सुगुरु का श्रेष्ठ चयन कर सके।

पहली बात यह कि सुगुरु आगमों के ज्ञाता होने चाहिये। वीतराग देवों ने जिन सिद्धान्तों एवं नीतियों व विधियों का निरूपण किया है, उनको जानकर तथा चिन्तन के मन्थन में उतार कर सामान्य जन को प्रतिबोधित करने के लिये उसे सुगम रूप से कहने की क्षमता सुगुरु में होनी ही चाहिये। तभी सुगुरु की वास्तविक सहायता सामने आ सकेगी तथा साधक की भी सच्ची आस्था अपने गुरु के प्रति जागृत हो सकेगी। शास्त्रकारों ने सुगुरु के लिये दूसरा विशेषण लगाया है कि वे सम्यक्त्वधारी होने चाहिये। तत्त्वों के अर्थ पर विचार करना सम्यग् दर्शन है और उसमें अपने विश्वास को प्रतिष्ठित करने पर सम्यक्त्वधारी हुआ जा सकता है। शास्त्रों के ज्ञाता एवं समकिति होने पर ही गुरुपद प्रस्थापित किया गया है क्योंकि केवल शास्त्रों का ज्ञाता कोई हो जाये पर उनके प्रति आस्थावान न हो तो उसमें वह गुरुत्व नहीं आता। जो शास्त्रों के अर्थ को जानता ही नहीं अपितु उसे हृदयंगम करके सन्निष्ठा का निर्माण करता है, वही दूसरों के हृदय में भी उतार सकता है। फिर भी गुरुपद के लिये इन दो विशेषणों के बाद तीसरा विशेषण भी लगाया गया है। सुगुरु आगमों को जानते हैं और मानते हैं—यह तो ठीक, किन्तु उससे आगे बढ़कर आगमों की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप से अपने जीवन में उतारते हैं। वे अपने संयमी जीवन को अपनी पूरी शक्ति के साथ आगमों की शिक्षाओं के अनुसार चलाने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

अनादिकाल से आत्मा को आस्रव सन्ताप देता रहा है, अतः अनन्त जन्मों की क्रियाओं को रोकने का जब तक त्याग नहीं लिया जाता है, तब तक

संवर का सार नहीं रह सकता है। भूतकाल की क्रियाओं को रोककर ही वर्तमान का संवर होता है। आस्रव और संवर के बीस-बीस भेद कहे गये हैं, जिनका उल्लेख पच्चीस बोल के थोकड़े में है। पाप कर्मों के आगमन को रोकना संवर कहलाता है। अनादि काल की हिंसा की क्रिया अनन्त काल से चालू है जिसका इस आत्मा को ज्ञान नहीं है। सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने गौतम गणधर को यह बताया कि हे गौतम! एक शिकारी धनुष बाण लेकर हरिण का शिकार खेलता है—हिंसा करता है। इस क्रिया का फल हिंसा रूप पाप कर्म हिंसक आत्मा के साथ सम्बद्ध होता है। शिकारी ने अपनी काया के माध्यम से बाण चलाकर हरिण की हत्या की। उसने जिस समय से हरिण की हत्या की, उस समय से क्रिया चालू हो गई—हरिण के मर जाने के बाद बंद नहीं हुई। उसने आस्रव के द्वार खोल दिये। वह हर समय हरिण को नहीं मार रहा है पर क्रिया लग रही है। वह इस जन्म में मृत्यु को प्राप्त होकर दूसरे जन्म में स्वर्ग में भी चला जाये तब भी क्रिया चालू रहती है। पाप का जो रास्ता खुला, उसको जब तक वह इरादतन बंद नहीं करेगा तब तक चाहे कितने ही जन्म निकल जाए, उस क्रिया का पाप निरन्तर चालू रहेगा। इसको इस दृष्टान्त से समझें। एक गन्दे पानी की टंकी है जिसमें निरन्तर गंदा पानी आता जा रहा है जो एक नल के द्वारा आता है। नल एक बार खोल कर बंद नहीं करेंगे तो क्या गंदे पानी का आना रुक सकेगा। पानी तभी रुक सकता है जब इरादा करके उस खुले हुए नल को वापस बंद कर दें। वैसे ही मनुष्य बिना जानकारी के आस्रव के द्वार को खोलकर आता है जो खुला रहता है। इसकी जानकारी उसको वर्तमान में नहीं होती है। अनेक जन्मों में इस तरह अनेक रास्ते खोलकर वह इस जन्म में आता है। एक मिनट में पहला, दूसरे मिनट में दूसरा, तीसरे मिनट में तीसरा—इस तरह रास्तों का खुलना चालू रहता है।

गौतम ने प्रभु से कहा—प्रभो! शिकारी की बात समझ में आ गई कि उसने पाप के रास्ते खोले, लेकिन शिकारी ने बाण को हाथ में लिया था और बाण से ही हरिण को मारा था। बाण का लोहे का भाग हरिण के पेट में धंस गया। वह लोहा भी कभी किसी जीव का हिस्सा था। लोहा पहाड़ों में मिलता है और उसमें पृथ्वीकाय के जीव होते हैं। किसी मजदूर ने उसे खोदकर निकाला होगा और कारीगर ने उसे आग में डालकर पकाया व गढ़ा होगा। पृथ्वीकाय के जीव लोहे को छोड़कर चले गये। उन जीवों के शरीर से उनकी मृत्यु के बाद भी जो यह कार्य हुआ, क्या उन्हें उसकी भी क्रिया लगेगी? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—हाँ, लगेगी। पीछे वह स्वयं नहीं है, सिर्फ उसका मुर्दा शरीर है, तब भी उसे क्रिया लगेगी।

यह सर्वज्ञ देव का कथन है कि किसी भी जीवात्मा का अपने वर्तमान जीवन के शरीर या अन्य सम्पत्ति के प्रति मोह भाव होता है। वह मरना नहीं चाहता, लेकिन जब मृत्यु उसके सामने आ कर खड़ी होती है, उस समय यदि वह आस्रव का द्वार बंद कर दे तो ठीक, वरना उस मृत्यु के बाद भी उसे क्रियाएँ लगती रहती हैं।

आस्रव का यह विषय इतना सूक्ष्म है कि जिसे किसी सुगुरु के समीप में जाकर ही समझा जा सकता है तथा आस्रव के द्वारों को बन्द करने की विधि जानकर और आजमा कर शान्ति लाभ लिया जा सकता है। ये सब सुगुरु के ही लक्षण होते हैं जो किसी के जीवन में खुले हुए अशान्ति के द्वारों को बन्द करने तथा शान्ति के द्वारों को खोलने का सार्थक मार्गदर्शन प्रदान कर सकते हैं।

### आस्रव के द्वारों को बन्द करके शान्ति पाइये

जन्म-जन्मान्तरों में खोले गये आस्रव के द्वारों को बन्द न करने तक क्रिया चालू रहती है, जिसका अर्थ है कि उन खुले द्वारों से पाप कर्मों का आगमन निरन्तर चालू रहता है जो आत्मा को कर्म भार से भारी बनाता रहता है। जितना कर्म भार है उतनी ही अशान्ति है और इतनी अशान्ति है तो शान्ति-लाभ कैसे होगा? शान्ति लाभ के लिये ही यह आवश्यक है कि आस्रव जनित इन क्रियाओं के रहस्य को बारीकी से समझा जाये तथा उनसे विमुक्त बना जाये। इसको एक उदाहरण के माध्यम से समझने की चेष्टा करें।

समझें कि एक बहुत बड़ी फर्म है, जिसके अनेक व्यक्ति भागीदार हैं। कल्पना करें कि उनमें से एक भागीदार उस फर्म में अपनी भागीदारी डाल कर विदेश चला गया और परिवार सहित उधर ही बस गया। वह वर्षों तक वापस इधर नहीं आया। इस दौरान फर्म में घाटा लग गया। घाटा हो जाने पर सब भागीदारों से उनका हिस्सा वसूल कर लिया गया लेकिन विदेश में बसे हुए भागीदार का हिस्सा बाकी रह गया। उसे वहाँ विदेश में घाटे की वसूली का नोटिस भेजा गया। विदेश में बस जाने के कारण को लेकर वह घाटे की राशि अदा करने से इन्कार करे तो क्या कानून उसे मंजूर करेगा? उसने भागीदारी नहीं निकाली और घाटा लग गया तो उसकी वसूली उससे होगी ही। विदेश में बसने पर वह समझदारी करके अपनी भागीदारी निकाल लेता तो फिर उसका उस फर्म के साथ हानि-लाभ का कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

इसी प्रकार समझें कि किसी व्यक्ति ने अपने जीवन काल में एक बड़ी बिल्डिंग का निर्माण कराया और बिना उस आस्रव का द्वार बन्द किये ही वह

मर गया— क्रिया का त्याग नहीं किया। बाद में उस बिल्डिंग में एक वेश्या रहने लगी या कि कोई कसाई रहने लगा। वे उस बिल्डिंग में रहते हुए जिस प्रकार की क्रियाएँ करते हैं, उनकी भागीदारी का पाप तथा उसकी क्रिया उस बिल्डिंग के निर्माता को लगती ही रहेगी क्योंकि उसने मृत्यु से पूर्व उस आस्रव के द्वार को बंद नहीं किया तथा अपनी भागीदारी समाप्त नहीं की।

इसी रूप में अपने ही शरीर में ममत्व भाव को मृत्यु पूर्व नहीं वोसराने से उसकी पश्चात् क्रियाओं की भागीदारी उस आत्मा के साथ जुड़ी रहती है। वर्तमान में पांच महाव्रतों को साधु या बारह अणुव्रतों को श्रावक स्वीकार करता है, उससे वर्तमान के आस्रव का द्वार रोका जाता है पर भूतकाल की क्रियाओं को भी रोकना होगा। यदि नहीं रोकें तो वही हाल होगा कि दरवाजा खुला है, धूल मिट्टी अंदर आ रही है और अभी नहा रहे हैं लेकिन धूल मिट्टी आती रहेगी तो वह जमती भी रहेगी। इसलिये दरवाजा बंद करके नहाना चाहिये ताकि आस्रव का मार्ग बन्द हो जाये और संवर की प्रक्रिया कार्यशील बन जाये।

### संवर से शान्ति का द्वार खुलता है

जहां आस्रव से अशान्ति के द्वार खुले रहते हैं वहां जब इन द्वारों को बन्द करके या निरुद्ध करके संवर का सेवन किया जाता है तब शान्ति का द्वार खुलता है। मन, वचन, काया के शुभाशुभ योग द्वारा आत्मा जो शुभाशुभ कर्म ग्रहण करती है, उसे आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार चारों ओर से आते हुए नदी, नालों और झरनों द्वारा तालाब पानी से भर जाता है, उसी प्रकार आस्रव द्वारा आत्मा में कर्म रूपी पानी आता है, जिससे आत्मा व्याकुल और व्यथित बनती है। पांच अव्रत, पांच इन्द्रियाँ, चार कषाय, तीन योग और पच्चीस क्रिया—इस प्रकार आस्रव के बयालीस भेद बताए गये हैं। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—इन पापों से आत्मा यहीं अनेक प्रकार वध, बन्धन, ताड़ना आदि दुःख पाती है। एक-एक इन्द्रिय के विषयों में आसक्त बने प्राणी भी प्राणान्त कष्ट भोगते देखे जाते हैं। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श की आसक्ति के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष में देखने को मिलते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों से दूषित प्राणी यहीं पर अपनी और दूसरों की शान्ति का नाश करते हैं। जो इन कुपरिणामों को समझ लेता है और इनका त्याग करके जन्म-जन्मान्तरों की क्रियाओं से अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है, वह आस्रव का भी निरोध कर लेता है। यह अशान्ति के द्वारों का निरोध होता है।

अशान्ति के द्वारों का निरोध होता है तो तदनु रूप शान्ति के द्वार अवश्य खुलते हैं। जिन क्रियाओं से कर्मों का आना रुक जाता है, वह संवर है। जिस प्रकार छिद्र वाली नाव में पानी आता है और पानी के आते रहने से वह नाव डूब जाती है और उसमें बैठे हुए प्राणी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। किन्तु नाव के उन छिद्रों को रोक देने पर पानी का आना रुक जाता है और उसमें बैठे सभी प्राणी सुरक्षित रूप से अपनी यात्रा पूरी कर लेते हैं। उसी प्रकार संवर क्रिया द्वारा नये कर्मों का आगमन रुक जाने पर आत्मा निर्विघ्न रूप से मुक्ति की ओर आगे बढ़ती जाती है तथा एक दिन अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेती है। द्रव्य और भाव—ये संवर के दो मुख्य भेद हैं। गृहीत कर्मों का देना और सर्वरूप से छेदन करना द्रव्य संवर है तो भव हेतुक क्रिया का त्याग करना भाव संवर है।

वास्तविक शान्ति और सुख की गवेषक एवं साधक आत्मा के लिये तो संसार निमित्त क्रिया से विरत होना अनिवार्य है। शान्ति लाभ एवं आत्म-विकास में इसी कारण संवर का स्थान बड़े महत्त्व का है। इसके लिये अनेक प्रवृत्तियों को रोकना पड़ता है और उसका उपाय संवर की विभिन्न क्रियाएँ हैं। यदि संसार के प्रति उदासीनता हो, त्याग भाव के प्रति सच्ची प्रीति हो, आत्म-विकास की एकनिष्ठा हो तथा शान्ति लाभ की प्रबल लगन लगी हो तो संवर की क्रियाओं द्वारा सभी प्रकार की आस्रव की क्रियाओं को जीत लेना सहज हो जाता है। संवर क्रियाओं की आराधना करने वाली एवं संवर भावना का चिन्तन करने वाली आत्मा अपनी विकास यात्रा में निरन्तर शान्ति लाभ करती हुई अपने लक्ष्य के प्रति आगे से आगे बढ़ती जाती है तथा एक दिन परम शान्ति के अक्षय धाम में अवस्थित हो जाती है।

20

## निपुण बुद्धि-प्रयोग

शान्ति जिन मुझ एक विनति सुनो...

परमात्मा के चरणों में जिस उद्देश्य एवं लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये प्रार्थना की जा रही है, उसकी पूर्ति हेतु योग्य सहायक की अपेक्षा रहती है। सन्त जीवन को लेकर जो नियंत्रित आहार विहार के साथ चलते हैं और साधना के पुरुषार्थ से अपने गंतव्य स्थान पर पहुंचते हैं, उन्हें भी प्रारंभ में योग्य सहायक की आवश्यकता होती है।

ऐसे योग्य सहायक के कई गुणों में से एक विशिष्ट गुण की चर्चा करें, जो अत्यावश्यक माना गया है। वह गुण यह है कि वैसा योग्य सहायक अर्थात् गुरु पद पर प्रतिष्ठित पुरुष निपुण बुद्धिवाला होना चाहिये तथा इतना ही पर्याप्त नहीं हैं बल्कि जहां भी उसके बुद्धि प्रयोग का अवसर आवे वहां वह अपनी निपुण बुद्धि का ही प्रयोग भी करे। निपुण बुद्धि का धनी सहायक या गुरु ही किसी भी साधक को उसके लक्ष्य प्राप्ति के महत्कार्य में सारपूर्ण सहायता प्रदान कर सकता है।

निपुण शब्द का अर्थ होता है कुशल और चतुर। किस परिस्थिति में किस प्रकार का समुचित कार्य जाना चाहिये कि उसमें सफलता अवश्य ही मिले—वही निपुणता की कसौटी होती है। ऐसी निपुणता सम्यक्, श्रेष्ठ एवं स्फुरित बुद्धि से ही प्राप्त होती है। उस बुद्धि में यदि किसी प्रकार की कुंठा या मन्दता रह जाती है तो समय पर उसका प्रयोग निपुण सिद्ध नहीं हो पाता है। ऐसी कुंठा और मन्दता रहित प्रखर बुद्धि ही निपुण बुद्धि कहलाती है। ऐसी निपुण बुद्धि के धनी पुरुष का उपयोग भी निपुण होता है, तभी तो उसका बुद्धि प्रयोग निपुण बनता है। निपुण बुद्धि प्राप्त हो और उससे निपुण उपयोग नहीं लगाया जाये तो समय पर जिस कुशलता से कार्य का सम्पादन होना चाहिये, वह नहीं हो पाएगा। निपुण बुद्धि एवं निपुण उपयोग से ही निपुण बुद्धि-प्रयोग संभव होता है। यही कारण है कि योग्य सहायक एवं गुरु के लिये ऐसी निपुण बुद्धि एवं उसके प्रयोग का लक्ष्य रखा गया है।

## निपुण बुद्धि की कहां आवश्यकता नहीं होती ?

यों देखें तो निपुण बुद्धि की कहां आवश्यकता नहीं होती है? चाहे आध्यात्मिक साधना हो या लौकिक कार्य-पालना—सभी स्थानों पर निपुण बुद्धि-प्रयोग की आवश्यकता होती है और यदि लौकिक क्रियाकलापों में भी अहिंसक रीति से निपुण बुद्धि का प्रयोग किया जाये तो वहां पर भी सराहनीय सफलता प्राप्त की जा सकती है। लेकिन कोई यही लक्ष्य बना ले कि उसको धन-सम्पत्ति आदि का उपार्जन करना है तथा किसी भी रीति से वह उनका उपार्जन करेगा और ऐसे लक्ष्य के साथ यदि निपुण बुद्धि का प्रयोग किया जाये तो वह उसका दुरुपयोग ही होगा। कारण, निपुण बुद्धि की सहायता से विपुल धन सम्पत्ति का वह अर्जन तो कर लेगा किन्तु अन्याय या अत्याचार की किस सीमा तक बढ़ता हुआ वह चला जायेगा—इसका कोई अनुमान नहीं। वह बुद्धि उस अवस्था में निपुणता से कार्य तो करेगी लेकिन उसका स्वरूप दुर्बुद्धि का हो जायेगा। क्योंकि दुष्प्रयोग करने से उस बुद्धि की सदाशयता समाप्त हो जायेगी।

बुद्धि-प्रयोग की निपुणता से विपुल धन-सम्पत्ति का उपार्जन किया जा सकता है, भौतिक विज्ञान का विस्तृत अध्ययन करके नये-नये आविष्कारों का निर्माण किया जा सकता है, सांसारिक क्रियाकलापों का विस्तार किया जा सकता है। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में नई विचारधाराओं या कि गतिविधियों की रचना की जा सकती है—अथवा अन्य प्रकार से लौकिक विषयों से समृद्धि लायी जा सकती है। किन्तु, इन सब कार्यों को गौण करके प्रमुख रूप से जो आध्यात्मिक प्रगति एवं आत्म-विकास की दिशा में निपुण बुद्धि का प्रयोग किया जाता है, वही श्लाघ्य और श्रेष्ठ माना गया है। स्वार्थों के संकुचित क्षेत्रों में निपुण बुद्धि का प्रयोग उसकी निपुणता का सदुपयोग नहीं कहा जाता है। निपुणता वही जो सर्वहितकारिणी हो और जिसका स्वरूप अलौकिकता की दिशा में गतिशील बना रहे। इस दृष्टि से निपुण बुद्धि वाला वही पुरुष कहा जायेगा जो वीतराग देवों द्वारा उपदेशित चरम लक्ष्य के प्रति प्रगमनशील साधकों को समुचित सहायता प्रदान कर सके। ऐसी निपुण बुद्धि के प्रयोग का धनी महात्मा ही योग्य सहायक हो सकता है तथा गुरु पद की महिमा को विभूषित कर सकता है।

## सूर्य के समान होता है निपुण बुद्धि का प्रयोग

यह सूर्य आप देखते हैं जो प्रकाशमान होता है। उसकी किरणें कहां से आ रही हैं? आप कहेंगे कि वे सूर्य से ही प्रस्फुटित हो रही हैं। सूर्योदय के पश्चात् अमुक समय तक वे किरणें कोमल प्रतीत होती हैं। वे ही मध्याह्न के समय प्रखर



और तेज बन जाती हैं। फिर सूर्यास्त के समय किरणें ढलती हुई समाप्त हो जाती हैं। जब तक इस तथ्य का सही ज्ञान नहीं होता है, तब तक वह सूर्य की किरणों का समुचित रीति से लाभ नहीं उठा सकता है और इस कारण वह निपुण अर्थ बुद्धि वाला भी नहीं कहा जा सकता है। किन्तु वास्तविक निपुण अर्थ बुद्धि वाला पुरुष इसके रहस्य को जानता है और सूर्य की इन तीनों अवस्थाओं के अन्तर को भी समझता है।

सूर्य से किरणें तो एक ही रूप से फूटती हैं। इन किरणों का स्वामी सूर्य तो अपनी शक्ति से प्रति समय प्रखरता के साथ किरणों को फेंकता रहता है, लेकिन उनकी प्रखरता में जो अन्तर महसूस किया जाता है, वह दूरी की वजह से होता है। प्रातः काल में सूर्य बहुत दूर होता है तो उसकी किरणों की प्रखरता में अल्पता अर्थात् कोमलता प्रतीत होती है। मध्याह्न में वे ही किरणें तेज और प्रखर इस कारण से महसूस होती हैं क्योंकि तब सूर्य निकटस्थ होता है। सूर्यास्त के समय दूरी बढ़ जाती है और किरणों की प्रखरता कम लगती है।

इस प्रकार का चिन्तन करके जिस व्यक्ति ने सूर्य की किरणों के स्वरूप को समझा है और सूर्य की गति की जानकारी ली है, वह कभी यह नहीं कह सकता है कि सूर्य की किरणें तीक्ष्ण होती हैं। क्योंकि वह गति की दूरी और अन्तर को समझ जाता है।

सूर्य के समान ही मनुष्य की बुद्धि में उतनी तेजी और प्रखरता का आरोपण किया जाता है। अपने यथार्थ स्वरूप में मनुष्य की बुद्धि भी सूर्य किरणों के तुल्य सभी दिशाओं का अंकन करने वाली होती है। यदि उस बुद्धि का प्रयोग भौतिक तत्त्वों को जानने तक ही सीमित बना देते हैं तो वह बुद्धि सीमित क्षेत्र वाली ही रह जाती है। जब उसी बुद्धि का प्रयोग आध्यात्मिक तत्त्वों के ज्ञान के विशाल क्षेत्र में किया जाता है तब उस बुद्धि-प्रयोग की क्षमता एवं योग्यता व्यापक बन जाती है। बुद्धि प्रयोग की संकुचितता एवं व्यापकता को इस रीति से समझिये कि जब कोई भौतिक विज्ञाता आत्मा के स्वरूप का ज्ञान करने की चेष्टा करता है तो वह अपने भौतिक विज्ञान के सीमित क्षेत्र में ही अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है। इस प्रकार क्या वह आत्मा के स्वरूप को जान-पहचान सकेगा? कारण, उसकी बुद्धि समान रूप से प्रखर एवं तीव्र होते हुए भी सूर्य से दूरी पर अनुभव की जाने वाली किरणों की तरह उसकी बुद्धि का स्वरूप मन्द हो जाता है। इस स्वरूप की दृष्टि से ही कहा जाता है कि एक पुरुष की बुद्धि तीव्र है और दूसरे पुरुष की बुद्धि मन्द है। स्वभाव की दृष्टि से सूर्य के समान सब की बुद्धि प्रखर होती है, किन्तु एक विद्यार्थी परीक्षा में प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होता है, दूसरा तृतीय श्रेणी में तो

तीसरा अनुत्तीर्ण हो जाता है—ऐसा क्यों होता है? इससे बुद्धि की व्यापकता को समझिये। इसी से बुद्धि का अन्तर आंका जा सकेगा।

इस आत्मा रूपी सूर्य से जिसका जीवन जितना समीप होता है, उसकी किरणों उतनी ही प्रखर और उतनी ही व्यापक होती हैं, अतः उसका बुद्धि प्रयोग भी वैसा ही व्यापक एवं तीव्र होता है। किन्तु जिसका जीवन आत्म-स्वरूप की प्रतीति से जितना दूर होता है, उतनी ही उसकी बुद्धि दूरगामी किरणों की शिथिलता के समान मन्द महसूस होती है। बुद्धि प्रयोग की संकुचितता एवं व्यापकता इसी दूरी और नजदीकी का परिणाम है। बुद्धि वही होती है किन्तु उसका प्रयोग तीव्र या मन्द होता है तथा उस दृष्टि से उस बुद्धि का स्वरूप भी तीव्र या मन्द कहा जाता है एवं उसी के अनुरूप परिणाम भी सामने आता है।

### और किरणों के समान बनता है बुद्धि का स्वरूप

आत्मा-रूपी सूर्य से प्रतीति एवं अनुभूति के रूप में जो जितना नजदीक और जितना दूर रहता है, उसी के अनुसार उसकी बुद्धि का स्वरूप तीव्र और मन्द रूप में ढलता है। जब तक कोई जीवन आत्मा रूपी सूर्य के समीप रहता है, तब तक उसमें कार्यरत बुद्धि तीक्ष्ण एवं प्रखर बनी रहती है, जिसके कारण सभी समस्या के हेतुओं का सरलता पूर्वक ज्ञान किया जा सकता है तथा सहज भाव से उसका सुन्दर समाधान निकाला जा सकता है। यह निजात्मा रूपी सूर्य को पहचानने तथा उसकी किरणों का स्पर्श पाने की बात है। वैसा पुरुष यह कभी नहीं कह सकता कि किसी भी विचारणीय विषय में उसकी बुद्धि मन्दता से कार्य कर रही है या कि कुछ भी कार्य नहीं कर रही है।

हम कहते हैं कि सूर्यास्त हो गया है, लेकिन सूर्य कभी अस्त नहीं होता, वह पर्वतों की ओट में चला जाता है। उसी प्रकार आत्मा रूपी सूर्य भी कभी अस्त नहीं होता है—उसकी अपूर्व शक्तियाँ कभी नष्ट नहीं होती हैं। आत्मा भी कर्म रूपी पर्वतों की ओट में जाकर अपना तेज दब जाने से निस्तेज जैसी दिखाई देती है। इसे यों कह सकते हैं कि शुभाशुभ कर्मों के आवरण आत्म-स्वरूप को इस प्रकार ढक लेते हैं कि उसकी तेजस्विता दब और छिप जाती है। आत्मा रूपी सूर्य को तो अमरत्व प्राप्त होता है। एक शरीर को छोड़कर आत्मा दूसरा शरीर धारण कर लेती है, किन्तु आत्मा की अपूर्व शक्तियाँ कभी नष्ट नहीं होती हैं—वे कर्मावरणों के कारण आच्छादित बनी रहती हैं। शरीर परिवर्तन से आत्मा की अमरता का तथा आत्मशक्तियों की निरन्तरता का ज्ञान सामान्य व्यक्तियों को कठिनाई से ही होता है क्योंकि आत्म-स्वरूप की प्रतीति से बहुत

दूर रहने के कारण सामान्य लोगों की बुद्धि मन्दता से जकड़ी हुई रहती है। इस मन्दता के कारण उनकी बुद्धि का प्रयोग भी मन्द ही रहता है और उनका ज्ञान क्षेत्र सीमित बना रहता है। बुद्धि के स्वरूप का इसी रूप में निर्माण होता है।

### निपुण बुद्धि कर्म सिद्धान्त को समझती है

किसी की मृत्यु होने पर सामान्य व्यक्ति यह सोच लेता है कि अमुक मर गया है यानी कि उसका अस्तित्व समाप्त हो गया है। यह मन्द बुद्धि की बात है जो आत्मानुभूति से बहुत दूर रहती है। आत्मा के सन्निकट रहने वाली बुद्धि निपुण होती है और वह यह समझती है कि मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा की नहीं और इसी संदर्भ से वह कर्म सिद्धान्त को समझती है।

निपुण बुद्धि वाला पुरुष इस सत्य को जानता है कि आत्मा एक शरीर को छोड़कर अपने बंधे हुए आयुष्य कर्म के अनुसार मृत्यु के बाद दूसरा शरीर धारण कर लेती है। आत्मा तो इसमें वही रहती है—शरीर के माध्यम से उसका क्षेत्र बदल जाता है। क्षेत्र से तात्पर्य सम्बन्धित भूभाग से ही नहीं, बल्कि ज्ञानयुक्त सभी प्रकार की परिस्थितियों से है। इसके सिवाय भी यह आत्मा तब तक ही शरीर रूपी क्षेत्र से जुड़ी हुई रहती है, जब तक उसके साथ उसके बांधे हुए शुभाशुभ कर्म जुड़े हुए रहते हैं अर्थात् जब तक बद्ध कर्मों का सम्पूर्णतया क्षय नहीं हो जाता है।

कर्म बंधन के क्रियाकलापों से आत्मा जितनी दूर हटती है, उतनी ही कर्मों पर आधारित उसकी पराश्रयता घटती है। यों तब तक एक बार बंध जाने के बाद कर्म ही सब कुछ करने वाले बन जाते हैं। कर्मों की इस प्रक्रिया में निपुण बुद्धि वाला पुरुष यह कभी नहीं सोचता कि आत्मा पहले बांधे हुए कर्मों का फल पहले भोगेगी तथा फिर नये कर्म बांधेगी। मूल स्थिति यह है कि यह आत्मा वास्तविकता में कर्मों के अधीन नहीं है। कर्म उसके अधीन हैं। कर्मों का बंधन आत्मा की इच्छा एवं इच्छा के अनुसार मन, वचन, काया की क्रिया से होता है। यदि आत्मा न चाहे और वैसी क्रिया न करे तो क्या वैसा कर्म बंधन उसके हो सकता है? असल में कर्मों को आत्मा ही बुलाती है और आकर्षित करती है। यह कैसे होता है—इसको समझिये। एक व्यक्ति स्वतंत्र है और स्वस्थ-चित्त से बैठा हुआ है। वह उस समय में अपनी मनमरजी से भांग जैसा नशीला पेय पी लेता है। किसी ने उसे मजबूर नहीं किया कि वह भांग पीये ही। उसने अपनी इच्छा से भांग पी। जहां तक भांग पीने का सम्बन्ध था, उसकी इच्छा ने ही काम किया—किसी का कोई दबाव नहीं था। लेकिन जब भांग पी ली तो वह अपना असर तो दिखायेगी ही—उसे कैसे रोक सकते हैं? तब दूसरे आदमी उसे

पागलपन की हरकतें करते हुए देखते हैं तो यही कहते हैं कि वह नशे के अधीन हो रहा है। भांग पीने वाला अपने अधीन था या नशे के अधीन? कोई किसी की अधीनता पकड़ ले तो यह उसका खुद का दोष माना जायेगा। उसी तरह नशे का क्या दोष? वह तो जान-बूझकर पीने वाले का दोष है। हाँ, जो कोई भांग पी लेगा तो उसे उसकी लहरें तो गिननी ही पड़ेंगी। फिर भी पीने वाले को भांग के अधीन कहना गलत होगा, क्योंकि वह चाहे तो आगे से पूरी तरह भांग पीना छोड़ सकता है बल्कि चढ़ी हुई भांग को भी किन्हीं पदार्थों के प्रयोग से उतार सकता है। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जब वह चाहे। ठीक यही स्थिति कर्म के साथ की भी है। आत्मा को कर्म के अधीन कहना और मानना ऐसी ही भूल है। आत्मा तो स्वतंत्र होती है और वह चाहती है या वैसी क्रिया करती है तभी कर्म आते हैं। यानी कि कर्म आत्मा के बुलावे पर ही आते हैं और उससे सम्बद्ध बनते हैं।

### आत्मा कर्म के अधीन या कर्म आत्मा के अधीन?

अब गहराई से विचार कीजिये कि यह आत्मा कर्मों के अधीन हैं अथवा कर्म ही इस आत्मा के अधीन हैं? जैसे भांग ने जबरदस्ती पीने वाले आदमी को नहीं पकड़ा है। पीने वाला ही भांग के अधीन हो गया। असलियत में देखें तो पीने वाला व्यक्ति अधीन नहीं है। वह चाहे तो भांग को छोड़ सकता है और उसके असर से अलग हट सकता है। ऐसी ही अवस्था आत्मा को कर्म के अधीन कहने की बात की भी है। चाहे तो पहले के जन्म में कर्मों का बंध हुआ हो या कि इस जन्म में नये कर्म बांधे जा रहे हों, लेकिन इस बंध का कर्ता कौन? आत्मा ही तो है। सारी प्रक्रिया आत्मा ने ही की है।

आत्मा और कर्म बंध के इस तत्त्व को तथा इस आत्मा को कर्मों से छुटकारा दिलाने की प्रक्रिया को कौन समझा सकता है? कौन यह बता सकता है कि आत्मा कर्मों के अधीन नहीं हैं बल्कि कर्म ही इस आत्मा के अधीन हैं? और वह मार्ग कौन दिखा सकता है जिस पर चल कर आस्रव के द्वार बन्द किये जा सकते हैं तथा संवर की प्रक्रिया प्रारंभ की जा सकती है? वह कौन योग्य सहायक हो सकता है जो शान्ति की अभिलाषा रखने वाले साधक को अशान्ति की आग से निकल कर शान्ति के सुखमय प्रांगण में विचरण कर सकने की शक्ति प्रदान करता है? वह सच्चा और योग्य सहायक 'सुगुरु' होता है, जिसकी कृपा से ही साधक मनोयोग पूर्वक अपनी साधना में जुटता है तथा मार्गदर्शन का सहयोग पाकर अपने चरम उद्देश्य एवं लक्ष्य की दिशा में गति करता है। ये 'सुगुरु' होंगे निपुण अर्थ बुद्धि के स्वामी तथा उस प्रखर बुद्धि का प्रयोग करने में परम कुशल।

सुगुरु ही यह प्रबोध प्रदान करेंगे कि जैसी और जितनी भांग पी है, उसका यथोचित फल तो भुगतना ही पड़ेगा, लेकिन कर्म बंध के मामले में उदय में आने पर शुभाशुभ कर्मों का शुभाशुभ फल भुगतना पड़ता है। फिर भी उदय से पूर्व उन कर्मों को संयम और तप के कठिन पुरुषार्थ से क्षय भी कर सकते हैं। कहा जाता है कि जैसे कर्म किये, वैसे फल मिलेंगे, लेकिन भगवान् ने कहा है कि अगर मनुष्य निपुण बुद्धिधारी सुगुरु के सम्पर्क में आकर सन्मार्ग पर चलेगा तो उसके कर्म-बंध टूट सकते हैं।

### उदय के पहले ही कर्म क्षय का सत्य

भगवान् ने यह नहीं कहा है कि कर्मों के उदय में आने पर जैसा फल होगा, वह भोगना ही पड़ेगा इसलिये किसी प्रकार का पुरुषार्थ मत करो। महावीर प्रभु ने सदा पुरुषार्थ पर सर्वाधिक बल दिया है। और बताया है कि निपुण बुद्धि वाले योग्य सहायक के मार्गदर्शन में योग्य पुरुषार्थ किया जाये तो उदय में आने और फल भोग देने से पहले भी बंधे या बांधे हुए कर्म क्षय किये जा सकते हैं। वस्तुतः निपुण बुद्धियुक्त योग्य सहायक के मार्गदर्शन में समुचित पुरुषार्थ के साथ कौन-सा ऐसा कार्य है जो नहीं किया जा सकता है?

सकडाल पुत्र एक कुंभकार था—मिट्टी के बरतन बनाता था। इतना आरंभ-समारंभ करते हुए भी वह गोशालक का भक्त था। गोशालक की नीति होनहार की थी कि जो होना है, वही होगा। होनी को टाल नहीं सकते हैं। इसी नीति का गोशालक प्रचार करता था। भद्रिक लोग उसके इस प्रचार के बहकावे में आकर होनी की नीति को मान लेते थे। संयोगवश विचरण करते हुए महावीर प्रभु का वहां पधारना हो गया। प्रभु सकडाल पुत्र के बरतनों के घर पहुंच गये। गोशालक का भक्त होने के कारण प्रारंभ में तो सकडाल पुत्र ने प्रभु का सत्कार-सम्मान नहीं किया और श्रद्धा भाव भी नहीं दिखाया। वैसे ही उनके सान्निध्य में बैठ गया। प्रभु महावीर तो केवलज्ञानी थे, उन्होंने पूछा—अरे सकडाल पुत्र! ये बरतन किसने बनाये हैं? उसने उत्तर दिया जो बनने थे वे बन गये—मैंने तो कुछ नहीं बनाया है। तब प्रभु ने कहा—ठीक है, अभी अगर कोई डंडा लेकर यहां आवे और ये सारे बरतन फोड़ डाले तो तुम क्या करोगे? वह चौंका और बोला—ऐसा कैसे हो सकता है? और भला बरतनों को क्यों फोड़ेगा? प्रभु ने कहा—अरे, अभी तो तुम कह रहे थे कि ये बरतन मैंने नहीं बनाये हैं तो अब भी जो होना होगा, वह हो जायेगा। तुम चिन्तित क्यों होते हो? और सुनो जिस पत्नी के साथ जगत् साक्षी से तुमने विवाह किया है,

यदि उसके साथ कोई पर-पुरुष आकर बलात्कार करना चाहे तो उस समय तुम क्या करोगे? तब सकडाल पुत्र असमंजस में पड़ गया फिर भी तोतारटन्त नीति में बोला—ऐसा हो ही नहीं सकता है। प्रभु ने पूछा—जो होना होता है सो होता है तो फिर ऐसा भी हो सकता है। हो क्यों नहीं हो सकता? फिर तो सकडाल पुत्र निरुत्तर हो गया। उसे अनुभव हो गया कि अब तक जो उसने मान्यता बना रखी है, वह भूल भरी है।

तब प्रभु महावीर ने उसे प्रबोध दिया, सकडाल पुत्र! किसी भी कार्य को करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। पुरुषार्थ के बिना छोटे से छोटा काम भी बन नहीं सकता है। इसलिये होनहार की नीति को छोड़ो और पुरुषार्थ को पकड़ो ताकि जीवन में इच्छित उन्नति कर सको। उसने विस्तार से भगवान् की वाणी सुनी—उसके ज्ञान चक्षु खुल गये। उसी समय उसने भगवान् से बारह अणुव्रत स्वीकार किये तथा वह व्रतधारी श्रावक बन गया।

सकडाल पुत्र कुंभकार था और रोज कितनी ही भट्टियां लगाकर मिट्टी के बरतन बनाता व पकाता था। रोज इतने जीवों की हिंसा करने वाले को भी प्रभु महावीर ने महापापी नहीं कहा। उसे अल्पपापी बताया। इसका कारण उसका वह पुरुषार्थी जीवन था।

मनुष्य अपनी विकारपूर्ण बुद्धि के कारण किसी तथ्य को किसी भी रूप में समझ लेता है। आपके घरों में भी प्रतिदिन जो रसोई बनती है, उसमें भी कितने ही जीवों की हिंसा होती है या नहीं? अब कोई विकृत बुद्धि ऐसा कथन करे कि श्रावक जो रसोई बनाता है, वह भी एक तरह का कल्लगाह चलाता है तो क्या उसका कथन किसी भी कसौटी पर समुचित कहलायेगा? वास्तव में जो कल्लगाह चलाते हैं, क्या वे सच्चे श्रावक बन सकते हैं? ऐसा सोचना और बोलना वीतराग देव के वचनों और सिद्धान्तों का अवमूल्यन करना है। श्रावक और गृहस्थ तो अपना उत्तम उद्देश्य लेकर चल रहा है। रसोई करने के कार्य में उसने आरंभ-समारंभ की उतनी हिंसा की छूट रखी हुई है। जहां छः खंड के अधिपति भरत चक्रवर्ती के शासन का वर्णन है, उनके राज्य में तो कितना आरंभ-समारंभ होता था! अनेक कर्मचारियों के लिये कितने परिमाण में रसोई बनती थी? इतना सब कुछ होते हुए भी उनको महापापी नहीं कहा गया है। शान्तिनाथ भगवान् भी चक्रवर्ती थे। उन्होंने भी युद्ध किया—राज-काज चलाया और सब कुछ कार्य किया किंतु चक्रवर्ती पद का त्याग करके उन्होंने संयम ग्रहण किया। उनको भी महापापी नहीं कहा गया है। लेकिन आज का मानव इसमें अन्तर्निहित सत्य को नहीं समझ रहा है कि पुरुषार्थ की कैसी

महिमा है तथा सत्पुरुषार्थ के प्रयोग से जीवन का कितना शुद्ध रूपान्तरण किया जा सकता है? इस नासमझी का कारण यह भी है कि वह निपुण बुद्धिधारी योग्य सहायक की सहायता नहीं लेता है, अतः भ्रमित बना रहता है।

### निपुण बुद्धिधारी योग्य सहायक की सहायता

कर्म सिद्धान्त की गहराई एवं आत्म-स्वरूप की मौलिकता के रहस्य बिना सुगुरु की सहायता के समझे जाने कठिन हैं और इस समय में तो वीतराग वाणी का अर्थ विश्लेषण भी निपुण बुद्धिधारी योग्य सहायक की सहायता से ही समझा, माना और धारा जा सकता है। आत्म-विकास की यात्रा में सुगुरु के मार्गदर्शन के बिना सही रास्ता ढूँढना और सही रास्ते पर स्थिर गति से यात्रा करना सहज नहीं होता है। आध्यात्मिक जीवन में पल-पल पर क्रूर विकारों के आक्रमण होते रहते हैं जो साधक को प्रत्येक परीषद से पथ भ्रष्ट करना चाहते हैं, वैसे चलायमान संकट काल में सुगुरु का वरदहस्त ही हो सकता है जो साधक के चित्त को सद्भावना युक्त स्थिरता प्रदान कर सकता है तथा उसे निर्भय बनाकर मंजिल की ओर आगे बढ़ा सकता है। यह सुगुरु की कृपा का ही चमत्कार होता है कि साधक सदा पुरुषार्थी बना रहे तथा अपने कठिन पुरुषार्थ से राह की बाधाओं को दूर करता जाये तथा कर्मों के आवरणों को भी छेदता हुआ अपने मूल स्वरूप को प्रकाशित करता चले।

निपुण अर्थ बुद्धि वाले सुगुरु इस सहायता पर स्वयं कभी भी गर्व नहीं करते हैं अपितु अपने पवित्र कार्य में नम्र बनकर जुटे रहते हैं तथा साधकों एवं जिज्ञासुओं की ज्ञान-साधना की आवश्यकताओं की यथाशक्ति पूर्ति करते रहते हैं। गौतम स्वामी ने यह नहीं सोचा कि मुझे पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो गया है, अब मुझे कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है। वे तो निरन्तर जिज्ञासु बने रहे और भगवान् महावीर के सामने अपनी छोटी-छोटी शंकाएँ भी समाधान हेतु प्रकट करते रहे। उन्होंने अत्यन्त छोटे-छोटे प्रश्न भी भगवान् से पूछे इस विचार से भी कि भगवान् के मुख से समाधान सुनकर सामान्य जन भी अपने आत्म-विकास का सच्चा मार्ग जान सकें। निपुण अर्थ बुद्धि वाला सोचता है कि यह मेरी आत्मा ही सब कुछ करने वाली है। जो निकाचित कर्म पूर्व में मेरी आत्मा के साथ बंधे हुए हैं, उनका भुगतान मुझे अपने पुरुषार्थ के बल पर करना होगा। यह कार्य होनहार रूप में नहीं है बल्कि मेरे पुरुषार्थ पर आधारित है कि मैं अपने बंधे हुए कर्मों का उपशम और क्षय कर दूँ। वह स्वयं अपनी आन्तरिकता में पुरुषार्थ की उज्ज्वल ज्योति जलाये रखता है तथा उन सबको भी पुरुषार्थ की

ज्योति का प्रकाश बांटता है जो उसके पास अपनी साधना में योग्य सहायता प्राप्त करने के लिए पहुंचते हैं। निपुण-बुद्धिधारी सुगुरु स्वयं तिरते हैं और दूसरों को तिराते हैं। इसीलिये उनको तिरणतारण के जहाज की उपमा दी जाती है।

### निपुण बुद्धि का प्रयोग अपनावें और करें

भगवान् महावीर का वचन है कि निपुण बुद्धि से सोचने वाले की दृष्टि कभी एकांगी नहीं होती है। वह बुद्धि दसों-दिशाओं को देखने वाली तथा सभी पहलुओं से किसी भी तत्त्व या समस्या पर गूढ़ विचार करने वाली होती है। ऐसी व्यापक बुद्धि से वह समाज, राष्ट्र या सारे विश्व को देखता है, वहां के क्रियाकलापों को समझता है लेकिन उनमें स्वयं उलझता नहीं है। वह अपने जीवन को भी दो भागों में देखता है। पूर्व जन्म में उसने जो पुण्य उपार्जित किया है, उससे यह शरीर पिंड मिला है। अब वर्तमान में अगर अच्छे कर्म किये जायेंगे तो उसका कल्याण होगा। यह प्रक्रिया होनहार की नहीं है—अपने निज के पुरुषार्थ को सर्वोच्च महत्त्व देना है, जिन्होंने सारे संसार के कल्याण के लिये पवित्र सिद्धान्तों की प्ररूपणा की। उन्हीं श्रेष्ठ सिद्धान्तों को समझने के लिये आज निपुण अर्थ बुद्धिधारी योग्य सहायक के रूप में वह सुगुरु की हितकारी सहायता को अवश्य प्राप्त करें। इसमें सुगुरु के निपुण बुद्धि के प्रयोग को स्वयं गहराई से समझें, उस प्रयोग को अपनावें तथा वैसा बुद्धि प्रयोग करने के सामर्थ्य को अपने भीतर में भी जगावें।

ध्यान में रखें कि बुद्धि का सामर्थ्य सभी को प्राप्त है—उसी सोये हुए और विकृत बने सामर्थ्य को जगाने तथा सुधारने की समस्या है। इसी के लिये निपुण बुद्धिधारी सुगुरु की सहायता एवं निपुण बुद्धि प्रयोग की अपेक्षा रहती है। इसका मार्गदर्शन सुगुरु से ही आपको मिल सकेगा कि आप अनर्थकारी पाप को रोकें, निष्क्रिय होनहारवादी न बनें और अपने भीतर दबे हुए पुरुषार्थ को जगावें। यदि ऐसा किया जायेगा तो नवीन कर्म-बंध के निरोध के साथ पुराने कर्म-बंध भी टूट सकेंगे तथा आत्मा को शुद्धि और शान्ति प्राप्त हो सकेगी। इसके लिए निपुण बुद्धि का सम्बल अवश्यमेव ग्रहण करने की चेष्टा रखें।



## 21

## सहयोग साधना हेतु

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

किसी भी विशिष्ट कार्य को सम्पादित करने के लिये किसी विशिष्ट पुरुष के सहयोग की आवश्यकता होती है। वह विशिष्ट पुरुष उस विशिष्ट कार्य को सम्पन्न कराने में निपुण और प्रवीण हो, उसमें उत्साह, लगन और निष्ठा हो तथा वह अपने बुद्धि प्रयोग से कार्य में आने वाली सभी प्रकार की बाधाओं को दूर करने में सक्षम हो। ऐसा निष्ठावान एवं सामर्थ्यवान पुरुष ही विशिष्ट रूप से सहयोग प्रदान कर सकता है। वह सहयोग भी वैसे ही उच्च धरातल पर होता है। वह सहयोग सन्निष्ठा से ओत-प्रोत बना रह कर स्वयं के जीवन में भी श्रेष्ठ मूल्यों को स्थान देता हुआ समता के मार्ग पर चलता है।

सहयोग का अर्थ होता है साथ रह कर सहायता देना। इससे स्पष्ट है कि सहयोग की प्रक्रिया में एक का अनेक से सम्बन्ध जुड़ता है। एक के द्वारा अनेक के साथ अथवा अनेक के द्वारा एक के साथ सहयोग होने पर ही सहयोग की क्रिया आरंभ होती है। किसी के भी मन में सहयोग की भावना क्यों जन्म लेती है? जब कोई विचारवान पुरुष अपने अन्तःकरण में किसी भी विषय पर गंभीर चिन्तन करता है तो नाना प्रकार के विचारों की उथल-पुथल में कई बार वहां भावों का संघर्ष उत्पन्न होता है और परिणामस्वरूप दो या कई प्रकार के भावों के बीच में विषमता की स्थिति खड़ी हो जाती है। ऐसी विचार-विषमता में जो सभी विसंगतियों को समाहित करके अपनी विचार प्रणाली को स्वस्थ एवं सुव्यवस्थित बना लेता है, वह पुरुष दूसरे चिन्तकों की विचार-विषमता को दूर करके उन्हें सुव्यवस्थित विचार प्रणाली में गति करने की सहायता दे सकता है। किन्तु इस रूप में सहायता करने का सामर्थ्य विरले पुरुषों में ही उपलब्ध होता है। विचार साम्यता की सहायता से ही आचार-साम्यता में सहायता दी जा सकती है। इसी कारण विशिष्ट सहायक की विशिष्टता उल्लेखनीय होती है और

साधकों की साधना की सफलता के हेतु ऐसे विशिष्ट पुरुषों के विशिष्ट सहयोग की सदा अपेक्षा बनी रहती है।

### साधकों की चिन्तन प्रणाली में सहयोग

सामान्य रूप से सभी व्यक्ति चिन्तन कर सकते हैं, किन्तु चिन्तन के उपसंहार के रूप में सही निर्णय विरले व्यक्ति ही लेने में सक्षम होते हैं। आज भी कई विचारवान व्यक्ति आपस में मिल-जुलकर जीवन निर्माण के विषयों पर सद्भावना पूर्वक सोचते हैं और शान्ति की अभिलाषा भी रखते हैं। इस प्रकार के संयुक्त विचार विमर्श के दौर में वे एक दूसरे के सहयोगी भी बन सकते हैं। किसी भी विचार विमर्श में संशोधन देने वाले के प्रति संशोधन लेने वाला यदि सद्भाव से उस समुचित संशोधन को स्वीकार कर लेता है तो ऐसा पारस्परिक सहयोग अभिवृद्ध होता हुआ धीरे-धीरे सामाजिक स्वरूप ग्रहण कर लेता है। यह सहयोग सामूहिक बन जाता है। संघ, समाज या सम्प्रदाय आदि भी एक प्रकार के समूह होते हैं। इन समूहों में अलग-अलग प्रसंगों से अलग-अलग विषयों पर चिन्तन होता है। इस रूप में एक सम चिन्तन प्रणाली का निर्माण होता है।

भगवान् महावीर स्वामी ने स्वयं के भीतर का चिन्तन करके अपने अन्तःकरण में एक विशुद्ध विचार प्रणाली को जन्म दिया। वे तो जन्मजात विचक्षण और विलक्षण पुरुष थे अतः उनके लिये किसी के विशिष्ट सहयोग की अपेक्षा नहीं रही और उसी चिन्तन प्रणाली को उन्होंने परम समुन्नत बनाकर अपनी साधना के प्रभाव से केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली। जिनके मन में जब तक विकारों का अंधड़ चलता रहता है और विचारों में विकृति बनी रहती है तब तक उन विकारों को नष्ट करने के लिये किसी सुव्यवस्थित चिन्तन प्रणाली तथा विशिष्ट पुरुष के सहयोग की भी आवश्यकता रहती है। महावीर ने इसी दृष्टिकोण से अपने परम ज्ञान में समूची स्थिति का अवलोकन एवं विश्लेषण किया तथा चार तीर्थों की स्थापना की। ये चार तीर्थ हैं—साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका। किसी भी एक व्यक्ति से समूह नहीं बनता है तथा उसी प्रकार तीर्थ का निर्माण भी नहीं होता है। सभी सन्त अपने जीवन में एक साथ वीतराग का स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकते हैं, परन्तु वे एक दूसरे के साथ विचार-विमर्श करके एवं परामर्श प्राप्त करके भगवान् के बताये हुए मार्ग को भली प्रकार से समझ सकते हैं तथा उसे अपने जीवन में स्थान देकर स्व-पर कल्याण को सुगम अवश्य बना सकते हैं। यही वास्तव में चार तीर्थों की स्थापना का प्रमुख दृष्टिकोण है।

चार तीर्थों का सामूहिक सहयोग आज भी स्वस्थ एवं सुव्यवस्थित चिन्तन प्रणाली को प्रोत्साहित करते हुए साधना पक्ष को सुदृढ़ बना सकता है। लेकिन आज चार तीर्थों की जो स्थिति है, वह विचारणीय बन गई है। आज सम्प्रदाय का दुरुपयोग हो रहा है—शब्द का अनर्थ किया जा रहा है। सामूहिक विचार प्रणाली का जो दृष्टिकोण इसमें निहित किया गया था तथा चिन्तन की उत्कृष्टता का जो वायुमंडल निर्मित किया गया था—उसका लोप होता जा रहा है। ऐसी अवस्था में सहयोग का प्रश्न भी मन्द हो गया है।

### साधकों की सामूहिक सहयोग व्यवस्था

अपनी संयम मर्यादा के अनुसार सही विचारों का आदान-प्रदान करने वाले साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं का तीर्थ या संघ के रूप में एक सहयोगी समूह बनता है। यह एक प्रकार से एक दूसरे को सद् विचार देने में सहयोग करता है। परम पद की दिशा में गति करने वाले साधकों का सहयोगी बनने का कार्य किया जाये तो वह मोक्ष-मार्ग का सहायक होता है। कल्पना करें कि दस साधक एक साथ बैठकर अपने किसी प्रश्न या विषय पर संयुक्त रूप से विचार विमर्श करते हैं और उसके दौरान कोई अन्तराय आ जाये अथवा किसी रूप में कुछ असन्तुष्टि का कारण बन जाये तो उसे समाप्त करने एवं विचार-विमर्श का निर्विवाद रूप से संचालन करने के लिये संघ के प्रमुख या अध्यक्ष या संचालन कर्ता के शुभ सहयोग की आवश्यकता होती है। उस सहयोग से उस संघ, सम्प्रदाय या समूह के बीच एकचित्ता पैदा हो जाती है तथा सामूहिक चिन्तन प्रणाली एवं सहयोग व्यवस्था में निरन्तरता बनी रहती है। साधकों की सामूहिक सहयोग व्यवस्था का यही अन्तर्निहित लक्ष्य होता है।

महावीर स्वामी ने साधकों की ऐसी सामूहिक सहयोग व्यवस्था का सूत्रपात किया था। अपने निर्वाण के अन्तिम समय में उन्होंने विविध सिद्धान्तों के उपदेशों तथा संघ के कार्यों के विषय में विस्तार से अपने गणधरों को समझाया एवं अपना समस्त उत्तरदायित्व गणधर श्री सुधर्मास्वामी को सौंप दिया। उनका यह समीचीन निर्णय था कि श्री सुधर्मास्वामी उनके सही सहायक साबित होंगे तथा बाद में उनके सिद्धान्तों के अनुरूप चतुर्विध संघ का जीवन चलायेंगे। उन्हें इस बात का विश्वास था कि वे उनके द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों को सम्यक् रूप में जनता के समक्ष रखेंगे तथा जनता की शंकाओं के समुचित समाधान प्रस्तुत करेंगे। सुधर्मास्वामी ने भी आचार्य पद ग्रहण करके चतुर्विध संघ के चारों तीर्थों तथा साधकों को अपना परामर्श

दिया तथा आत्मकल्याण का मार्ग सुझाया जो महावीर स्वामी के उपदेशित सिद्धान्तों पर अपनी अमिट आस्था रखते थे। इस प्रकार उन्होंने सम्यक् भाव से अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए अपना आत्मकल्याण साध लिया और तब से ही चतुर्विध संघ के रूप में साधकों की सामूहिक सहयोग व्यवस्था चलती हुई आ रही है।

इस प्रकार के सहयोगी उद्देश्य को लेकर जब तक कोई समूह चलता है तो वह परस्पर के आत्मकल्याण में सहायक बनता है। ऐसी जो सहयोगी व्यवस्था क्रमिक रूप से एक समूह के रूप में ढल जाती है, उसी से संघीय अथवा साम्प्रदायिक व्यवस्था का उदय होता है। इस साम्प्रदायिक उदय की पृष्ठभूमि में सद्भाव, सहयोग तथा सुव्यवस्था का पवित्र उद्देश्य ही होता है। अतः सम्प्रदाय शब्द जैसा कि वर्तमान संदर्भ में समझा जाने लगा है, किसी हीन भावना का द्योतक नहीं है। यह संगठन की व्यापक सहयोगी व्यवस्था का प्रतीक माना जाता रहा है।

### साधना की जीवन ज्योति का प्रकाश

तीर्थंकर देवों ने कहा है कि इस संसार के घेरे के बीच में भी मनुष्य अपनी आत्मा की ज्योति को प्रकट कर सकता है। इसलिये उन्होंने साधकों को निर्देश दिया कि आप स्वयं अनुशासन-बद्ध रहें तथा शासन के प्रति श्रद्धा रखने वालों के मन में सद्भाव बनाये रखें ताकि आप भी अपनी आत्म-ज्योति को प्रकट कर सकें तथा अन्य साधकों को भी अपनी जीवन-ज्योति के प्रकाश से उनकी आत्म-ज्योति को प्रकट करने में योग्य सहयोग दे सकें। सहयोग की यह ऐसी प्रक्रिया है जिससे स्वयं को भी शान्ति का अनुभव होता है तथा दूसरे साधक भी उससे शान्ति का रसास्वादन कर सकते हैं।

आत्म-ज्योति को प्रकट करने की साधना के संदर्भ में देखें तो ऐसा लगता है कि आज के मनुष्य का बड़ा ही विचित्र ढंग चल रहा है। वह साधना की सहयोगी व्यवस्था से दूर भौतिक सत्ता-सम्पत्ति के संकुचित घेरों तथा विकृत विचारों के तंग दायरों में कैद हुआ पड़ा है। आज व्यक्ति अपनी झूठी और भ्रमपूर्ण प्रतिष्ठा को बनाने के लिये जिस प्रकार के छोटे-छोटे घेरे बना रहा है, उन्हें देख कर लगता है कि भविष्य के आत्म-विकास के लिये जैसे उसने चिन्तन करना ही छोड़ दिया है। ये छोटे-छोटे घेरे ओछी स्वार्थपूर्ति के उद्देश्य से बनाये जाते हैं जिनमें अधिकतर स्वार्थी और चरित्रहीन व्यक्तियों का ही साथ होता है। वस्तुतः जो सर्वहित की भावना रखते हैं तथा नियमों एवं मर्यादाओं का

पालन करते हुए चारित्र-सम्पन्न बनते हैं, वे कभी भी ऐसे छोटे और संकुचित घेरों में रहना पसन्द नहीं करते हैं। यह अवश्य है कि विशिष्ट कार्यों एवं साधना की सम्पन्नता के लिए भी घेरे होते हैं किन्तु वे घेरे तंग नहीं, बल्कि उदार और व्यापक होते हैं।

साधना की सम्पूर्ति एवं शान्ति की शोध के लिये भी एक सहयोगी समूह तथा योग्य सहायक की आवश्यकता होती है। उपरोक्त प्रार्थना में कवि संकेत देते हैं कि शान्ति का गूढ़ स्वरूप समझने के लिये योग्य सहायक का सहयोग लेना ही चाहिये। वह आध्यात्मिक जीवन का ही प्रतिपादन है। इस आध्यात्मिक जीवन की उन्नति का ही उद्देश्य लेकर संघों या सम्प्रदायों का निर्माण किया जाता है तथा उन पर श्रद्धा रखने का निर्देश दिया जाता है। साधक जब अपने संघ और सम्प्रदाय के प्रति निष्ठा रखता है, तभी उसे वांछित सहयोग भी प्राप्त होता है। इस पारस्परिक सहयोग व्यवस्था से ही शान्ति के स्वरूप का ज्ञान एवं उसका अनुसंधान संभव होता है।

प्रभु महावीर स्वामी ने चार तीर्थों की स्थापना करके एवं संघपति के रूप में अपने उत्तरदायित्व को गणधर श्री सुधर्मास्वामी को सौंप करके अपनी अन्तिम समय की देशना में साधकों को यही सन्देश दिया है कि साधना की पारस्परिक सहयोग व्यवस्था को जीवन्त बनाये रखा जाना चाहिये ताकि चारों तीर्थ स्व-पर की उन्नति के हित में आपस में विचार-विमर्श तथा परामर्श की परम्परा बनाये रखें। यही नहीं, श्री सुधर्मास्वामी के रूप में उन्होंने सुगुरु की प्रतिष्ठा की और आचार्यत्व की श्रेणी बनायी कि ये संघपति के रूप में संघ एवं साधकों का मार्गदर्शन करेंगे। साधकों को इसी संदर्भ में निर्देश दिये गये कि वे अपने संयमी जीवन में दृढ़तापूर्वक चलें एवं उसके लिये नियमानुसार प्रासुक, निर्दोष, मित एवं सात्त्विक आहार ही ग्रहण करें।

संयमी जीवन एवं सिद्धान्तों की सुरक्षा तथा साधना द्वारा आत्म-ज्योति के व्यक्तीकरण की दृष्टि से आध्यात्मिक सम्प्रदाय की रचना साधकों के लिए हितकारी सिद्ध होती है और उससे ही निपुण अर्थ बुद्धि वाले योग्य सहायक भी सुलभ हो जाते हैं। संघ या सम्प्रदाय का भी घेरा जरूर है लेकिन यह घेरा संकीर्ण नहीं है, साधकों को सहयोग देने के व्यापक उद्देश्य के कारण इसका महत्त्व बहुत विशाल होता है। अपने अनुकर्ताओं की गहरी निष्ठा की वजह से महावीर प्रभु का यह संघ या सम्प्रदाय अपने व्यापक अर्थ में आध्यात्मिक जीवन एवं आत्म-ज्योति के विकास का प्रकाश केन्द्र बना हुआ है।

## साधना जीवन को संशोधित बनाने की

महावीर स्वामी ने कहा है कि जो मेरे सिद्धान्तों को अंगीकार करके दृढ़ श्रद्धा के साथ उन पर चलता है, वही साधक आध्यात्मिक तत्त्व को जानकर शान्ति के वास्तविक स्वरूप की पहचान कर सकता है। यथार्थ रूप में यह साधना जीवन को संशोधित बनाने की साधना होती है। जीवन का शुभ संशोधन करना भी एक वस्तु विषय है जिसके अनुकर्ता कई पुरुष हो सकते हैं। जब इन पुरुषों का समूह एक सहयोगी संघ या सम्प्रदाय बनाता है तो कहने को उसे भी एक घेरा कह सकते हैं किन्तु अपने कार्य और लक्ष्य के अनुसार वह समूह अतीव महत्त्वपूर्ण होता है। इस समूह की एकता का आधारस्तंभ यह होता है कि सभी तीर्थंकर देवों की आज्ञाओं का पालन करने में एकनिष्ठ होते हैं। उनके विपरीत किसी को आचरण नहीं करना चाहिये। ऐसे संघ या समाज के प्रति वंचना का आचरण वही कर सकता है, जो निजात्मा के साथ भी प्रवंचना का आचरण कर रहा हो क्योंकि संघ सर्वात्माओं का सहयोगी होने से सबका रक्षक भी होता है तथा सबको अपने जीवन को संशोधित बनाने की साधना में सामूहिक रूप से सहयोग देता है।

आत्म-ज्योति के विकास की साधना में सहयोगी व्यवस्था का निर्माण करने वाले चतुर्विध संघ जैसे संघों या सम्प्रदायों को 'सर्च लाइट' की उपमा दी जा सकती है कि जिसके प्रकाश के घेरे में साधक आत्माएँ अपने जीवन-विकास की साधना को सफल बनाती हैं। प्रकाशमान से प्रकाशमान सर्च-लाइट का भी आखिर विशाल ही सही—एक घेरा तो होता ही है। तो वैसा ही प्रकाशमान घेरा समझिये महावीर प्रभु के चतुर्विध संघ का—जो भव्य आत्माओं के क्रमिक जीवन-विकास का योग्य सहायक बनता है। इसलिये सभी लोग चतुर्विध संघ के संघपति की आज्ञानुसार चलें तो जीवन को संशोधित बनाने की साधना में सफलता प्राप्त कर सकते हैं तथा सच्ची शान्ति की उपलब्धि भी पा सकते हैं।

संघ में सहयोग का जीवन्त भाव बना रहे—इस दृष्टि से मर्यादा निर्धारित की हुई है कि साधु एकाकी नहीं रहे—कम से कम भी दो का सिंघाड़ा तो हो ही। दो से ज्यादा साथ में रहें तो बहुत अच्छी बात है। क्योंकि साधुता के नियमों का पालन एक दूसरे की साक्षी से व्यवस्थित रूप से हो सकता है। एक दूसरे की निगाहदारी से जीवन को संशोधित करने व जांचते रहने के उपायों का प्रयोग भी सुगमतापूर्वक हो सकता है। यदि साधु अकेला विचरण करता है तो किसी और की साक्षी नहीं होने से वह कई बार अपने जीवन में छाती हुई शिथिलता

एवं विकृतियों को रोक पाने में अक्षम हो जाता है। फिर सामूहिक वातावरण के प्रभाव से मुक्त होने के कारण उसे अपने संयम में बाधक मन की चंचलता पर रोक लगाने में भी भारी कठिनाई हो सकती है।

इस सम्बन्ध में रथनेमि मुनि के साधना भंग का उदाहरण शिक्षादायक है। भगवान् नेमिनाथ के लघुभ्राता मुनि रथनेमि एक गुफा में साधना कर रहे थे। उस समय संयोगवश वर्षा से बचने तथा वर्षा में भीगे वस्त्रों को सुखाने के लिए साध्वी राजमती भी गुफा को निर्जन जानकर भीतर प्रविष्ट हो गई। रथनेमि ने पैरों की आहट सुनते ही उधर देखा और उनका मन साधना से चलायमान हुआ। राजमती को उनकी उपस्थिति का अंधकार के कारण कोई भान नहीं हुआ। जिधर राजमती खड़ी थी रथनेमि उधर आगे बढ़ने लगे। उनको देखते ही साध्वी ने कछुए के समान वस्त्रों में अपने अंग-प्रत्यंगों को समेटा और वह सावधान हो गई। साहसपूर्वक उन्होंने रथनेमि की वासना वृत्ति की भर्त्सना की और उपदेश दिया कि जिन भोग्य पदार्थों का वमन (त्याग) करके तुम मुनि बने हो, उसी वमन को फिर से अपनी जिह्वा पर रखने की इच्छा करने से क्या तुम्हें लाज नहीं लग रही है? धिक्कार है तुम्हें कि तुम्हारे मन में ऐसा कुविचार पैदा हुआ। तब रथनेमि सावचेत हुए।

यह नहीं है कि एकाकी विचरण करने वाले साधु दृढसंयमी नहीं होते, किन्तु छद्मस्थ अवस्था में इस बात की आशंका बनी रहती है कि एकाकी विचरण में अपनी वृत्तियों के एकाएक विकारपूर्ण बन जाने पर उन पर कठिन नियंत्रण का कोई आधार नहीं मिलेगा। इसलिये एकल विहारी साधु के पथ भ्रष्ट हो जाने की संभावना रहती है। तभी तो साधु के एकाकीपन का निषेध किया गया है। इसमें मुख्य दृष्टिकोण जीवन के संशोधन का ही है। यह तो सभी जानते हैं कि यह चंचल मन कभी-कभी इतना दुर्दान्त हो जाता है कि दीर्घकाल की साधना एक पल में मिट्टी में मिल जाती है और जीवन का प्राप्त संशोधन तुरन्त नष्ट हो जाता है। इसलिये साधना और जीवन के संशोधन की सुरक्षा के लिये ऐसे वातावरण की रचना आवश्यक होती है कि जिसमें सुरक्षा के टूटने का खतरा बहुत कम रह जाता है। यह वातावरण है सहयोग व्यवस्था से निर्मित होने वाला प्रभावशाली वातावरण जो चतुर्विध संघ की सुव्यवस्था का आधार है। चूंकि इस सारी सुव्यवस्था का मूल उद्देश्य है वर्तमान जीवन को संशोधित बनाने की साधना को सफलतापूर्वक सम्पन्न करना, अतः मूल उद्देश्य की सुरक्षा सदा ध्यान में रहनी चाहिये।

## साधना की सुरक्षा ही जीवन की सुरक्षा है

इस जमाने में कई उदाहरण सुनने को मिलते हैं कि किन्हीं एकलविहारी साधुओं पर विकारों के आरोप लगाये जाते हैं। इससे साधु जीवन की और साधना की दयनीय दशा बनती है। आज उस दुर्दशा की हालत विचारणीय बन गई है। एक साधक सोचने लगा कि मैं किसी एकान्त गुफा में जाकर साधना करूँ ताकि वह निर्बाध रहे। ऐसी सुदूर गुफा की तलाश करके उसने वहाँ अपनी साधना शुरू कर दी। उसका नित्य-क्रम बन गया कि वहाँ मिलने वाले वृक्ष की छाल को चाट लेता, फिर साधना में बैठ जाता। धीरे-धीरे आस-पास के गांवों में चर्चा फैल गई कि गुफा में बहुत बड़े महात्मा साधना कर रहे हैं। तब लोग दर्शनों के लिये आने लगे। यह चर्चा उस क्षेत्र के राजा तक भी पहुँची। उसमें भी दर्शन करने की उत्सुकता जागी किन्तु अनुभवी प्रधान ने राजा को कहा—वह महात्मा, मुझे स्थिरचित्ती और संयमी नहीं मालूम होता है क्योंकि यदि ऐसा होता तो किसी भी संघ या सम्प्रदाय के सहयोगमय वातावरण में रह कर ही अपनी साधना करता। इसलिये वह ढोंगी मालूम होता है। राजा ने उत्तर दिया—प्रधान जी! इतनी बड़ी संख्या में रोज लोग उन महात्मा के दर्शन करने के लिये जा रहे हैं तो हमको भी उनके बारे में कोई भी निर्णय उनसे मिलकर ही निकालना चाहिये, वैसे ही नहीं।

प्रधान जी ने अपनी सहमति प्रकट की, किन्तु महात्मा जी की जांच-परख का अपना प्रयोग भी उन्होंने चालू कर दिया। एक समझदार पर चालाक बहिन को तैयार करके उसे समझा दिया गया कि उस साधक का किस प्रकार परीक्षण करना है। वह साधक साधना में बैठने से पहले और बाद में उस वृक्ष की छाल को चाटा करता था। वह बहिन भी दर्शनार्थी भीड़ में वहाँ पहुँच गई। वह प्रतिदिन दोनों बार साधक द्वारा वृक्ष की छाल चाटने से पहले उस छाल पर शुद्ध मधु का लेप करने लगी। लेप करके वह दूर बैठी देखती रहती और साधक को तब उस छाल को चाटने में ज्यादा आनन्द आने लगा सो बहुत समय तक उसे वह चाटता रहता। वह बहिन इस तरह गुफा के पास में ही रहने लगी कि साधक को विदित नहीं हो सके। शहद चाटते-चाटते जब साधक की लालसा को बढ़ते हुए उस बहिन ने देखा तो प्रतिदिन वह उस पर नये-नये स्वादिष्ट एवं मिष्ट-व्यंजनों का लेप करने लगी। फिर तो साधक की तृष्णा बुरी तरह से बढ़ने लगी। वह दिन में कई-कई बार बाहर आकर बार-बार छाल को चाटने लगा, जिस पर वह बहिन बार-बार नया लेप कर देती थी।

अवसर देखकर एक दिन उस बहिन ने उस साधक से कहा—आप छाल को चाटने के लिये दिन में कई-कई बार उठकर आते हैं और जो नया-नया



स्वाद पाते हैं, वह छाल का नहीं है यह तो आप जान गये होंगे, किन्तु उन नये-नये स्वादिष्ट पदार्थों का लेप मैं ही किया करती हूँ। अब आपको बार-बार बाहर आने की तकलीफ न उठानी पड़े— इसके लिये मेरा निवेदन है कि पास में ही मेरा घर है, आप वहीं पधारें और मन भरकर स्वादिष्ट पदार्थों का आनन्द उठावें। उस बहिन ने यह आग्रह इतनी प्रेमपूर्ण मुद्रा में किया कि साधक उसे टाल नहीं सका। हुआ यह कि साधक उसके मोह जंजाल में फंस गया। वह बहिन कोई पतिव्रता नारी नहीं थी, धन के लालच से ही प्रधान द्वारा बताये गये काम के लिये ही वहां पहुंची थी। साधक की कामवासनाओं का जाल ऐसा फैला कि दोनों के प्रेम सम्बन्ध से एक बालक का जन्म भी हो गया।

एक दिन उस बहिन ने शहर में लौट जाने की बात साधक से कही तो वह विह्वल हो उठा कि उसके बिना वह एक पल भी नहीं रह सकेगा। तब वेश्या ने तो बालक को उठाया और उसका पालना साधक के सिर पर रखा। फिर दोनों शहर की ओर चले। वे जब महल के नीचे से गुजर रहे थे तो ऊपर राजा और प्रधान दोनों गवाक्ष में बैठे वार्ता कर रहे थे। तभी प्रधान ने राजा से कहा— आप जिस महात्मा के दर्शन करने के लिये जाने को उत्सुक हो रहे थे, देखिये— वे नीचे जा रहे हैं। राजा ने वह दृश्य देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। इतना बड़ा महात्मा और ऐसी पथ-भ्रष्टता— यह कैसे हुआ? प्रधान ने सारी बात बतायी तो राजा चिन्तन में डूब गया। क्या ऐसी बात पर आपका भी चिन्तन करने का मन होता है या नहीं? गहराई से सोचिये कि मोहग्रस्तता की ऐसी परिणति को जानकर ही महावीर स्वामी ने साधुचर्या का विधान किया। साधु या साध्वी को अकेले विहार-विचरण नहीं करना चाहिये तथा न ही किसी स्थान पर अकेले रहना चाहिये। एकांगी रहने पर ऐसे कई प्रसंग घटित हो सकते हैं और दुर्भाग्य की बात यह है कि आज घटित होते हैं।

साधना को यदि इस रूप में असुरक्षित छोड़ देंगे तो वह साधना ही भ्रष्ट नहीं होगी बल्कि सारा जीवन ही बर्बाद हो जायेगा। अतः भगवान् द्वारा निर्देशित साधु मर्यादाओं को सुरक्षित रखने एवं नियमपूर्वक पालने में ही साधना की सुरक्षा है और जिसकी साधना सुरक्षित हो जाती है उसकी जीवनोन्नति भी सुरक्षित बन जाती है।

### सहयोगी साधना की मौलिकता अक्षुण्ण रहे

तीर्थंकर भगवान् ने साधु-साध्वियों के लिये पालनीय पांच महाव्रत बताये हैं— अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। जो साधक पूर्ण मौलिकता

के साथ इन महाव्रतों का सम्यक् पालन नहीं करता है, वह भगवान् की आज्ञा का अवमूल्यन करता है। उसे चोरी भी कह सकते हैं क्योंकि उससे महाव्रतों का मूल रूप विकृत बनता है। इससे वह अपनी आध्यात्मिक साधना से धीरे-धीरे पतित हो जाता है। सुदेव, सुधर्म एवं सुगुरु की आज्ञाओं का उल्लंघन करना या उन्हें भंग करना—यह भावी पतन का लक्षण है।

इस जमाने के भाई-बहिन संघ या सम्प्रदाय के इन संरक्षक घेरों को समझ नहीं पा रहे हैं। वे सम्प्रदाय महिमा को सम्प्रदायवाद के नाम से जानने लगे हैं क्योंकि सारे राजनीतिक आदि वातावरण में हिन्दू-मुसलमान आदि के नाम से यह सम्प्रदायवाद का नाम गढ़ लिया गया है जो सार्वजनिक घृणा का शब्द बन गया है। धर्म के नाम से जो झगड़े और दंगे होने लगे हैं, ये अस्वाभाविक हैं, क्योंकि जहां मानवता नष्ट हो जाती हो, वह भला धर्म ही क्योंकर कहलाए? जहां धर्म के नाम पर झगड़ा-दंगा होता है, वह धर्म ही नहीं है। जहां आत्म-ज्योति को प्रकट करने वाली साधना का शुद्ध रीति से विकास किया जाता है, वही प्रकाश का घेरा सच्चे अर्थ में संघ या सम्प्रदाय कहला सकता है।

संघ या सम्प्रदाय की सहयोगी व्यवस्था का यह सुफल सामने आना चाहिये कि साधु-साध्वी अपने पंच महाव्रतों की मूल भावनाओं का पूरी निष्ठा के साथ पालन करें। संघ या सम्प्रदाय का इस रूप में एक दृढ़ सम्बल बनना चाहिये। सामूहिक एकता एवं सहयोग के इस साधन को कभी भी तोड़ने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। यही नहीं, सहयोगी साधना तथा इस साधना को सम्बल देने वाले संघ आदि की मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने का भी निरन्तर सत्प्रयास किया जाता रहना चाहिये। जरा-सी मौलिकता नष्ट होती है तो उस साधक की तरह फिर पतन की कोई सीमा नहीं रहती है। किसी भी साधक या संघ के मूल गुणों की सुरक्षा हो—उनकी विशुद्धता अक्षुण्ण रहे—यह प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का पहला कर्तव्य होना चाहिये।

कभी-कभी भद्रिक लोग कह देते हैं कि परोपकार के लिये मूल गुणों में थोड़ा-सा दोष भी लग जाये तो क्या हानि है? ऐसी निरर्थक बात वे लोग ही करते हैं जिन्हें निपुण बुद्धिधारी सुगुरु की सम्यक् सहायता उपलब्ध नहीं होती है, वरना समझदार लोग जानते हैं कि यदि आज किसी बांध की मजबूत पाल का एक कण भी खिसका है तो कल वह पाल अवश्य टूट सकती है। इस कारण मौलिकता की कठिन सुरक्षा परमावश्यक है। इसको एक दृष्टान्त से समझ लें—एक सरकारी कानून है कि प्रत्येक व्यापारी को अपनी दुकान पर मूल्य सूची टांगनी होगी। समझें कि एक व्यापारी ने ऐसा नहीं किया। उसे पकड़ा गया और

उसने स्वीकार भी कर लिया कि उसने चीजें कालेबाजार में बेची है लेकिन उसने यह भी कहा कि उसने सारा का सारा मुनाफा परोपकार में लगा दिया है तो क्या सरकारी कानून उसे माफ कर देगा? विकार के साथ परोपकार! इसका कहीं भी कोई तालमेल नहीं होता है।

धर्म का प्रचार तभी होता है जब निपुण बुद्धि के साथ विचार-विमर्श हो तथा सुगुरु की संरक्षकता का संयोग मिले। इसके साथ ही सहयोगात्मक व्यवस्था इस पवित्र रीति से संचालित हो कि साधकों को अपनी साधना सफल बनाने में पूरा सम्बल मिले। समुद्र की तरह धर्म की मर्यादाओं का भी निष्ठापूर्वक निर्वाह किया जाना चाहिये और पारस्परिक साधना सहयोग के वातावरण को परिपुष्ट बनाया जाना चाहिये ताकि धर्म का प्रभावशाली रीति से प्रचार और विस्तार हो सके।

दिनांक 19.10.86

(जलगांव)

## भूमिका ब्रह्मचर्य की

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

शान्ति के पिपासु और शान्ति की चाहत रखने वाले मानव को सबसे पहले शान्ति के आधार को खोजना चाहिये। शान्ति के शुद्ध स्वरूप की पहचान की जाये उससे पहले यह भी देख लेना चाहिये कि उसके लिये भी पूर्व योग्यता क्या हो? यह सोचना इस हेतु आवश्यक है कि वह पूर्व योग्यता किस प्रकार प्राप्त की जाये? किसी भी वस्तु को देखने के लिये उस वस्तु को देखने योग्य सामग्री की तैयारी भी करनी पड़ती है। कुएं का पानी कैसा है—यह जानने के लिए भी उसके लिये आवश्यक उपकरण—रस्सी, लोटा या अन्य साधन जुटाने पड़ते हैं। किन्तु समझें कि उपकरण के रूप में लोटे की बजाय चलनी का उपयोग किया जाये तो क्या कुएं का पानी बाहर निकाल कर देखा जा सकेगा? छलनी जैसा छिद्रों वाला उपकरण निरर्थक ही सिद्ध होगा। चलनी से कितनी ही बार पानी निकालने की कोशिश क्यों न कर ली जाये, वह कभी सफल नहीं होगी। यों चलनी से पानी को निकालने वाला व्यक्ति कभी भी पानी के स्वरूप को देख नहीं पायेगा।

शान्ति की खोज में वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करें तो विदित होगा कि आज के मानव की चलनी से पानी निकालने जैसी मानसिकता ही काम कर रही है। कल्पना की जाये कि मनुष्य का जीवन एक बहुत बड़ा गहरा कुआं है। उसके तल में शान्ति लबालब भरी हुई है। सभी मानव शान्ति का रसास्वादन करना चाहते हैं पर उस रसास्वादन के लिये समुचित प्रयास की अपेक्षा होती है। अन्तस्तल में उतर कर शान्ति के शीतल अमृत को खोजना और उससे मन के पात्र को परिपूरित करना आवश्यक होता है। मन शान्ति से भर उठता है तो शान्ति की अनुभूति समस्त जीवन में प्रसारित हो जाती है।

किन्तु जब मन की स्थिति का अवलोकन किया जाता है तो शान्ति की खोज बहुत कठिन प्रतीत होती है। मन की विपथगामिता से ऐसा लगता है कि

उसका स्वरूप अनेक छिद्रों वाली चलनी जैसा हो रहा है, फिर उसमें शान्ति का अमृत निकल कर आवे तो कैसे आवे और उसमें ठहरे तो कैसे ठहरे? इन छिद्रों के कारण मन की गति शान्ति की दिशा से विपरीत बनी हुई है। मानव चाहता तो शान्ति है पर उसका मन शान्ति से दूर-दूर भागता है। यह बड़ी विडम्बना है।

### मन के छिद्रों को कैसे बन्द करें?

अपने ही अन्तस्तल में आच्छादित शान्ति की खोज करनी है और वहां से शान्ति को निकाल कर भीतर बाहर के समूचे जीवन में उसको व्याप्त करना है तो मन के असंख्य छिद्रों को बन्द करना होगा। मन को एक सुचारु पात्र के रूप में गढ़ना होगा। ये छिद्र कैसे बन्द होंगे और कैसे मन को शान्ति संचय के सुघड़ पात्र के रूप में रूपान्तरित किया जा सकेगा? शान्ति के पिपासु मानव के लिये यही सबसे बड़ी समस्या है और शान्ति के खोज की यही पूर्व योग्यता है। इस तैयारी के बाद ही शान्ति के स्वरूप का भली-भांति ज्ञान किया जा सकता है।

मन के छिद्रों को बन्द करके उसे सुघड़ पात्र के रूप में ढाल लेने के लिये जीवन के सत्त्व को सुव्यवस्थित करना होगा। विकारों के छिद्रों के द्वारा जीवन का सत्त्व निरर्थक रूप से बह जाता है और जीवन में अशान्ति छायी हुई रहती है। इस सत्त्व को सुसंचित रखकर मन को शान्ति की खोज में समर्थ बनाने वाली एक ही शक्ति है और वह शक्ति है, ब्रह्मचर्य की शक्ति। ज्यों-ज्यों मानव के जीवन में ब्रह्मचर्य की शक्ति का हास होता रहता है, त्यों-त्यों उसका जीवन अनेकानेक विकारों से ग्रस्त होता चला जाता है। इन्हीं विकारों ने मानव के मन को छेद-भेद कर चलनी जैसा बना दिया है। यही कारण है कि वह आज अशान्ति के दलदल में बुरी तरह से फंसा हुआ है और शान्ति की उत्सुक भाव से चाहत रखता है। लेकिन इस दलदल से बाहर निकले बिना उसका कोई त्राण नहीं है।

आज समय आ गया है कि मानव अपने जीवन में ब्रह्मचर्य के मूल्यांकन को गहराई से समझे तथा शान्ति को प्राप्त करने के लिये उसको अपनावे। ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं और उसे अपने जीवन में किस रूप से प्रमुख स्थान दिया जा सकता है—यह भी समझ लेना चाहिये। कई लोग मोटे तौर पर इतना ही जानते हैं कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से दूर रहने का नाम ब्रह्मचर्य है। ज्ञानी जनों ने कहा है कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे से दूर रहें तो ब्रह्मचर्य की रक्षा अवश्य होती है, किन्तु उसका विश्लेषण करते हुए आगे बताया गया है कि ब्रह्म अर्थात् आत्मा और चर्य का अर्थ है विचरण करना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का भावार्थ

होता है आत्मा में विचरण करना। इस मानव शरीर के भीतर परमात्म-स्वरूप के समकक्ष जिस आत्मा का निवास है, उसके स्वरूप को जानना, उस स्वरूप में अवस्थित होना तथा उस स्वरूप को उपयोग में लाते हुए गहराई से उसकी आन्तरिकता में निरन्तर विचरण करना—यह है ब्रह्मचर्य की मौलिकता। ब्रह्मचर्य जीवन के सत्त्व को संचित ही नहीं करता, अपितु उसकी गतिशीलता को एक व्यवस्थित रूप देता है। इसी सत्त्वशीलता से मन के विकार शमित होते हैं और उसके अनेकानेक छिद्र बन्द होते हैं। आत्मा में निरन्तर रमण से मन शान्ति को अवस्थित करने का एक सुघड़ पात्र बन जाता है।

### ब्रह्म में विचरण करने का नाम है ब्रह्मचर्य

ब्रह्म अर्थात् आत्मा में निरन्तर विचरण करने का अर्थ है कि परमात्म-स्वरूप की प्रतीति से एक क्षण के लिये भी विलग नहीं होना। अनवरत गति से वही ध्यान-मग्नता रहे—यह है ब्रह्मचर्य की सतत आराधना। इस आराधना के लिये मनोबल को भी साधना होता है तो शरीर के बल को भी। मानसिक बल को शरीर-बल का सम्बल मिलता है। और शरीर बल तभी सुदृढ़ होता व रहता है जब शरीर का सार तत्त्व और सत्त्व सुरक्षित रहे। इसी सुरक्षा का प्रमुख साधन है ब्रह्मचर्य का स्थूल रूप, जिसके आधार पर उसका सूक्ष्म रूप विकसित होता है।

ज्ञानीजनों ने संकेत दिया है कि मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में प्राभाविकता तथा मन की शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिये शारीरिक ब्रह्मचर्य भी आवश्यक है। जीवन प्रभावशाली तब बनता है जब वह शक्तिशाली होता है और एक ब्रह्मचारी के शरीर में बिजली की वेगवान शक्ति भर जाती है। मूलतः शरीर के अन्दर बिजली के समान शक्ति का संचार है। वह शक्ति शिशु अवस्था में भी उसके अणु-अणु में भरी रहती है। जब वह माता का स्तनपान करता है, तब वह चाहे किसी भी स्थान पर चला जाये—उसकी शक्ति स्थिर रहती है। लेकिन जैसे ही उसकी आयु बढ़ती है वह माता-पिता के साथ पूरे परिवार के सम्पर्क में आता है। उनके आचरण, उनकी दिनचर्या और भावना का परिचय पाता है तथा उस वातावरण में रमने लगता है तो वह भी उसी रूप में ढलने लग जाता है। फिर जब वह युवावस्था में पहुंचता है, तब उसका ध्यान दूसरी तरफ मुड़ जाता है। बाहर के विस्तृत वातावरण को भी वह देखता है तथा अन्य व्यक्तियों के आचार-विचार को भी वह समझता है। तब उसके जीवन में तद्रूपता का समावेश होने लगता है। धीरे-धीरे उसका देखना भी सादा नहीं रहता, वह नेत्रों के सिवाय सारी स्थिति को मन से भी देखता है। इन सबके प्रभाव से उसके

विचारों में परिवर्तन आना प्रारंभ होता है और यह परिवर्तन होता है आत्मिक विचारों से भौतिक तत्त्वों की ओर मुड़ते रहने का। यों आन्तरिक शक्ति बाहर को बहने लगती है, तब वह अपने शरीर के सत्त्व को सुरक्षित नहीं रख पाता है। ब्रह्म में विचरण करने या कि आत्म रमण करने की अपेक्षा उसकी बुद्धि बाहरी सौन्दर्य, रूप लावण्य के प्रति आकर्षण में मोहाविष्ट होती जाती है। इस तरह ब्रह्मचर्य की दिशा में उसका रुझान नहीं होता है। यह सब प्रचलित पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण का प्रभाव होता है।

शारीरिक दृष्टि से भी देखें तो आयुर्वेद में ब्रह्मचर्य के महत्त्व को पूर्ण स्थान दिया गया है। वीर्य के अधीन मनुष्य का जीवन होता है—वह निस्सार कर दिया गया तो समझिये कि जीवन बर्बादी की तरफ मुड़ गया। प्राचीन काल की व्यवस्था आदर्श थी। बाल्यकाल से लेकर पचीस वर्ष की आयु तक का समय ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से जाना जाता था और ज्यों ही बच्चा कुछ बड़ा होता, उसे शिक्षा-दीक्षार्थ ऋषि-मुनियों के आश्रम में प्रविष्ट करा दिया जाता था जहां उसके जीवन का निर्माण गुरु के सान्निध्य में हुआ करता था। अध्ययन के साथ वह पचीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य का भी पालन करता था। इस अभ्यास से उसका शरीर बल विकसित होता था, मनोबल सुदृढ़ बनता था तथा उसके जीवन का धरातल श्रेष्ठ संस्कारों से युक्त हो जाता था। ब्रह्मचर्य की आराधना से उसमें जीवनी शक्तियों का विकास होकर उनका यथेष्ट संचार सृजित बन जाता था। इन जीवनी शक्तियों का उसके जीवन निर्माण में सर्वाधिक योगदान होता था। ब्रह्मचर्य की पृष्ठभूमि पर उसका गृहस्थाश्रम सुघड़ होता था तो उसके बाद वह सर्व त्याग की दिशा में मुड़कर आत्म-रमण का अभ्यासी बनकर सच्चा ब्रह्मचारी बन जाता था।

### ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता सर्वसम्मत है

भगवान महावीर स्वामी का कथन है कि समग्र तपों में श्रेष्ठतम तप ब्रह्मचर्य है। क्योंकि इस तप की आराधना करने से आत्मा में लीन होने की स्थिति समुत्पन्न होती है। सांसारिक विषय वासनाएँ इस आत्मा को निज स्वरूप के चिन्तन से हटाकर बाह्य विषयों एवं पर-पदार्थों की ओर आकर्षित बनाती हैं, अतः उनसे बचने का प्रयास किया जाना चाहिये। यह ब्रह्मचर्य गुप्ति के माध्यम से किया जाता है, जिससे वीर्य अर्थात् सत्त्व शक्ति का धारण और रक्षण होता है। शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार वीर्य है। वीर्य रहित पुरुष लौकिक या आध्यात्मिक किसी भी प्रकार की सफलता प्राप्त

नहीं कर सकता है। इसी दृष्टि से ब्रह्मचर्य की रक्षा एवं जीवन के विचार, वचन एवं व्यवहार में श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिये निम्न नौ बातों का पालन आवश्यक माना गया है, क्योंकि इनके पालन के बिना ब्रह्मचर्य का सम्यक् रीति से पालन करना संभव नहीं होता है—

1. ब्रह्मचारी को स्त्री, पशु और नपुंसकों से अलग स्थान में रहना चाहिये, क्योंकि वहां विकार भड़कने की आशंका रहती है।

2. ब्रह्मचारी स्त्रियों की कथा-वार्ता न करे।

3. ब्रह्मचारी स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे बल्कि स्त्री के उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे। स्त्रियों में अधिक आवागमन या सम्पर्क भी नहीं रखे।

4. ब्रह्मचारी स्त्रियों के मनोहर एवं मनोरम अंगोपांगों को नहीं निहारे। अकस्मात् दृष्टि पड़ भी जाये तो दृष्टि हटाकर उस दृश्य को तुरन्त स्मृति से बाहर निकाल दे।

5. ब्रह्मचारी गरिष्ठ भोजन या घी से परिपूर्ण पकवान न खावे, क्योंकि वैसे भोजन से विकार वृद्धि होती है।

6. ब्रह्मचारी सादा और रूखा-सूखा भोजन भी अधिक न करे बल्कि मित मात्रा में ही करे। आधा पेट अन्न से तथा आधे में दो-तिहाई पानी से व एक तिहाई हवा से भरे ताकि मन स्फूर्तिवान और स्वस्थ रहे।

7. ब्रह्मचारी पूर्व में अपने द्वारा भोगे हुए भोगों का स्मरण भी नहीं करे।

8. ब्रह्मचारी स्त्रियों के शब्द, रूप वर्णन आदि पर ध्यान न दे क्योंकि इससे चित्त में चंचलता उत्पन्न होती है।

9. ब्रह्मचारी अपने पुण्योदय से प्राप्त हुए अनुकूल शब्द, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि के सुखों में आसक्त नहीं बने।

उत्तराध्ययन सूत्र में इसी प्रकार के ब्रह्मचर्य के दस समाधि स्थानों का भी उल्लेख किया गया है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा में उपरोक्त प्रकार से यदि पूर्ण सजगता बरती जाये तो वह अपने जीवन में सभी प्रकार की सफलताओं को परिपूर्ण रूप से उपलब्ध कर सकता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता उसके पालन से जीवन में अवश्यमेव अभिव्यक्त होती ही है और इस प्रतिफलन में कहीं किसी भी मान्यता का कोई विवाद नहीं है। ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता सर्वसम्मत है।



वर्तमान जीवन की खेदजनक स्थिति यह है कि आज की सन्तान में वैसा निर्माण देखने को नहीं मिल रहा है—उनमें आदर्शों का भी अभाव दृष्टि में आता है तो आदर्शों के प्रति निष्ठा और लगन का भी अभाव दिखाई देता है। आज के बच्चे जब माता की गोद में खेलते रहते हैं और जब उनको सांसारिक क्रिया-प्रक्रियाओं का कोई ज्ञान भी नहीं होता, तब माता-पिता उन्हें ब्रह्मचर्य के श्रेष्ठ संस्कार देने की बजाय उनको सिनेमा, टीवी आदि के विकार भरे दृश्य दिखाकर असमय में ही उनके भोले मन मानस में विकार की परतें जमा देते हैं। आगे जाकर स्कूल-कॉलेजों में भी उनको वैसे ही कुसंस्कारों का सामना करना पड़ता है तब वे उनका मुकाबला करने की बजाय उनके प्रति अधिक आकर्षण एकत्रित कर लेते हैं। इसका यह दुष्परिणाम होता है कि जब उनके सामने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अवसर आता है, तब उनका मन-मानस पहले से ही घातक विकारों के बदरंगों से रंगा हुआ होता है। फिर उनके गृहस्थ जीवन में उत्तमता कहां से आवे और कैसे उत्तमता के संस्कार फलें और फूलें?

विकारों के कुसंस्कारों में पलता और ढलता हुआ आज का छात्र जीवन भी दुर्दशाग्रस्त ही रहता है। अधिकांश छात्र ठीक से अपनी पढ़ाई भी नहीं कर पाते हैं और उत्तीर्ण तक नहीं होते हैं। कई छात्र तो हमसे भी शिकायत कर जाते हैं कि कोशिश करने पर भी उनका मन पढ़ाई में लगता ही नहीं है, इसलिये कोई उपाय बताइये। तब यही बताते हैं कि पच्चीस वर्ष की आयु तक या कम से कम पढ़ाई करते रहें तब तक ब्रह्मचर्य का मनोयोगपूर्वक पालन करें। सिनेमा, टीवी आदि नहीं देखें तथा अश्लील या जासूसी साहित्य भी नहीं पढ़ें। यथा समय सत्पुरुषों के दर्शन करें—उनके प्रवचन सुनें एवं आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन करें। यदि ऐसा आचरण रखेंगे तो ब्रह्मचर्य का भी सुगमता से पालन हो सकेगा। किन्तु हमारे ये सुझाव उन छात्रों को कितने पसन्द आते हैं और वे इन पर कितना अमल करते हैं—यह तो वे ही जानें।

वर्तमान स्थिति जो हमारी सामान्य दृष्टि में आती है, वह ब्रह्मचर्य के पालन एवं संरक्षण के अनुकूल समझ में नहीं आती है। माता-पिता प्रारंभ में अपनी सन्तान को सुसंस्कार प्रदान करने में विफल रहते हैं। फिर बच्चों के शिक्षण काल में भी ब्रह्मचर्य के अनुकूल वातावरण नहीं रहता है। एक प्रतिकूलता सह-शिक्षण की भी बतायी जाती है और किशोर या युवावस्था में सहशिक्षण का अधिक कुप्रभाव ही दिखाई देता है। लड़के और लड़कियाँ जब एक साथ पढ़ते हैं तो उनका सहवास हंसी मजाक या विनोद से आगे बढ़कर

विकारों के मार्ग पर चला जाये तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर शिक्षण संस्थाओं में आयोजित होने वाले विभिन्न कार्यक्रमों में भी पाश्चात्य सेक्समुक्त संस्कारों की बाढ़ जैसी आयी हुई दिखाई देती है जो शुद्ध चारित्र के मूल्यों को ही खंडित करने वाली है। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम की उल्लिखित पचीस वर्ष की आयु में ही आज के किशोर या छात्र के आचरण की जब इस रूप में दुर्दशा हो रही हो तो कैसे कल्पना तक की जाये कि उनका आगे आने वाला गृहस्थ जीवन उत्तम बनेगा तथा वे तन और मन से स्वस्थ बने रह सकेंगे? जीवन की उत्तमता का विकास वे ही कर सकते हैं, जो पचीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य की आराधना करें।

### विकारों के घेरे से निकलने पर ही सत्त्व रक्षा

जब सर्पिणी अपने बच्चों को जन्म देती है तो अपने शरीर का गोल घेरा बनाकर सभी अंडों-बच्चों को उस घेरे के भीतर रखती है। यह कहा जाता है कि सर्पिणी जब भूखी होती है तो अपने ही बच्चों को खा जाती है। इस कारण उसके वे ही बच्चे बच पाते हैं जो अवसर देखकर उस घेरे से बाहर निकल जाते हैं। जैसे सर्पिणी के उस घेरे से बाहर निकलने पर ही उसके अपने बच्चे भी अपनी प्राण रक्षा कर पाते हैं, उसी प्रकार जीवन के प्रारंभिक काल में वही अपने सत्त्व की रक्षा कर पाता है जो काम वासनाओं रूपी विकारों के घेरे से बाहर रहता है। आज के युग का पतन इतना विचित्र हो गया है कि विरले ही इस घेरे से बाहर रह पाते हैं। वस्तुतः जो इस घेरे से बाहर रहते हैं, वे ही अपने संरक्षित सत्त्व के सम्बल से आत्म-स्वरूप को भी जानते हैं तो अपने जीवन का शान्ति प्राप्ति की दिशा में समुचित विकास भी कर लेते हैं।

विषय विकारों की प्रबलता को लक्ष्य में रखकर ही श्रावक के बारह व्रतों में भी चौथे मैथुन विरमण व्रत को विशेष महत्त्व दिया गया है। एक सद्गृहस्थ को स्वदार सन्तोष की ब्रह्मचर्य वृत्ति को समझना चाहिये कि विवाहिता-पत्नी के सिवाय शेष औदारिक शरीरधारी अर्थात् मनुष्य, तिर्यच के शरीर को धारण करने वाली स्त्रियों के साथ एक करण एक योग से तथा वैक्रिय शरीरधारी अर्थात् देवशरीरधारी स्त्रियों के साथ दो करण तीन योग से मैथुन सेवन का त्याग किया जाता है।

साधु जीवन के लिये तो सम्पूर्ण मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत का विधान किया गया है। तदनुसार इस महाव्रत की पांच भावनाएं बतायी गई हैं—

1. ब्रह्मचर्य पालन के लिये आहार के विषय में संयत होना चाहिये और आहार रूक्ष एवं मित भी होना चाहिये। न अति स्निग्ध सरस आहार लिया जाये और न परिमाण से अधिक ही लिया जाये। आहार परिमाण से भी कम ही हो।

2. अपने शरीर की विभूषा (शोभा) व शुश्रूषा भी न की जाये। स्नान, विलेपन, केश सम्मार्जन आदि की तो भावना भी न रखी जाये। चित्त के चांचल्य से विकारोत्पत्ति होती है।

3. स्त्री एवं उसके मनोहर मुख, नेत्र आदि अंगों को काम वासना की दृष्टि से निरखना नहीं चाहिये।

4. स्त्रियों के साथ विशेष परिचय, सम्पर्क न रखें। स्त्री, पशु, नपुंसक से सम्बन्धित उपाश्रय, शयन, आसन आदि का सेवन भी न करे।

5. तत्त्वज्ञ मुनि स्त्री विषयक कथा न करे।

ब्रह्मचर्य की तदनुसार रक्षा नहीं की जाये तो एक गृहस्थ, सदगृहस्थ एवं श्रावक नहीं बन सकता तथा एक साधु शुद्ध अर्थों में ब्रह्मचारी नहीं हो सकता है। विषय-वासना रूपी सर्पिणी के घेरे से बाहर निकल कर आप आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करें तो आप आध्यात्मिकता की साधना करते हुए शारीरिक-मानसिक ब्रह्मचर्य के साथ परमात्म-स्वरूप के अनुरूप आत्म-रमण अर्थात् अपने सूक्ष्म अर्थों में ब्रह्मचर्य-पालन का कठिन सामर्थ्य भी प्राप्त कर सकते हैं।

यह उपलब्धि सत्त्व रक्षा एवं सत्त्व-संचय पर आधारित होती है क्योंकि सत्त्व ही जीवन की गति-प्रगति का मूल कहा गया है। इसके विपरीत सत्त्व की हानि ही जीवन की बर्बादी है। अब्रह्मचर्य सभी प्रकार के महापापों का सरदार होता है। इस महापाप को ब्रह्मचर्य की अखंडता के काल में ही रोक लिया जाना चाहिये। अगर प्रारंभ से ब्रह्मचर्य के संस्कार नहीं डाले तथा आगे जाकर श्रावक का ब्रह्मचर्य व्रत भी स्वीकार नहीं किया तो ऐसा व्यक्ति सारे संसार के अब्रह्मचर्य के महापाप का भागीदार बन सकता है। वह संसार की सभी स्त्रियों को प्राप्त नहीं कर सकता है फिर भी वासना एवं लालसा मुक्ति के अभाव में वह इस महापाप का भागीदार बनता है। इस तथ्य को समझ कर ज्ञानीजनों ने अबोध मानव को वह मार्गदर्शन दिया है, जिसे अपना कर वह इस महापाप से बच सकता है। समझें कि एक घड़ा जहर से भरा हुआ है और एक जहर चारों ओर हवा पानी में फैला हुआ है तो दोनों की तुलना में जहर का घड़ा ठीक है कि जहर को एक सीमा में तो सीमित बना डाला। उसी प्रकार श्रावक स्वदार-

सन्तोष का व्रत लेकर विषय-विकारों को एक सीमा में तो बांध लेता है, जहां से वह सम्पूर्ण विकार त्याग के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। सत्त्व सबल है तो सत्त्व-संचय और सत्त्व-प्रबलता की आशा रखी जा सकती है।

### ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है

उत्तराध्ययन सूत्र के सोलहवें अध्ययन में भगवान् महावीर ने फरमाया है कि यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है। नित्य है तथा शाश्वत है एवं जिन-भगवानों द्वारा उपदेशित वस्तु विषय है। इसका आचरण करके पूर्व काल में कितनी ही भव्य आत्माएँ सिद्ध हो चुकी हैं, कितनी ही वर्तमान में हो रही हैं तथा भविष्य में कितनी ही सिद्ध होंगी। दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी को देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं। ब्रह्मचर्य सभी तपों में प्रधान तथा उत्तम माना गया है। जो पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उनका सर्वप्रथम मोक्ष होता है। ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करने से सभी व्रतों की आराधना हो जाती है। शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता और गुप्ति—ये सभी ब्रह्मचर्य की आराधना से आराधित होते हैं। ब्रह्मचारी इहलोक और परलोक में यश, कीर्ति एवं लोकविश्वास प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य के शुद्ध आचरण से उत्तम ब्राह्मण, उत्तम श्रमण एवं उत्तम साधु होता है। सच पूछें तो श्रेष्ठ विधि से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला एवं आत्म-रमण में तल्लीन रहने वाला ही ऋषि है। वही मुनि है। वही साधु है तथा वही भिक्षु है।

शास्त्रकारों ने कहा है कि अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है और महादोषों व महापापों का पुंज रूप है। इसी दृष्टिकोण से निर्ग्रंथ मुनि कामवासनाओं एवं स्त्री संसर्ग का त्याग करते हैं। आत्म-शोधक पुरुष के लिये शरीर का शृंगार, स्त्रियों का संसर्ग तथा पौष्टिक-स्वादिष्ट भोजन भीषण तालपुट विष के समान घातक कहे गये हैं। ये तीनों बातें काम की उद्दीपक होती हैं। जैसे आग घी का संयोग पाकर बुरी तरह से प्रज्वलित होने लगती है तथा वही आग शीतल जल का स्पर्श पाकर शान्त हो जाती है, उसी प्रकार कामाग्नि के लिये भी शरीर का शृंगार, स्त्रियों का संसर्ग तथा पौष्टिक-स्वादिष्ट भोजन घी का काम करते हैं। और मित व रूक्ष आहार, स्त्रियों से विरक्ति तथा शरीर के प्रति निर्मोही दृष्टि रूप शीतल जल से अस्तित्व में रहे हुए कामवासना के विकार भी शान्त एवं नष्ट हो जाते हैं। इसलिये एक सदगृहस्थ और श्रावक अपने इन विकारों को बहुत ही सीमित बना दे लेकिन निर्ग्रंथ मुनि तो इन सबका पूर्णतः त्याग करे—तालपुट विष का अणु जितना अंश भी अपने जीवन से संयुक्त न होने दे।

गौतम स्वामी को ही सम्बोधित करते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया है कि हे गौतम! जहां साधु आर्याओं द्वारा लाये हुए पात्र आदि विविध उपकरणों का परिभोग करते हैं, वह कैसा गच्छ है? जहां भोजन के समय साधुओं की मंडली में आर्याएँ पैर रखती हैं, वह गच्छ नहीं बल्कि स्त्री राज्य है।

इसी दृष्टि से भगवान् ने निर्देश दिया है कि श्रमण तपस्वी मुनिजन स्त्रियों के रूप लावण्य, विलास-हास्य, मधुर वचन, काम चेष्टा एवं कटाक्ष आदि को मन में तनिक भी स्थान न दें एवं राग पूर्वक कभी यह सब देखने का भी प्रयत्न नहीं करें। स्त्रियों को राग पूर्वक न देखना चाहिये और न ही उनकी अभिलाषा करनी चाहिये। स्त्रियों का चिन्तन एवं कीर्तन भी उन्हें नहीं करना चाहिये। सदा ब्रह्मचर्य व्रत में तल्लीन रहने वालों के लिये यह नियम उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक होता है। इसका पालन उनके लिये अतीव हितकर माना गया है।

यहां तक कहा गया है कि अपनी मन, वचन, काया का गोपन करने वाले मुनियों को वस्त्राभूषणों से अलंकृत सुन्दर अप्सराएँ भी संयम से भले ही विचलित न कर सकें, फिर भी उन्हें एकान्तवास का ही आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि यही उनके लिये अत्यन्त हितकारी तथा प्रशस्त सिद्ध होता है। साधु स्वयं स्थिरचित्त हो फिर भी आर्या का सम्पर्क ठीक नहीं है। जैसे आग के पास रहा हुआ घी पिघल जाता है, उसी प्रकार साधु संसर्ग से आर्या का चित्त विकृत होकर विचलित हो सकता है। इतना तक कह दिया गया है कि टूटे हुए हाथ-पैर वाली और कटे हुए कान-नाक वाली सौ वर्ष की बुढ़िया का संग भी एक ब्रह्मचारी के लिये वर्जनीय है।

यही कारण है कि ब्रह्मचर्य धर्म को ध्रुव, नित्य एवं शाश्वत धर्म कहा गया है। सर्वथा मैथुन का त्याग करके आत्म-स्वरूप में रमण करने रूप ब्रह्मचर्य को न सिर्फ जैन दर्शन में सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है बल्कि सनातन एवं अन्य धर्मों में भी ब्रह्मचर्य को महान् महत्ता प्रदान की गई है। जैन शास्त्रों में “**बंभं भगवन्तं**” कहकर ब्रह्मचर्य को साक्षात् भगवान् रूप बतलाया है तो सनातन धर्म में “**एकतश्चतुरो वेदाः ब्रह्मचर्यं च एकतः**” कहकर ब्रह्मचर्य को इतना महत्त्व दिया है कि एक ओर चारों वेद हैं और एक ओर ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की सर्वश्रेष्ठता बतलाने के लिये शास्त्रकारों ने विश्व के सर्वश्रेष्ठ बत्तीस पदार्थों से इसकी उपमा की है।

### जीवन विकास में ब्रह्मचर्य की क्रमिक भूमिका

दीर्घकाल से समाज के अन्दर विवाह प्रथा का प्रचलन चला आ रहा है। शास्त्रों और इतिहास के ग्रंथों में इस प्रथा का उल्लेख मिलता है। युगलिया काल

की समाप्ति के बाद सन्तानोत्पत्ति के निमित्त से विवाह प्रथा का प्रारंभ हुआ, किन्तु मानव इस युग में आते-आते अपने मन पर से नियंत्रण खोता जा रहा है तथा विषय-वासना के चक्र में अधिकाधिक ग्रसित होता जा रहा है। पशुओं में भी सहगमन के कुछ प्राकृतिक नियम होते हैं, जिनका वे बराबर पालन करते हैं। किन्तु मानव तो इतना अनियंत्रित होता जा रहा है कि वह प्राकृतिक नियमों का भी पालन नहीं करता है। आधुनिक युग में तो वह विषय-वासनाओं के बहाव में बुरी तरह से बह रहा है। इस बहाव में भी पुरुष वर्ग का पतन अधिक परिलक्षित होता है। एक पुरुष अपने जीवन में जिस कन्या के साथ जगत् साक्षी से विवाह कर लेता है, वह यदि विवाहिता की सीमा में बंधा हुआ न रहे तथा दुराचार की गलियों में भटकता फिरे तो उसकी वासना घड़े से बाहर फैले जहर की तरह इतनी विस्तृत हो जाती है कि उसके पतन की कोई सीमा नहीं रहती।

विवाह की प्रथा जिस पवित्र विचार के साथ विषय-वासनाओं की सीमाबंदी करती है, उसके महत्त्व को मानते हुए ब्रह्मचर्य के पहले चरण की भूमिका के रूप में स्वपत्नी सन्तोष का व्रत अंगीकार किया जाना ही चाहिये ताकि अपनी पत्नी के सिवाय संसार की समस्त स्त्रियों को माता एवं बहिनों के रूप में देखा जाये। फिर पत्नी के साथ में भी धर्मपत्नी के रूप में व्यवहार करना चाहिये। पति-पत्नी के सम्बन्धों में धर्म को प्रमुखता दी जाये, ताकि अब्रह्मचर्य का सेवन कम से कम हो। इस भावना के साथ श्रावक यदि अब्रह्मचर्य का त्याग करे तो वह महापाप से बचकर अल्पपापी श्रावक बन सकता है। श्रावक का व्रत न भी अंगीकार किया गया हो तब भी एक सामान्य सद्गृहस्थ को भी स्वपत्नी से सन्तुष्ट रहना चाहिये तथा 'परनारी पैनी छुरी, कोई मत लाओ अंग' मानकर ही चलना चाहिये।

ब्रह्मचर्य के पहले चरण की आराधना करते हुए जब काम-वासनाओं को स्वपत्नी की सीमा में बांध दिया जाता है, तब आत्म-रमण की वृत्ति अभिवृद्ध हो जाने से उस सीमा में रहा हुआ अब्रह्मचर्य भी असह्य लगने लगता है। तब विवेकवान पुरुष शीलव्रत अंगीकार करता है तथा भावना को उच्चकोटि पर ले जाकर साधु धर्म एवं शान्ति के आधार के रूप में ब्रह्मचर्य के दूसरे चरण की आराधना भी आरंभ कर लेता है।

## 23

## सर्वत्र प्रकाश खोजें!

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

सभी भव्य आत्माएँ शिव की अभिलाषा रखती हैं। शिव का तात्पर्य होता है मंगल और कल्याण। और जो परम मंगलमय एवं चरम कल्याण स्वरूप है, वह है सिद्ध स्वरूप, अतः शिव का नाम है मोक्ष। मोक्ष की ही अभिलाषा लेकर मानव धार्मिक कार्यों के अनुसंधान से जुड़ता है। पहले वह समझता है कि उसका सम्बन्ध इन सांसारिक पदार्थों के साथ जुड़ा हुआ है। सांसारिकता से जुड़े होने का अनुभाव उसके मन में तब तक ही रहता है, जब तक उसे अन्य सम्बन्धों का ज्ञान नहीं होता है।

एक पुरुष अंधकार में बैठा हुआ यही सोच सकता है कि उसका सम्बन्ध इसी अंधकार से जुड़ा हुआ है और जिस सम्बन्ध का ही उसे ज्ञान होता है, उससे वह जुड़ा हुआ चलता है। किन्तु ज्यों ही उसके ज्ञान में यह आता है कि अंधकार का सम्बन्ध अंधकारपूर्ण होता है और अंधकार के अलावा प्रकाश भी होता है जिसके साथ सम्बन्ध जोड़ने से यह जीवन प्रकाशपूर्ण बन जाता है, तब वह उस प्रकाश की खोज में प्रयाण कर देता है। उसके जीवन का फिर यह मूलमंत्र बन जाता है कि सर्वत्र प्रकाश को खोजें।

इसी प्रकार संसार के समस्त जड़ पदार्थ एवं उनके साथ इस मानव की जुड़ी हुई सांसारिकता की भावना अंधकारपूर्ण होती है। उस अंधकार को दूर करने वाला होता है शिव का तेज यानी कि मोक्ष का प्रकाश। जो भव्य आत्मा मोक्ष के प्रकाश के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ती है, उसके जीवन का सम्पूर्ण अंधकार दूर हो जाता है एवं उसका स्वरूप तेजोमय बन जाता है। मोक्ष की अवस्था पूर्ण प्रकाश के तुल्य होती है। यदि पूर्ण प्रकाश के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना है तो इस तथ्य की पक्की गांठ बांध लीजिये कि अंधकार के सम्बन्धों से अपना नाता तोड़ना होगा। इसी दृष्टि से कवि ने संकेत दिया है कि शिव या

मोक्ष का प्रकाश परम सुख का प्रदाता है— इसमें कोई सन्देह या विवाद नहीं है। मोक्ष के अर्थ को समझने के लिये वीतराग देवों ने नयवाद का विवेचन किया है। नयवाद समस्त पदार्थों के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालता है। ये नय सात होते हैं, जिनका ज्ञान आवश्यक है।

### विषय के सापेक्ष निरूपण का नाम है नयवाद

किसी भी वस्तु के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान किया जाये— इसके लिये प्रमाण और नय के प्रयोग की आवश्यकता होती है। जो ज्ञान शब्दों में उतारा जा सके तथा जिसमें वस्तु को उद्देश्य और विधेय रूप में कहा जा सके— उसे नय कहते हैं। किन्तु उद्देश्य और विधेय के विभाग के बिना ही जिसमें अविभक्त रूप से वस्तु का भाव हो उसे प्रमाण कहते हैं। संक्षेप में, जो ज्ञान वस्तु के अनेक अंशों को जाने वह प्रमाण ज्ञान है तथा अपनी विवक्षा से किसी एक अंश को मुख्य मानकर व्यवहार करे वह नयवाद है। नय और प्रमाण दोनों ज्ञान हैं, किन्तु वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला नय है और अनेक धर्मों वाली वस्तु का अनेक रूप से निश्चय करने वाला प्रमाण है। जैसे दीपक में नित्य धर्म भी रहता है और अनित्य धर्म भी। यहां अनित्यत्व का निषेध न करते हुए अपेक्षा की दृष्टि से दीपक को नित्य कहना नय है। प्रमाण की अपेक्षा से दीपक नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्मों वाला होने से नित्यानित्य कहा जायेगा।

विश्लेषण के इस प्रकाश में नय उसे कहेंगे जो किसी विषय का सापेक्ष निरूपण करता है। किसी एक या अनेक वस्तुओं के विषय में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के या एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न विचार होते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाये तो ऐसे विचार अपरिमित होते हैं— इनमें से प्रत्येक की समीक्षा करना संभव नहीं। अपने प्रयोजन के अनुसार अति विस्तार और अति संक्षेप दोनों को छोड़कर किसी विषय का मध्य दृष्टि से प्रतिपादन करना ही नय है। नयों के निरूपण का अर्थ है विचारों का वर्गीकरण और नयवाद का अर्थ है विचारों की मीमांसा। नयवाद में विचारों के कारण, परिणाम या विषयों की पर्यालोचना मात्र नहीं है, बल्कि परस्पर विरुद्ध दिखने वाले पर यथार्थ में अविरोधी विचारों के मूल कारणों की खोज करना ही इसका मूल उद्देश्य है। अतः नयवाद की संक्षिप्त परिभाषा कहें तो वह यह होगी कि परस्पर विरुद्ध दिखने वाले विचारों के मूल कारणों की खोज करके उन सब विचारों में समन्वय का सूत्र स्थापित करने वाला शास्त्र नयवाद है। इसे समझने के लिये एक दृष्टान्त ले लें। आत्मा के विषय में कई व्यक्तियों के परस्पर विरोधी विचार



देखे जाते हैं। किसी का मानना है कि आत्मा एक है तो किसी का मानना है कि आत्मा अनेक हैं। एकत्व तथा अनेकत्व परस्पर विरोधी विचार हैं। ऐसी दशा में यह वास्तविक है या नहीं और अगर वास्तविक नहीं है तो उसकी संगति कैसे हो सकती है? इस बात की खोज नयवाद ने की और कहा कि व्यक्ति की दृष्टि से या प्राणी की दृष्टि से आत्मा अनेक हैं किन्तु शुद्ध चैतन्य स्वरूप की दृष्टि से एक। इस प्रकार विषय का समन्वय करके नयवाद परस्पर विरोधी विदित होने वाले वाक्यों को एकवाक्यता सिद्ध कर देता है। इस प्रकार आत्मा के ही नित्यत्व, कर्तृत्व आदि अनेक विषयों तथा अन्यान्य पदार्थों के स्वरूप विषयों के विरोध को नयवाद समन्वित करके विभिन्न अपेक्षाओं में रहे हुए वस्तु के वास्तविक स्वरूप को निर्विवाद रूप से स्थापित कर देता है।

### नयवाद अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाता है

सामान्य रूप से मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण होता है, फिर भी अहंकार आदि की विविध वृत्तियों के कारण मनुष्य उसे ही पूर्ण मानने का हठ करता है। इसी हठवाद से विचार-वैषम्य पैदा होता है। अहंकार आदि की भावना से मनुष्य का हठाग्रह इस रूप में ढल जाता है कि वह अपने विचार को ही सम्पूर्ण सत्य मान लेता है तथा साथ ही दूसरों के विचारों को समझने का धैर्य खो देता है। आंशिक में इस प्रकार सम्पूर्ण सत्य का आरोपण वस्तु स्वरूप को विकृत बना देता है तथा विचार-विषमता को भड़का देता है। यही विषमता विवाद का कारण बन जाती है। जो विचार प्रकाश का कारण होना चाहिये, वही अंधकार फैलाने लगता है और आंशिक सत्य भी विद्रूप बन जाता है। इस प्रकार की धारणाओं के कारण ही आंशिक रूप से सत्य होने पर भी मान्यताओं में परस्पर विवाद खड़े हो जाते हैं तथा पूर्ण सत्य ज्ञान का द्वार बंद हो जाता है। जैसे एक व्यक्ति का अहंवादी विचार बन जाता है, उसी प्रकार एक पूरा दर्शन भी आत्मा आदि के विषय में अपने माने हुए किसी पुरुष के विचार को सम्पूर्ण सत्य मानकर प्रकाश की खोज और सत्य की शोध में आगे आंखें ही बन्द कर लेता है। उस विषय में उसका विरोध करने वाले सत्य विचार को भी बिना सोचे समझे वह असत्य मान लेता है। इस प्रकार विभिन्न दर्शनों के बीच असत्यता, अविश्वसनीयता तथा विवाद का वातावरण बन जाता है। नयवाद अंधकार के इस वातावरण को छांटता है तथा प्रकाश की किरणें फैलाता है।

संक्षेप में नय के दो भेद कहे गये हैं—द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नय। संसार में छोटी बड़ी सभी वस्तुएँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं तो सर्वथा

एकरूप भी नहीं हैं। समानता और भिन्नता दोनों अंश सभी में विद्यमान हैं। अतः वस्तु मात्र को सामान्य एवं विशेष उभयात्मक कहा जाता है। मनुष्य की बुद्धि भी कभी वस्तु के सामान्य रूप की ओर झुकती है तो कभी विशेष रूप की ओर। जब वह सामान्यांशगामी होती है, उस समय किया गया विचार द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है। जब वह विशेषांशगामी होती है तब उस समय किया गया विचार पर्यायार्थिक नय होता है। सारी सामान्य दृष्टियाँ एवं सारी विशेष दृष्टियाँ भी एक समान नहीं होती हैं, उनमें भी अन्तर रहता है। उस अन्तर को बताने के लिये इन दो दृष्टियों में भी अवान्तर भेद किये गये हैं। द्रव्यार्थिक के तीन तथा पर्यायार्थिक के चार—इस प्रकार नय के कुल सात भेद बताये गये हैं। द्रव्यार्थिक नय पर्यायों का अथवा पर्यायार्थिक द्रव्यों का खंडन नहीं करता, लेकिन अपनी दृष्टि को प्रधान रखकर दूसरी को गौण समझता है।

एक उदाहरण के माध्यम से सामान्य और विशेष दृष्टि समझें। कल्पना करें कि सहसा समुद्र की ओर दृष्टि चली गई। तब सर्वप्रथम ध्यान सिर्फ पानी पर गया—रंग, स्वाद या स्थान के विस्तार की ओर नहीं। सिर्फ पानी का जो ध्यान हुआ, वह सामान्य दृष्टि है और इस पर द्रव्यार्थिक नय विचार करता है कि पानी एक द्रव्य है। उसके बाद पानी के रंग, स्वाद, स्थान विस्तार, हलचल आदि विभिन्न अवस्थाओं पर ध्यान जाना विशेष दृष्टि है। यह पर्यायार्थिक नय का वस्तु विषय है।

### वस्तु के स्वरूप का सूक्ष्मतर विश्लेषण

प्रमाण वस्तु के अनन्त धर्मों को जानता है तो नय उन अनन्त धर्मों में से एक धर्म को मुख्य रूप से जानता है। नय के ऊपर जो दो भेद—द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक बताये हैं, वस्तु-स्वरूप के सूक्ष्मतर विश्लेषण की दृष्टि से उनके और उपभेद किये गये हैं। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद—नैगम, संग्रह तथा व्यवहार एवं पर्यायार्थिक नय के चार भेद—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूत। इस प्रकार कुल सात प्रकार के नय हो जाते हैं जिनकी विवक्षा में वस्तु स्वरूप का सूक्ष्मतर विश्लेषण संभव होता है।

### सातों नयों की विवक्षा पर एक विहंगम दृष्टि डाली जाये

1. नैगम नय— दो पर्यायों, दो द्रव्यों और द्रव्य व पर्याय की प्रधान व गौण भाव से विवक्षा करने वाले नय को नैगम नय कहते हैं। इस नय के द्वारा वस्तु को अनेक गमों और विकल्पों से जाना जाता है। इस तरह नैगम नय अनेक अर्थों से वस्तु स्वरूप को जानता है अथवा अनेक भावों से वस्तु का निर्णय करता है।

यह नय ऐसा विचार है जो लौकिक रूढ़ि और लौकिक संस्कार का अनुसरण करता है। निगम का अर्थ होता है संकल्प अर्थात् नैगम नय संकल्प को विषय बनाता है। जैसे कोई पूछता है कि बम्बई कौन जा रहा है, तो एक व्यक्ति ने उत्तर दिया—मैं जा रहा हूँ। यहां पर बम्बई कोई जा नहीं रहा है, केवल जाने का संकल्प व्यक्त कर रहा है। यह अपेक्षा नैगम नय की कहलाती है।

2. संग्रह नय— जो विचार भिन्न-भिन्न वस्तु या व्यक्तियों में रहे हुए किसी एक सामान्य तत्त्व के आधार पर सबमें एकता बतावे, उसे संग्रह नय कहते हैं। संग्रह नय एक शब्द के द्वारा अनेक अर्थ को ग्रहण करता है अथवा एक अंश या अवयव का नाम लेने से सर्वगुण पर्याय सहित वस्तु को ग्रहण करता है। जैसे कोई बड़ा आदमी घर के द्वार पर बैठा हुआ नौकर से कहता है—दातौन लाओ। नौकर 'दातौन' शब्द सुनकर मंजन, कूची, जीभी, ब्रश, पानी का लोटा, टॉवेल आदि सब चीजें लेकर आता है। तो दातौन शब्द से सारी सामग्री का संग्रह हुआ—यह संग्रह नय की अपेक्षा है।

3. व्यवहार नय— लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। जो विचार संग्रह नय के अनुसार एक रूप से ग्रहण की हुई वस्तुओं में व्यावहारिक प्रयोजन के लिये भेद डाले—वह व्यवहार नय है। यह नय सब द्रव्यों और उनके विषयों में सदा प्रवृत्ति करने वाला होता है। व्यवहार नय प्रायः उपचार में ही प्रवृत्त हुआ करता है और इसके ज्ञेय विषय अनेक हैं। इसलिये इसको विस्तृतार्थ भी कहा है। जैसे यह कहना कि रास्ता चलता है। यह लौकिक अर्थ है वरना रास्ता स्वयं चलता नहीं है। यह उपचरित विषय है।

इन तीनों नयों का विषय क्रमशः संकुचित होता जाता है। नैगम नय का विषय सर्वाधिक विशाल है जो लोक रूढ़ि के अनुसार सामान्य, विशेष व उभय को मुख्य व गौण भाव से ग्रहण करता है, जबकि संग्रह नय केवल सामान्य को ग्रहण करता है और वह भी नैगम से कम। व्यवहार का विषय और भी कम होता है जो लौकिक व्यवहार का अनुसरण करता है। इसी प्रकार आगे के चारों नयों का विषय भी उत्तरोत्तर संकुचित एवं सूक्ष्मतर होता जाता है।

4. ऋजुसूत्र नय— वर्तमान क्षण में होने वाली पर्याय को प्रधान रूप से ग्रहण करने वाले नय को ऋजुसूत्र नय कहते हैं। यह भूत और भविष्य काल की उपेक्षा करके केवल वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है। जैसे शब्द क्षणिक है।

5. शब्द नय— काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थ भेद का प्रतिपादन करने वाले नय को शब्द नय कहते

हैं। शब्द नय ऋजुसूत्र नय द्वारा ग्रहण किये हुए वर्तमान को भी विशेष रूप से मानता है। जैसे ऋजुसूत्र नय लिंग आदि का भेद होने पर भी उसकी वाच्य पर्यायों को एक ही मानता है, परन्तु शब्द नय लिंग आदि के भेद से पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थ भेद ग्रहण करता है। जैसे सुमेरु पर्वत था, सुमेरु पर्वत है और सुमेरु पर्वत होगा। शब्द नय से तीनों विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

6. **समभिरूढ नय**— पर्यायवाची शब्दों में निरुक्ति के भेद से भिन्न अर्थ को मानने वाले नय को समभिरूढ नय कहते हैं। यह शब्द के रूढ अर्थ पर निर्भर न रह कर व्युत्पत्ति के अर्थ के अनुसार समान अर्थ वाले शब्दों में भी भेद मानता है। जैसे इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची हैं फिर भी इनके अर्थ में अन्तर है। इन्द्र शब्द ऐश्वर्य बोधक है तो पुरन्दर का अर्थ होता है पुरों (नगरों) को नाश करने वाला। यह नय मूल अर्थ को पकड़ता है।

7. **एवंभूत नय**— जो विचार शब्दार्थ के अनुसार क्रिया होने पर ही उस वस्तु को तद्रूप स्वीकार करे, उसे एवंभूत नय कहते हैं। यह नय शब्दों की स्वप्रवृत्ति की निमित्त भूत क्रिया से युक्त पदार्थों को ही उनका वाच्य मानता है। जब ऐश्वर्यवान् क्रियाएँ कर रहा हो तभी उसे इन्द्र कहा जाये या पुरों का नाश कर रहा हो तभी पुरन्दर कहा जाये। तात्पर्य यह है कि एवंभूत नय में उपयोग सहित क्रिया की प्रधानता है। इस नय के मत से वस्तु तभी पूर्ण होती है जब वह अपने सम्पूर्ण गुणों से युक्त हो और यथावत् क्रिया करे।

इन सात नयों में उत्तरोत्तर अधिक सूक्ष्मता है। एवंभूत नय सबसे अधिक सूक्ष्म है। ये सातों नय दूसरी तरह से भी विभक्त किये जा सकते हैं— व्यवहार नय और निश्चय नय तथा शब्द नय और अर्थ नय।

### शब्द और अर्थ की सूक्ष्मता में ज्ञान का प्रकाश

मोक्ष या शिव के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये जिनदेव ने जो शब्द व अर्थ का सम्बन्ध जोड़ा है, वह नय के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। मानो एक व्यक्ति दुकान पर बैठा हुआ है। वह दुकान का मालिक है। बाहर घी का ग्राहक आया तो वह मुनीम को आवाज देता है कि घी का घड़ा ले आओ। मुनीम घी का घड़ा लेकर आता है। अब नय की दृष्टि से घी के घड़े को देखिये। वास्तव में घी का बना हुआ तो घड़ा नहीं होता—वह तो किसी धातु या मिट्टी का होता है। ऐसे प्रसंग पर सेठ के अभिप्राय को नहीं समझने वाला मुनीम उलझन में पड़ सकता है। लेकिन नय की दृष्टि से यह विवाद सुलझ जाता है। लौकिक दृष्टि से घी का घड़ा उसे कहा जाता है जिसमें घी भरा हुआ हो। शब्द और अर्थ के प्रयोग

को समझना होता है। सातों नयों में इसी प्रयोग को सूक्ष्मता से समझाया गया है जिससे वस्तु स्वरूप के एक धर्म को सूक्ष्मतम रीति से विश्लेषित किया जा सकता है।

सामान्य रूप से आप में से कई लोगों को नयवाद का ज्ञान नहीं होगा, किन्तु ध्यान में रखिये कि शब्द एवं अर्थ की सूक्ष्म विवक्षा से ही ज्ञान का प्रकाश स्पष्ट होता है तथा विचार विभेद समन्वित बनता है। आप शास्त्रों की बातों में पर्याप्त रस नहीं लेते हैं—यह खेदजनक स्थिति है। कई भाई नवकारसी का अर्थ भी जानते हैं या नहीं? सूर्योदय के बाद भी अड़तालीस मिनट तक मुंह में कुछ नहीं डालने के व्रत का नाम नवकारसी है। शास्त्रकारों ने संकेत दिया है कि नवकारसी शब्द भी एक नय से सम्बन्धित है। नय की दृष्टि के अनुसार जो अर्थ जानता है, वही सम्यक् ज्ञान का प्रकाश पा सकता है तथा शान्ति के क्षणों का आनन्द उठा सकता है।

शिव अर्थात् मोक्ष का मार्ग पाने के लिये नयवाद के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। शिव-साधना का वह सबल आधार होता है। भौतिक सत्ता सम्पत्ति का त्याग करके मोक्ष मार्ग को अपनाने का प्रयास करें—यह प्रत्येक भव्य आत्मा का कर्तव्य है। किन्तु आपकी आध्यात्मिक तैयारी कैसी है—इसका लेखा-जोखा आप खुद ही लगावें। आपका मन पैसा कमाने में लगा रहता है, स्वादिष्ट भोजन खाने में लगा रहता है या सिनेमा, टीवी आदि देखने में लगा रहता है, लेकिन वह मोक्ष की साधना में कितना और किस रूप में लगा हुआ है—यह अपने अन्तःकरण में झाँक कर जरा देखिये तो सही। अगर वह इस साधना से नहीं जुड़ता है और शब्द, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के विषयों में ही लिप्त रहता है तो वह भले ही चैतन्यमय हो, शरीर पिंड से अपने आपको अलग नहीं कर पाता है। विषय-कषायों में डूबा हुआ मन कभी भी मोक्ष के साथ अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता है।

इसी दृष्टि से तीर्थंकर देवों ने निर्देश दिया है कि यदि तुम अपने मन पर नियंत्रण रखोगे तथा सभी जड़ पदार्थों के प्रति अनासक्त बनते हुए परमात्म-स्वरूप के साथ सम्बन्ध जोड़ोगे तो अवश्य प्रकाश पाने की तुम्हारी खोज सफल बन सकेगी एवं शिवगामी हो सकोगे।

### सम्बन्धों की जोड़-तोड़ और प्रकाश की खोज

सम्बन्धों की जोड़-तोड़ में ही प्रकाश की खोज सफल बनती है। जब संसार के भौतिक पदार्थों से तथा सांसारिकता की वासनाओं से सम्बन्ध तोड़ा

जाता है तो आध्यात्मिकता के साथ एवं शिवसाधना के साथ सम्बन्ध जुड़ता है तथा इसी प्रक्रिया में अंधकार से हटकर प्रकाश में गमन होता है। आसक्ति को छोड़कर अनासक्त बनते हैं तथा ब्रह्मचर्य के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं, तब स्वाभाविक रूप से संसार के बन्धनों से सम्बन्ध टूटता है। इस प्रक्रिया में कर्मों की निर्जरा होती है तथा आत्म-स्वरूप का प्रकाश समुज्ज्वल बनता है।

सम्बन्धों की इस जोड़-तोड़ में जो विवेक पूर्वक शुभता की दिशा में अग्रगामी बनने तथा आत्म-शुद्धि को निखारने का संकल्प लेता है, वह निश्चित रूप से ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार करता है। वही व्यक्ति मोक्ष की ओर भी प्रगति करता है। जहां तक श्रावक के चौथे व्रत का सम्बन्ध है, वह अपनी विवाहिता-धर्मपत्नी के अलावा संसार की समस्त महिलाओं को अपनी माता एवं बहिन के तुल्य समझता है तथा परस्त्री के सेवन को चरम पापपूर्ण। ब्रह्मचर्य की आदर्श रीति से साधना करने वाला इस जीवन में भी दिव्यता प्राप्त करता है तो आगे चलकर मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है क्योंकि ब्रह्मचर्य के पालन से विषय भाव शमित होते हैं और उसके प्रभाव से कषाय भाव भी मन्द होकर वीतरागता की दिशा में साधक की गतिशीलता बढ़ती है।

आप जानते हैं कि जंगली हाथी साधारण रूप से किसी के भी नियंत्रण में नहीं आता है लेकिन चतुर व्यक्ति उसे अपने जाल में फंसा कर वश में कर लेते हैं। जिस जंगल में ऐसे स्वच्छन्द विचरने वाले हाथी होते हैं, उसके आसपास ऐसे चतुर व्यक्ति गहरा खड्डा बनाते हैं और पतली-पतली खपच्चियों से उसको इस तरह ढक देते हैं कि समतल जमीन जैसी दिखाई देती है। फिर वहां पर उसके प्रलोभन के साधन लगा देते हैं। अपनी मस्त चाल में हाथी उधर आता है और भूल से खड्डे में उतर जाता है। फिर कई तरीकों से उसे वश में कर लेते हैं। उसी प्रकार काम में मस्त हाथी को भी विवेकपूर्ण चतुराई से वश में किया जाता है। संसार में रहने वाले प्राणियों में काम का भाव बड़ा सशक्त होकर पैठा रहता है और उसी के असर से पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर यह मानव भौतिकता में बेभान पड़ा रहता है। जो मानव आत्म-स्वरूप एवं शिव-स्वरूप को अपने अन्तःकरण में अधिष्ठित कर लेता है, वह काम के मद्दोन्मत्त हाथी को ब्रह्मचर्य की विधियों से अपने वश में करने की चतुराई को अवश्य ही सार्थक बनाता है। तब वह अपना सत्त्व संचित करके उस शक्ति को मोक्षगामिता के लक्ष्य के प्रति समर्पित कर देता है। सम्बन्धों का यह मोड़ ही उसे प्रकाश की दिशा में अग्रसर बनाता है।

## प्रकाश मिलेगा तो विचार समन्वित होंगे

ज्यों-ज्यों मानव का जीवन अशुभता से अपना सम्बन्ध तोड़कर शुभता के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता जायेगा, त्यों-त्यों उसकी प्रकाश की खोज सर्वदा और सर्वत्र क्रियाशील बन जायेगी। फिर जितने अंशों में सम्यक् ज्ञान का प्रकाश मिलता जायेगा तो तदनुसार विचारों का वैषम्य और संघर्ष मिटता जायेगा तथा भिन्न-भिन्न विचारों के समन्वय की प्रक्रिया में सत्य का प्रकाश तीव्रतर बनता जायेगा। सम्यक् ज्ञान को सूक्ष्मतर बनाने का मार्ग आप जान चुके हैं, जो नयवाद का मार्ग है। इसकी सहायता से ही वस्तु स्वरूप के एक पहलू की गहराई में प्रवेश होता है तथा उसकी विविध अपेक्षाओं के संदर्भ में उसका यथार्थ रूप स्पष्ट होता है।

नयवाद की गहराई को सामान्य व्यक्ति भी समझ ले- उस दृष्टि से एक उदाहरण लें कि एक प्रश्न से उसकी गहरी तह में कैसे उतरा जा सकता है। किसी ने एक व्यक्ति से पूछा- आप कहां रहते हैं? उसने उत्तर दिया- मैं लोक में रहता हूँ। (अविशुद्ध नैगम नय) फिर उनका प्रश्नोत्तर इस रूप में चलता है। प्रश्न- लोक तो तीन हैं- ऊर्ध्व लोक, अधोलोक एवं तिर्यक् लोक। क्या आप तीनों ही लोकों में रहते हैं? उत्तर- मैं केवल तिर्यक् लोक में ही रहता हूँ। (विशुद्ध नैगम नय) प्रश्न- तिर्यक् लोक में जम्बू द्वीप से लेकर स्वयंभूमण समुद्र पर्यन्त असंख्य द्वीप समुद्र हैं, तो क्या आप उन सभी में रहते हैं? उत्तर- मैं जम्बू द्वीप में रहता हूँ। (विशुद्धतर नैगम नय) प्रश्न- जम्बू द्वीप में एरावत आदि दस क्षेत्र हैं, क्या आप उन सभी में रहते हैं? उत्तर- मैं भरतक्षेत्र में रहता हूँ। (विशुद्धतर नैगम नय) प्रश्न- भरत क्षेत्र के दो खंड हैं- दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध- तो क्या आप दोनों में रहते हैं? उत्तर- मैं उत्तरार्ध भरत क्षेत्र में रहता हूँ। (विशुद्धतर नैगम नय) प्रश्न- उत्तरार्ध भरत क्षेत्र में तो अनेक ग्राम नगर हैं- क्या आप सभी में रहते हैं? उत्तर- मैं पाटलीपुत्र में रहता हूँ। (विशुद्धतर नैगम नय) प्रश्न- पाटलीपुत्र नगर में अनेक घर हैं, क्या आप सभी में रहते हैं? उत्तर- मैं देवदत्त के घर में रहता हूँ। (विशुद्धतर नैगम नय) प्रश्न- देवदत्त के घर में अनेक कक्ष हैं- क्या आप सभी में रहते हैं? उत्तर- मैं मध्य के कक्ष में रहता हूँ। इस प्रकार पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से विशुद्धतर नैगम नय की विचार-प्रक्रिया में निवास की स्थिति की गहराई से विश्लेषण और समीक्षण होता गया।

वस्तुतः विचार-समन्वय का जब लक्ष्य निर्धारित किया जाये तो पहले प्रस्तुत विचारों के गहरे विश्लेषण एवं समीक्षण में उतरना होगा ताकि उस विचार की छनाई हो और सूक्ष्मता का आभास मिले। नयवाद की प्रक्रिया से ही यह

संभव हो सकता है। किसी भी विचार की सूक्ष्मता में उतरने के बाद उस विचार का कितना मूल्य है—उसमें कितना वजन है—यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस विचार में सत्यांश कितना है? उस स्तर पर वह विचार विवाद का विषय नहीं रह जाता है। वादी और प्रतिवादी दोनों के समक्ष विचार की वास्तविकता सुप्रकट हो जाती है। जब दोनों पक्ष किसी विचार के मूल्यांकन पर सहमत या एकमत हो जाते हैं, तब विचार समन्वय का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। पूर्ण सत्य के साक्षात्कार का लक्ष्य विचार समन्वय के मार्ग से होकर जाने पर ही प्राप्त हो सकता है।

### हठवाद को छोड़ें, नयवाद को जोड़ें

विचारों की मात्र सतह पर चलने से हठवाद जोर पकड़ता है। मात्र सतह पर वही चलता है जो स्वयं अज्ञान के अंधकार में भटकता है लेकिन अपने को पूर्ण ज्ञानी मानता है तथा अपने विचार को पूर्ण सत्य। उसके साथ अपने अभिमान को जोड़ लेता है। फिर उसका हठ पूरी तरह कट्टरवादी हो जाता है, जो किसी भी सम्यक् ज्ञान या सत्य के समक्ष झुकना तक भूल जाता है। यही अज्ञानी और अभिमानी मनोवृत्ति विचारों के विवाद तथा संघर्ष का कारण बनती है। विचार संघर्ष में सत्य को जानने की चाह नहीं होती है, बल्कि चाहे जैसी भी हो अपनी मान्यता को ही पूर्ण सत्य मानकर पूर्ण सत्य दिखाने और साबित करने की हठवादिता होती है। कोई भी हठग्रस्त विचार केवल अंधकार में भटकाने वाला ही होता है। उससे सत्य का प्रकाश कभी भी नहीं दिखाई देता है।

इस संदर्भ में आज के विभिन्न सम्प्रदायों तथा मत-मान्यताओं की हठवादिता पर नजर डालें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि विचारों की इस खींचतान में कहीं भी सत्य नहीं है, कहीं भी प्रकाश नहीं है। यह बात नहीं कि विभिन्न विचारों में सत्यांश न हों, लेकिन सत्यांश को ही जब पूर्ण सत्य मानने का हठाग्रह किया जाता है तो वह सत्यांश मिथ्या हो जाता है। फिर मिथ्या के लिये कितना ही संघर्ष क्यों न किया जाये—उसकी ओट से सत्य का दर्शन नहीं किया जा सकता।

मनुष्य की चिन्तन-प्रक्रिया के अनुसार विचार-विभेद संभव है बल्कि विविध विचारों तथा विचार प्रणालियों से विचार मंथन होता है और उस मंथन में से सत्य का नवनीत निकाला जा सकता है। लेकिन ऐसा विचार-संघर्ष से नहीं, बल्कि विचार-समन्वय से ही हो सकता है। इस स्थिति में अन्तर यह होगा कि सत्य के लिये अनुराग होगा, किसी विशेष विचार के प्रति मोहदृष्टि नहीं।



जैसे किसान गेहूँ की फसल में से भूसी को अलग करता है तो उसका उद्देश्य यही होता है कि वह साफ गेहूँ को अलग कर ले। यह नहीं कि भूसी मेरे खेत की है सो उसे गेहूँ के साथ मिलाये ही रखूं। वह गेहूँ और भूसी दोनों के महत्त्व को भिन्न-भिन्न स्तर पर भली-भांति समझता है। इसी कारण दोनों को अलग-अलग करके गेहूँ को अपने घर के भीतर कोठे में सुरक्षा के साथ रखता है। वह भूसी को कोठे में नहीं भरता है। उसी बुद्धि को यदि प्रत्येक विचारवान मानव अपनावे तो वह विभिन्न विचारों की फसल में से गेहूँ और भूसी की अलग-अलग छंटाई बड़ी ही चतुराई से कर सकता है और उस छंटाई का ज्ञान साधन है—नयवाद। इस कारण नयवाद को गहराई से समझें तथा विविध विचारों के अंधकार में से निकल कर सर्वत्र प्रकाश खोजें और प्रकाश को पावें।

### सर्वत्र प्रकाश खोजेंगे तो प्रकाश अवश्य मिलेगा

नयवाद की प्रक्रिया में अपने ज्ञान को जब चतुराई में ढाल लेंगे तो आप काम के मदमस्त हाथी को वश में करके सांसारिकता से अपना सम्बन्ध तोड़ सकेंगे तथा सम्यक् ज्ञान के साथ अपना सम्बन्ध शिव स्वरूप के साथ जोड़ सकेंगे। इस सारी प्रक्रिया में सर्वत्र प्रकाश खोजने की निष्ठा और लगन बनी रहनी चाहिये तथा भिन्न-भिन्न विचारों में सद्भाव से सत्यांश खोजने की चेष्टा करनी चाहिये। किसी भी विचार के प्रति मोह दृष्टि नहीं, खोज दृष्टि होनी चाहिये, ताकि उसमें रहा हुआ प्रकाश और सत्य ही हमारी दृष्टि में आवे और वह प्रकाश और सत्य ही पूर्ण प्रकाश एवं पूर्ण सत्य को प्राप्त करने में हमारा मार्गदर्शक बने। सर्वत्र प्रकाश खोजेंगे तो निश्चित मानिये कि प्रकाश भी अवश्य मिलेगा।

## विधि-निषेध दृष्टि

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

विधि-निषेध दृष्टि किसी भी जीवन या कार्य संचालन का प्राण होती है। इतना ही नहीं उस जीवन या कार्य संचालन की प्रगति भी इसी दृष्टि पर आधारित रहती है। यह इस संसार का प्राकृतिक रूप से भी एक अटल नियम है। इसी नियम के दो पहलू हैं— विधि और निषेध। विधि का अर्थ है जिसका विधान किया गया है। यह विधान प्राकृतिक नियमों द्वारा भी स्थापित है तो प्रगति के सम्बन्ध में महान् पुरुषों तथा वीतराग देवों द्वारा भी स्थापित किया हुआ है। जिन कार्यों का विधान किया गया है, उनका समावेश विधि पक्ष में आ जाता है।

विधि का प्रतिपक्ष होता है निषेध। जिन कार्यों को करने के लिये कहा गया है, उनसे इतर सभी कार्य प्रतिपक्ष में माने जायेंगे। सामान्य रूप से यह समझा जा सकता है कि वे सभी कार्य निषेध पक्ष में आते हैं। फिर भी कई कार्य ऐसे होते हैं जिनका स्पष्टतः निषेध किया जाता है और कई कार्य ऐसे होते हैं जिनका विधान नहीं किये जाने के कारण निषिद्ध माने जाने जाते हैं।

विधि-निषेध की एक प्रकार से संस्थापित व्यवस्था होती है किन्तु इस व्यवस्था को समझने वाली यदि दृष्टि न हो तो वह व्यवस्था सुघड़ता के साथ कार्यान्वित नहीं होती है। इसी कारण दृष्टि का विशेष महत्त्व है। चारों ओर समझें कि सूरज की रोशनी फैली हुई है, लेकिन कोई अपनी आंखों को मूंद कर ही चले तो उसे उस रोशनी का लाभ कहां से मिलेगा? हां, दृष्टि यदि स्पष्ट और सजग हो तो अंधेरे में भी मार्ग से भटकने की भूल से बच सकते हैं। विधि-निषेध की व्यवस्था संस्थापित है, फिर भी दृष्टि की सजगता जीवन या कार्य संचालन के विषय में प्रतिपल सतर्क रहती हुई सुव्यवस्थित प्रगति साध सकती है।

## विधि-निषेध दृष्टि का अर्थ है कर्तव्यबोध

ज्ञानीजन कहते हैं कि विधि का अर्थ विशेष रूप से जीवन में करने योग्य कार्यों से होता है। इस विचार से विधि का अर्थ होगा कर्तव्य अथवा करणीय कार्य। तदनुसार निषेध का अर्थ होगा—वे कार्य जो नहीं किये जाने चाहिये यानी अकर्तव्य अथवा अकरणीय कार्य। यों विधि निषेध दृष्टि का अर्थ किया जायेगा कर्तव्य बोध से। यह माना जायेगा कि जिसकी विधि-निषेध दृष्टि सजग है, उसका कर्तव्य-बोध स्पष्ट है।

मनुष्य के जीवन में करने लायक कार्यों को सिद्ध करने से या कि अपनी कर्तव्य निष्ठा से लक्ष्यपूर्ति के साथ अपनी आत्मा के मूल स्वरूप को भी प्रकट किया जा सकता है। चाहे कोई भी लक्ष्य या उद्देश्य छोटा या बड़ा हो यदि उसमें विधि-निषेध दृष्टि अथवा कर्तव्य निष्ठा सक्रिय रहे तो उसमें सफलता निश्चित मानी जा सकती है। यह तो मनुष्य के प्रबुद्ध जीवन की बात है, किन्तु प्राकृतिक दृष्टि से प्रत्येक प्राणी भी सजग विधि-निषेध की भावना से चलता है। किन्हीं अंशों में यह कहा जा सकता है कि प्रकृति के सम्बन्ध में विधि-निषेध का पालन मनुष्य की अपेक्षा भी दूसरे छोटे प्राणी अधिक व्यवस्थित रूप से करते हैं।

यह कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि विधि-निषेध की व्यवस्था पर जीवित प्राणियों का जीवन ही निर्भर नहीं होता, बल्कि मनुष्य द्वारा संचालित मशीनों, संस्थानों या अन्य प्रबन्धों का कार्य भी विधि-निषेध पर ही चलता है। एक ड्राइवर एक कार को चलाता है तो वह जानता है कि उसे ढंग से चलाने के लिये क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। यदि इसके विपरीत वह चले तो अपने वाहन को दुर्घटनाग्रस्त ही बनायेगा। तेज गति से दौड़ाते हुए उसके लिये निषेध दृष्टि यह है कि वह यकायक ब्रेक नहीं लगावे, क्योंकि उसकी कार पीछे से आ रहे वाहन से टकरा सकती है। वह अगर उस निषेध दृष्टि का पालन नहीं करे तो क्या होगा ?

वस्तुतः विधि-निषेध दृष्टि की आवश्यकता जीवन में किसी विशेष अवसर पर या किसी विशेष कार्य संचालन के लिये ही नहीं होती है, अपितु गतिशील इस जीवन में उसकी प्रतिपल-प्रतिक्षण अपेक्षा रहती है। जिस पल भी यह दृष्टि बन्द हुई कि समझिये, कोई दुर्घटना घट सकती है। कार के टकराने की दुर्घटना तो सामने दिखती है इस कारण उसका स्पष्ट आभास हो जाता है किन्तु विधि-निषेध दृष्टि की सुषुप्तता में जीवन की कितनी हानि होती है—उसका आकलन करना भी एक कठिन कार्य है। इस आकलन के अभाव में ही जीवन

के विभिन्न क्षेत्रों में पतन की प्रक्रिया चलती रहती है और मानव को उसका आभास तक नहीं होता।

विधि-निषेध दृष्टि की सतत जागरूकता का अर्थ यह है कि मनुष्य को अपने जीवन में स्पष्ट रूप से अपने कर्तव्यों का बोध हो, तदनन्तर उन कर्तव्यों के प्रति उसकी अटूट निष्ठा हो एवं वह बोध और निष्ठा उसके आचरण में—उसके प्रत्येक कार्य संचालन में अभिन्न रूप से मिश्रित रहे। एक कर्तव्यनिष्ठ जीवन ही विधि-निषेध दृष्टि से पूर्णतया सजग रह सकता है।

### जीवन की कल्याण साधना में विधि-निषेध दृष्टि

विधि-निषेध दृष्टि का सम्यक् रीति से किया गया पालन जीवन की कल्याण साधना का तो मूल होता है। उससे जिस प्रखर आत्मिकशक्ति की उपलब्धि होती है, उसके प्रभाव से स्व-पर कल्याण के महान् कार्य सिद्ध होते हैं। ये कार्य जितने लोकोपकारी होते हैं, उतना ही निजात्मा पर चढ़ा हुआ कर्मों का मैल धुलता है। उसके अन्तराय कर्म नष्ट होते हैं तथा पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है, जिनकी सहायता से कल्याण-साधना की सुदृढ़ता अधिकाधिक पुष्ट बनती है। इससे मनुष्य विकटतम परिस्थितियों में भी सुख शान्ति और धैर्य का सम्बल लेकर आगे से आगे बढ़ता रहता है। यह इस विधि-निषेध दृष्टि का ही सुफल होता है।

परमात्म-स्वरूप को प्राप्त सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी आत्माओं ने जो जगत् एवं जीवन कल्याण के लिये विधान किया है अर्थात् जिन कर्तव्यों का तद् हेतु निर्देश दिया है, उसको यदि मनुष्य अपने जीवन में प्रमुखता के साथ स्थान दे तो वह अपने इस जीवन का स्वयं विधाता एवं उन्नायक हो सकता है। विधि-निषेध रूप में निर्देशित आचरण से मानव का आत्म-स्वरूप विकसित होता है और जीवन कल्याण का उसका पुरुषार्थ सफल बनता है। उन सर्वज्ञ आत्माओं ने विधि-निषेध का निर्देश किसी व्यक्तिविशेष या वर्गविशेष के लिये ही नहीं किया है, उन्होंने तो व्यापक रूप से जगत् के समस्त जीवों को जागरूक बनाया है कि यदि कोई भी इन विधि-निषेध के निर्देशों का सम्यक् रीति से पालन करेगा तो उसकी जीवन कल्याण की साधना सफलीभूत हो सकेगी। यही नहीं, उन्होंने स्पष्ट कथन किया कि जो कोई भव्य आत्मा अपने सत्पुरुषार्थ का पूर्णतः प्रयोग करके सर्वज्ञता के स्तर तक पहुँच जायेगी, वह उसी तरह विधि की विधाता बन जायेगी। विधि-निषेध के इन निर्देशों का सर्वकालीन एवं सार्वभौमिक महत्त्व है।

विधि-निषेध के निर्देशों एवं परिभाषाओं को इसी तरह गहराई के साथ समझने की जरूरत है। अध्ययन, मनन एवं चिन्तन की प्रक्रियाओं से गुजरते हुए विधि-निषेध का मर्म जान गये तो समझिये कि आपने कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, जड़-चेतन आदि परस्पर सभी विरोधी स्वरूपों का मर्म जान लिया है। तथा यह भी जान लिया है कि कौन-सा स्वरूप आचरणीय है तथा कौन-सा स्वरूप त्याज्य? एक प्रकार से इसी विधि-निषेध पर ही ज्ञेय, उपादेय एवं हेय का सिद्धान्त आधारित है। वस्तु स्वरूप को सबसे पहले जानिये और जानने के बाद यह जानिये कि उनमें से कौन-से स्वरूप उपादेय यानी स्वीकार करने योग्य हैं तथा कौन-सा हेय स्वरूप अर्थात् त्यागने योग्य है। इसी ज्ञान को आचरण में उतारिये अर्थात् स्वीकार करने योग्य बातों को ग्रहण कर लीजिये तथा त्यागने योग्य बातों को छोड़ दीजिये। यही तो विधि-निषेध है। सम्यक् ज्ञान से ही यह विदित हो सकेगा कि विधि-निषेध क्या है? इसी ज्ञान से विधि-निषेध दृष्टि की प्राप्ति होगी। फिर जिनका विधान है, उनका कर्तव्य मानकर पालन कीजिये तथा जिनका निषेध है, उनका असर अपने जीवन व कार्य संचालन में कहीं भी किसी भी रूप में मत आने दीजिये। ऐसा आचरण-कर्ता निश्चित रूप से अपने जीवन की कल्याण-साधना को सफल बना कर रहेगा।

### क्या होती है विधि तो क्या होगा निषेध ?

जीवन का संशोधन करके उसे विशुद्ध बनाने का विधान है कि अहिंसा का पालन किया जाये, सत्य को अपनाया जाये, अस्तेय व्रत लिया जाये, ब्रह्मचर्य की साधना की जाये तथा अपरिग्रह व्रत की मर्यादाएँ स्वीकार की जाये—तो यह विधि हो गई। इसका निषेध होगा कि हिंसा न की जाये, झूठ न बोला जाये, चोरी न की जाये, कुशील सेवन न किया जाये तथा परिग्रह-मूर्च्छा न बढ़ाई जाये। यह एक स्वाभाविक स्थिति होती है कि जिस रूप में अहिंसा को जीवन में स्थान दिया जायेगा, उस रूप में हिंसा का त्याग होगा ही। वास्तव में विधि और निषेध एक ही बात के दो पहलू हैं। जो स्वीकार करना है, उसके विरोधी भाव को छोड़ना है—यह प्रक्रिया एक प्रकार से साथ-साथ में चलने वाली होती है।

विधि-निषेध, उसकी दृष्टि तथा उसके आचरण के सम्बन्ध में शास्त्रों में विस्तृत विवेचन किया गया है। इसको जानने के लिये भी प्रमाण और नय की पद्धति से विश्लेषण एवं समीक्षण किया जाये तो सूक्ष्म वस्तुस्थिति भी सुगमता पूर्वक समझी जा सकती है। सामान्य जनों को समझाने के लिये एक स्थूल दृष्टान्त का सहारा लेंगे। एक रोगी अपनी चिकित्सा के लिये एक वैद्यजी के

पास गया। उन्होंने उसे औषधि देकर भोजन के बारे में विधि-निषेध की दृष्टि बतायी कि वह दूध और दलिया ही ले। जो लेना है वह विधि और बाकी सारे पदार्थ निषेध के वर्ग में चले गये। इसको ही यदि वैद्य जी इस रूप में कहते हैं कि तेल, गुड़, खटाई नहीं खाना है, बाकी जो रुचि हो वह ले सकते हो— तो इस स्थिति में निषेध प्रमुख हो गया और विधि गौण। इसी प्रकार साधना के मार्ग के विषय में भी वीतराग देवों ने विधि-निषेध की दृष्टि दी है, जहां कई बार निषेध की भी प्रमुखता रहती है। जैसे जहां तक हो अठारह पाप का सेवन नहीं किया जाये आदि। अधर्मपूर्ण कार्य कैसे छोड़े जायें, जड़त्व भाव को कैसे घटाया जाये या कि पापपूर्ण प्रवृत्तियों से कैसे दूर हटावें— यह सब निषेध दृष्टि के अधीन आता है।

यथार्थ रूप में देखें तो सांसारिकता में रमे हुए मानव जीवन के संशोधन का पहला क्रम तो निषेध दृष्टि से ही चलता है। पापपूर्ण वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का क्रमशः ही सही, पर त्याग पहले शुरू करना होता है क्योंकि उस त्याग पर ही शुभ वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का अंगीकार करना स्थिरता प्राप्त कर सकता है। निषेध के साथ-साथ विधि और विधि-निषेध साथ-साथ में चलता रहता है। यह उस दृष्टि का काम है कि कब किस को प्रमुख मानना चाहिये और कब किसको गौण? यह विवेक जीवन में आचार-विचार की अवस्था तथा सामयिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

### विधि-निषेध दृष्टि की एकरूपता

यों लगता है कि विधि अलग है और निषेध अलग है, क्योंकि जो विधि है उसके ठीक विपरीत निषेध होता है। एक कर्तव्य या करणीय है तो दूसरा अकर्तव्य और अकरणीय होता है। किन्तु वास्तविकता में दोनों पक्षों में एकरूपता ही होती है। जैसे वैद्य जी का निर्देश कि अमुक पदार्थ खाना है अथवा अमुक पदार्थ नहीं खाना है— उन दोनों का उद्देश्य तो एक ही होता है कि रोगी स्वास्थ्य लाभ कर ले। वह लाभदायक पदार्थ खाए और हानिकारक पदार्थ न खाए— इसका उद्देश्य और परिणाम की दृष्टि से एक ही प्रयोजन है। इसको दही मथने की रस्सी के उदाहरण से समझिये। दही में से मक्खन निकालने के लिये मथनी और रस्सी का प्रयोग किया जाता है। मथनी पर लपेटी हुई रस्सी एक ही होती है लेकिन जब मथने वाला मथनी को घुमाता है तो ऐसा लगता है कि वह दोनों हाथों से दो रस्सियों को घुमा रहा है। इसी प्रकार विधि और निषेध उस रस्सी के समान है जो होती एक है मगर दिखलाई दो देती है। फिर

दोनों हाथ भी दो विपरीत दिशाओं में घूमते हैं। जब एक हाथ मथने वाले की तरफ होता है तो दूसरा हाथ ठीक विपरीत दिशा में मथनी की तरफ होता है और बारी-बारी से दोनों हाथ इधर-उधर घूमते रहते हैं। इसी प्रकार साधना में कभी विधि का हाथ पास में यानी प्रमुख और निषेध का हाथ दूर यानी गौण होता है तो कभी निषेध का हाथ पास में यानी प्रमुख और विधि का हाथ दूर यानी गौण होता है। किन्तु दोनों हाथों का प्रयोजन एक ही होता है कि जल्दी से जल्दी ज्यादा से ज्यादा मक्खन निकले अर्थात् मंथन फलदायी बने। इसी प्रकार विधि और निषेध दोनों दृष्टियों का एक ही लक्ष्य होता है कि जीवन में अधिकाधिक शुद्धता आवे तथा आत्म-स्वरूप की उज्ज्वलता प्रखरता के साथ प्रकाशित हो।

यदि विधि और निषेध के दोनों छोर विपरीत दिशाओं में न चलें तो लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी। यदि मथने वाली रस्सी के दोनों छोरों को पकड़े हुए दोनों हाथ एक ही दिशा में साथ-साथ चलें—विपरीत दिशाओं में अलग-अलग नहीं—तो क्या दही मथा जाकर मक्खन निकल सकेगा? उसी प्रकार विधि और निषेध विरोधी पक्ष दिखाई देते हुए भी साधना के एक-रूप साधन ही होते हैं। समझें कि एक व्यक्ति किन्हीं विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षण दे रहा है। वह व्यक्ति धर्म के तत्त्वों का जानकार है। उसको आज्ञा दी गई कि प्रारंभिक विद्यार्थियों को छोड़कर वह प्रौढ़ व्यक्तियों को धार्मिक ज्ञान सिखावे। वह विद्यार्थियों को पढ़ाना छोड़कर प्रौढ़ों को पढ़ाने लग जाता है तो प्रौढ़ों को पढ़ाना विधि रूप हो गया और उस समय में विद्यार्थियों को पढ़ाना निषेध रूप हुआ लेकिन उद्देश्य रूप धार्मिक शिक्षण देना तो एकरूप में ही देखा जायेगा। वैसे ही वीतराग देवों ने बताया है कि अणुव्रत भी एक प्रकार से विधि और निषेध दोनों रूपों में आते हैं। चौथे व्रत में स्वदार सन्तोष विधि रूप में है तो परस्त्री त्याग उसी व्रत के दूसरे पहलू के रूप में निषेध पक्ष में है।

जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत को विशेष महत्त्व दिया गया है। कहा गया है कि जो चौथा व्रत स्वीकार करके निष्ठापूर्वक पालता है, वह एक प्रकार से अन्य सभी पापों को टालता है। किन्तु इस क्षेत्र में आज के मानव जीवन में अधिक कमजोरी दिखाई देती है क्योंकि वह प्रकृति के नियमों की भी जान-बूझकर उपेक्षा करने लग गया है जबकि दूसरे नासमझ प्राणी मैथुन-सेवन के क्षेत्र में प्राकृतिक नियमों का भली-भांति पालन करते हैं। यह मनुष्य का एक प्रकार से पशु-पक्षियों के स्तर से भी नीचे उतर जाना है। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य को सर्वाधिक महत्त्व दिये जाने की नितान्त आवश्यकता भी है। विषय-वासनाओं के

अधीन बनकर आज का मानव अपने ही जीवन की शुद्धता तथा आत्म-स्वरूप की श्रेष्ठता का शत्रु हो रहा है और महापापों का भागीदार बनकर अनन्तकाल तक संसार चक्र में परिभ्रमित होते रहने की अपनी परिस्थिति को बना रहा है। यह उसको एक प्रकार से असाध्य रोग लग गया है अतः जितनी गहराई से वह विधि-निषेध दृष्टि की पृथक्ता एवं एकरूपता को समझेगा तथा जितनी निष्ठा से इस दृष्टि को अपने जीवन में कार्यान्वित करेगा, उतना ही वह अपने जीवन की गति को शुभ दिशा में मोड़ सकेगा।

### कर्तव्य पालन में सब कुछ समाहित है

विधि-निषेध की दृष्टि कहिये या कर्तव्यों की पालना—वह ऐसी सबल और सुन्दर प्रक्रिया है जो यदि निर्बाध रूप से चलती रहे तो जीवन की शुभ संस्कृति एवं प्रगति का सब कुछ उसमें समाहित हो जाता है। जीवन में मात्र कर्तव्य पालन का ही ध्यान रखा जाये और अन्य किसी बात का नहीं, तब भी आत्मा की विकास यात्रा में कहीं भी कोई अवरोध पैदा नहीं होगा। इस संसार में दो शक्तियों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और वह संघर्ष है अच्छाइयों का और बुराइयों का या दार्शनिक भाषा में कहें तो सद् का और असद् का। यह संघर्ष अपने आप नहीं चलता है। इसे मुख्यतः मानव जीवन ही चलाता है। किसी भी जीवन में इन दोनों शक्तियों का आमना सामना होता रहता है और इसी कारण पग-पग पर विधि-निषेध दृष्टि की आवश्यकता होती है कि वह किस शक्ति को विधि रूप माने तथा किस शक्ति को निषेध रूप? यह दृष्टि इस लक्ष्य की सम्पूर्ति के रूप में जब स्पष्ट बन जाती है कि आत्म-स्वरूप की परम निर्मलता ही साध्य है तब उसमें यथार्थता आ जाती है। इस यथार्थ दृष्टि के अनुसार कार्य करना या साधना करना—यही कर्तव्य का मूल है।

तीर्थकरों और वीतराग देवों-महापुरुषों और महात्माओं ने जो अपने जीवन में सर्वोच्च आत्म-विकास सम्पादित किया, वह साध्य साधन की एकरूपता तथा विधि-निषेध की सम्यक् दृष्टि के साथ कर्तव्य पालन से ही संभव हुआ। अपने आत्म-विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर ही उन्होंने अपने ज्ञान, अनुभव, चिन्तन तथा ध्यान का निचोड़ इस संसार को कल्याण की करुणामय भावना से दिया है कि निश्चिन्त और निर्भय होकर विधि-निषेध के निर्देशों का पालन करते रहो। जीवन में कोई भी सिद्धि असंभव या असाध्य नहीं रहेगी। संक्षेप में सोचें तो इस रूप में कर्तव्य पालन ही उनका सम्पूर्ण मार्गदर्शन है। कर्तव्य पालन की बात पर ही जब इतना बल दें तो किसी के मन में इस



प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि क्या-क्या कर्तव्य हैं और क्या-क्या अकर्तव्य हैं? इसे कोई कैसे जाने? प्रश्न उचित है।

किसी सामान्य बात को समझने के लिये भी आखिर कुछ समझ तो जगानी ही पड़ती है और उपयोग ही तो जीव का मूल गुण होता है। तदनुसार विचार शक्ति प्रत्येक मानव में होती है लेकिन उसका जागरण न्यूनाधिक होता है। सामान्य स्तर से भी विचार किया जाये तो वीतराग देवों द्वारा विधि-निषेध के निर्देशों के रूप में कर्तव्याकर्तव्य की भली-भांति जानकारी ली जा सकती है कि विधि-निषेध की दृष्टि खुली और स्पष्ट रखी जाये। वीतराग वाणी का ऐसा तीव्र प्रकाश फैला हुआ है कि यदि दृष्टि की स्थिरता तथा कर्तव्य बोध की सजगता बराबर बनाये रखी जाये तो कर्तव्याकर्तव्यों को पहचानना तथा विधि-निषेध की पालना करना किसी भी रूप में कठिन नहीं रहता है। इसीलिये कहा गया है कि आत्म-विकास की दृष्टि से कर्तव्य पालन में ही सब कुछ समाहित है।

### पग-पग पर कर्तव्य निर्धारण की प्रक्रिया

आप सब लोगों के अनुभव में किसी न किसी रूप से यह तथ्य अवश्य आता होगा कि सम्यक् ज्ञान का प्रकाश हो और स्थिर दृष्टि व कर्तव्य निष्ठा सक्रिय रहे तो कर्तव्य निर्धारण का कार्य कठिन नहीं होता है—आत्मा की आवाज के रूप में प्रतिक्षण और पग-पग पर कर्तव्य निर्धारण की दृष्टि से अन्तर्निर्देश मिलता रहता है।

इसे आप दो प्रकार से देखें—एक तो सिद्धान्त की दृष्टि से तथा दूसरे व्यवहार की दृष्टि से। सिद्धान्त रूप से पहले यह जाना जाये कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किन-किन के प्रति मानव के क्या-क्या कर्तव्य होते हैं जिनका मानवीय कर्तव्यों के रूप में उल्लेख किया जाता रहा है? यह जानकारी कठिन नहीं है। सन्तों के संसर्ग में आवें, स्वाध्याय करें तथा वीतराग वाणी को श्रवण करके धर्म के विभिन्न पहलुओं पर निरन्तर चिन्तन-मनन करें तो अपना कर्तव्य बोध पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। यों यहां यह भी समझ लें कि धर्म और कर्तव्य एक ही बात होती है। कर्तव्य होता है, वही धर्म है। धर्म के जो मूल सिद्धान्त हैं, उन्हें ही कर्तव्यों के विविध प्रकारों के रूप में ले सकते हैं। आचरणीय धर्म सिद्धान्त ही करणीय कर्तव्य हैं। अब निर्धारण की व्यावहारिक प्रक्रिया को समझ लीजिये। सड़क पर जब बत्तियों की रोशनी हो तो चलते समय जिस प्रकार एक-एक कदम पर अपने चलने के कर्तव्य का निर्धारण करना होता है कि किस प्रकार स्वस्थ चाल से चला जाये और किस प्रकार की बेढंगी चाल से न चला जाये,

उसी प्रकार जीवन के विशाल पथ पर भी एक-एक पग आगे बढ़ाते हुए पथ की दशा और चारों ओर की वातावरण-गत परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ही तात्कालिक कर्तव्य का निर्धारण करना होता है कि क्या करने से और क्या नहीं करने से गति स्वस्थ बनी रहेगी और अवरुद्ध नहीं होगी। चाहे सांसारिक कार्यों का क्षेत्र हो अथवा आध्यात्मिकता का क्षेत्र—वस्तुतः कर्तव्य निर्धारण की प्रक्रिया को स्वयं के ज्ञान और अनुभव के आधार पर चलाना होता है।

### विधि-निषेध दृष्टि या कर्तव्यनिष्ठा स्वतःस्फूर्त हो

भावनात्मक रूप से मन-मस्तिष्क का निर्माण इस रूप में हो अथवा किया जाये कि विधि-निषेध दृष्टि या कर्तव्यनिष्ठा स्वतःस्फूर्त बने और बनी रहे। कर्तव्य पालन की आत्मप्रेरणा ही इस प्रकार की सुदृढ़ता को जन्म देती है, जो कभी थकती नहीं—टूटती नहीं। अपनी आत्मा जब तक कर्तव्यों के प्रति एकाकार होकर जुड़ती नहीं है, तब तक उनका पालन अडिग नहीं बन सकता है। ऐसे अडिग कर्तव्यपालन की एक अंग्रेज बालक की कथा बड़ी प्रेरणाप्रद है। इस बालक का नाम था केसाबियंका। उसके पिता एक जहाज के कप्तान थे। उसे हमेशा यह सिखाया गया था कि बड़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिये। उसने उसे एक कर्तव्य के रूप में अपने हृदय में मान्यता दे दी थी। एक बार उसके पिता उसको भी जहाज की यात्रा में अपने साथ ले गये। उन्होंने उसे जहाज के एक खास स्थान पर खड़ा कर दिया और यह कहकर अपने काम पर चले गये कि जब तक वे स्वयं आज्ञा न दें, तब तक वह वहीं खड़ा रहकर चौकसी करता रहे। दुर्भाग्यवश जहाज के उस भाग में इस बीच आग लग गई जहां केसाबियंका खड़ा था। आग तेजी से फैलती हुई उसकी तरफ बढ़ने लगी लेकिन अपने पिता की विधि रूप आज्ञा के पालन में वह वहां निडरता से खड़ा रहा। लोगों ने बहुत समझाया, पर वह वहां से हटा नहीं और उसने कर्तव्य पालन की वेदी पर अपने प्राण त्याग दिये। आज्ञा पालन के प्रति यह उसकी स्वतःस्फूर्त निष्ठा थी और इसी कारण वह अपने कर्तव्य के प्रति पूर्णरूप से अडिग रह सका।

ये कुछ सामान्य कर्तव्य हैं जिनके पालन के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान रहना चाहिये—वृद्ध एवं रुग्ण माता-पिता की विशेष सेवा करना, असहाय-अपाहिज गरीबों की यथाशक्ति सेवा करना, अपने आश्रित कर्मचारियों पर स्नेह भाव रखना, किसी पर अन्याय-अत्याचार नहीं करना, सब जीवों के साथ मैत्री भाव रखना, आर्थिक दृष्टि से कमजोर व रुग्ण व्यक्तियों को निर्वाह व चिकित्सा सुविधाएं सुलभ करना, कैदियों में स्नेह-सौहार्द्रता बढ़ाना व उनकी

अपराध वृत्ति मिटाना, पिछड़े लोगों के जीवन में सुधार लाने का प्रयास करना, प्रत्येक प्राणी के दुःख के प्रति अनुकम्पा भाव लाना तथा दान आदि से सहयोग देना आदि। इस प्रकार के कई कर्तव्य होते हैं जो अन्तःकरण की विधि-निषेध दृष्टि एवं कर्तव्यनिष्ठा के प्रभाव से यथावसर सामने आते रहते हैं और एक विवेकशील पुरुष पूर्ण उत्साह एवं सहकार से उनका यथाशक्य पालन करता रहता है।

इस प्रकार के लौकिक कर्तव्यों के अलावा अपनी निजात्मा के उत्थान के प्रति प्रत्येक मानव का विशिष्ट कर्तव्य होता है, जिसका पालन करते रहने पर ही वह अपने जीवन की कल्याण साधना को सिद्ध कर सकता है तथा पूर्णत्व के साथ लोकोपकार में भी प्रवृत्त हो सकता है।

### विधि-निषेध दृष्टि का सर्वोच्च लक्ष्य है आत्म-विकास

मानवता के नाते मानव का कर्तव्य सकल विश्व एवं विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति बनता है कि वह सबके दुःख निवारण एवं सुख संधारण के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करके भी प्राणपण से कार्य करे। सभी मानवों एवं प्राणियों के साथ उसकी आत्मीय समानता का नाता होता है और उसी के कारण उसका बन्धुता का नाता बनता है। वह बंधु ही क्या, जो अपने बंधु के काम न आ सके? पारस्परिक सहयोग भावना पर जब बन्धुता आधारित होती है तो वही पुरुष व्यक्तियों तथा राष्ट्रों तक के बीच में सहयोग, सुख एवं शान्ति के सेतुओं का निर्माण कर सकता है।

ऐसा महत्कार्य कोई भी कब कर सकेगा? जब उसकी स्वयं की आत्मा का तदनु रूप विकास हो चुका होगा। अतः यह बुनियादी काम भी होगा कि निजात्मा का समुचित विकास सम्पादित किया जाये और यों निजात्मा का चरम विकास और परमात्म-स्वरूप का वरण तो परम लक्ष्य है ही। सारी सैद्धान्तिकता, दार्शनिकता और भावात्मकता का सार यही है कि अपनी आत्मा को सर्व प्रकार के बन्धनों से मुक्त बनाने का एकल साध्य सदा सामने रहे और उस दिशा में पुरुषार्थ-प्रयोग का क्रम कभी भी नहीं टूटे। जब स्व-मुक्ति का ध्यान रहेगा तो उसके ही हित पर-मुक्ति का भी ध्यान रहेगा और इसी एकीभूत ध्यान के कारण जीवन में प्रतिक्षण कर्तव्यनिष्ठा या कि विधि-निषेध दृष्टि का सदा ध्यान रहेगा।

## 25

## अभिक्रम आत्मा का

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

परमात्मा की प्रार्थना करने से और शास्त्र वाचन करने से आत्मा के अन्दर एक प्रकार की शक्ति प्रस्फुटित होती है। उस शक्ति का सम्बन्ध आन्तरिकता से जुड़ा रहता है। इस शक्ति के अस्तित्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। आत्मा की मान्यता के विषय में यदि किसी व्यक्ति से पूछा जाये तो वह ऊपर से भले ही कैसा भी उत्तर दे किन्तु उसकी आन्तरिकता उसे उसकी आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति अवश्य देती है। किन्तु सभी व्यक्ति उस आत्मा के विराट् एवं व्यापक स्वरूप को नहीं जान सकते हैं जब तक कि तदनु रूप उनका अध्ययन, चिन्तन-मनन तथा ध्यान-साधना न हो। परन्तु आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन तो प्रत्येक व्यक्ति के मुख से जाने-अनजाने होता ही रहता है।

दर्शन में दो धाराएं चली हैं— आस्तिक और नास्तिक। जो आत्म-तत्त्व को 'अस्ति' रूप में मानते हैं, वे आस्तिक कहलाते हैं। आस्तिक दर्शन में आत्म-स्वरूप तथा आत्म-भाव का प्रकटीकरण होता ही रहता है। जबकि नास्तिक दर्शन में परोक्ष रूप से आत्म-भाव को स्वीकार ही किया जाता है क्योंकि 'नास्ति' रूप जो निषेध है, वह भी अस्तित्व का ही प्रतीक होता है। निषेध रूप से भी आत्म-तत्त्व का प्रतिपादन ही होता है। वह एकांगी क्रिया से उसे समझ नहीं पाता है।

वस्तु का जो स्वभाव है, वह अनन्त धर्मात्मक होता है। उस स्वभाव को ही धर्म कहा गया है— "वत्थु सहावो धम्मो"। ऐसा अनन्त धर्ममय स्वभाव सभी वस्तुओं में पाया जाता है। जहां अनन्त धर्मात्मक वस्तु है, उसे एक वाक्य से उसके समग्र धर्मों का विवेचन नहीं किया जाता है। किन्तु उनका वर्णन करने के लिये भिन्न-भिन्न वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है। भिन्न-भिन्न वाक्य वस्तु

स्वरूप के विभिन्न पक्षों को प्रकट करते हैं। इसी पद्धति से ज्ञानीजन वस्तु-स्वरूप को तथा विभिन्न वस्तुओं को जानने का प्रयास करते हैं।

### विधि-निषेध दृष्टि से आत्म-तत्त्व का ज्ञान

संसार के सभी पदार्थों में यों देखा जाये तो मानव-तन श्रेष्ठ कहलायेगा। इसका कारण यह है कि इस तन में जिस आत्मा का निवास होता है, वह संसार की समस्त वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ एवं दिव्य-स्वभावी वस्तु होती है। इस आत्मा का स्वभाव भी अनन्त धर्मात्मक है जिसे भली-भांति समझने के लिये विधि-निषेध दृष्टि का प्रयोग किया जाये। जब आत्मा के स्वभाव का स्पष्ट ज्ञान होगा, तभी उसके स्वरूप को भी अच्छी तरह से जाना जा सकेगा। विधि और निषेध में से यदि एक ही दृष्टि का प्रयोग किया जाये तो अनन्त धर्मात्मक वस्तु का स्वरूप सुगमता पूर्वक नहीं समझा जा सकेगा। इसके लिये विधि और निषेध दोनों दृष्टियों का प्रयोग करना होगा। एक सिक्के की भी दो बाजू होती है। कोई उस सिक्के की एक बाजू ही देखे तथा दूसरी बाजू को नहीं देखे तो क्या वह सिक्के का सही मूल्यांकन कर पायेगा? एकांगी दृष्टि से किसी भी वस्तु स्वरूप का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। सांसारिक पदार्थों के भी सभी पहलुओं को देखकर ही मानव उन्हें ठीक तरह से समझता है। जब नश्वर पदार्थों के स्वरूप का सही ज्ञान भी विधि और निषेध की दृष्टियों से ही होता है, तब आत्मा के अनश्वर-स्वरूप को जानने के लिये तो दोनों दृष्टियों का प्रयोग अनिवार्य माना ही जायेगा।

कोई पुरुष कहता है कि आत्मा कहां है? यों आत्मा शरीर के अणु-अणु में व्याप्त होती है। यह आत्मा चाहे मनुष्य के शरीर में हो या किसी भी अन्य प्राणी के शरीर में—जब तक वह शरीर चलता-फिरता काम करता रहता है तब तक वह जीवित शरीर माना जाता है। जीवित शरीर में ही आत्मा का निवास होता है। यह आत्म-तत्त्व के विषय में विधि दृष्टि की मान्यता है। ज्यों ही शरीर का जीवन नष्ट हो गया, उसे मुर्दा कह देते हैं। यह निषेध दृष्टि का स्वरूप है। जब तक वह शरीर आत्मायुक्त या कि चैतन्यमय था, तब तक वह जीवित था। तब उसकी सभी स्थानों पर यथोचित प्रतिष्ठा होती थी। परिवार वाले या अन्य व्यक्ति उसका तदनुसार आदर सम्मान करते थे। अनेक व्यक्ति उससे लाभ भी उठाते थे। लेकिन जिस क्षण उस शरीर में से आत्म-तत्त्व चला गया, तभी वह शरीर चैतन्यहीन अथवा मृत घोषित कर दिया गया। जितने उसके प्रियजन थे, जो उसके बिना एक पल भी अलग नहीं रहना चाहते थे, वे ही प्रियजन उस मृत शरीर को शीघ्रातिशीघ्र अपने से दूर करके उसका अन्तिम

संस्कार कर देने के लिये तत्पर हो जाते हैं। उस मृत शरीर से किसी को किसी प्रकार के लाभ की अपेक्षा नहीं रहती है। उससे न तो कोई अर्थ सहायता मिल सकती है, न ही कोई ज्ञान सहायता। उसे निरुपयोगी मान लिया जाता है। यही आत्म-स्वरूप के विषय में निषेध दृष्टि है।

निषेध दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि आत्मा नाम का तत्त्व इस शरीर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इस शरीर की सारी शान-शौकत, इज्जत, इसका सारा मान गुमान सम्मान केवल आत्मा की इसमें मौजूदगी के पीछे ही है। जब इसी शरीर में से आत्मा निकल जाती है, तब उसकी सारी सुन्दरता, प्रतिष्ठा और सारी आभा-शोभा समाप्त हो जाती है। जिस शरीर में आत्मा का दीर्घकाल तक निवास रहा हुआ होता है—बाल्यकाल से लेकर समग्र जीवन यापन किया हुआ होता है, उसी शरीर से आत्मा के निकल जाने पर उस मनोरम और प्रिय शरीर को भी कोई अपने निकट रखने को तैयार नहीं होता है। जब तक गन्ने में रस होता है तब तक उसे अपनाया जाता है। रस निकल जाने के बाद उसे फेंक दिया जाता है। जहां दूध में घी था तब तक उसे अपनाया गया। घी निकल जाने के बाद उसमें सिर्फ छाछ और पानी रह जाता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को विधि एवं निषेध दोनों दृष्टियों की सहायता से ही जान सकते हैं।

### आत्मा का ज्ञान शब्द से ही नहीं, अनुभूति से भी

विधि और निषेध दोनों दृष्टियों से जो आत्म-तत्त्व को जानने का प्रयास करता है, वह प्रमादी नहीं रहता, अपितु विवेक संचय करके चतुर हो जाता है। तब वह यह भी जान जाता है कि आत्मा का ज्ञान केवल शब्द से ही नहीं, अपितु अनुभूति से होता है। केवल कथन की दृष्टि से ही उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना जाता है। जो व्यक्ति सिर्फ ऊपरी तौर से आत्मा के स्वरूप को जान लेने की बात कहता है और उसी के सहारे साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहता है तो समझिये कि वह वहां पर कोई गति नहीं कर सकेगा, क्योंकि तोतारटन्त मान्यता से कोई सार नहीं निकलता है।

एक सेठ ने एक तोता पाला। उसने उस तोते को समझाया कि तुझे मेरे घर में किसी तरह का डर नहीं है। सिर्फ बिल्ली से तुम बचते रहना। तोते को शब्द रटने की आदत होती है सो वह बिल्ली शब्द को रट लेता है। हर समय वह बोलता रहता है कि बिल्ली से बचते रहना। यही उसके मालिक ने उसको कहा था। किन्तु वह शब्द उसने जाना, पर बिल्ली शब्द किस आकृति का

वाचक है—यह वह नहीं समझ पाया था। बिल्ली का वाच्यार्थ—विधि दृष्टि है तो उससे बचना—यह निषेध है। तोता ऊपरी तौर पर बिल्ली शब्द को जान गया किन्तु उसके स्वरूप से परिचित नहीं हुआ था। वह तो अपने मालिक के कहे अनुसार—‘बिल्ली से बचते रहना’ की रट लगाता रहता था और उस रट से मालिक ने समझ लिया कि मेरा तोता समझ गया है—वह विवेकवान बन गया है। अब उसे कोई खतरा नहीं है। यह समझ कर सेठ तोते की सुरक्षा की दृष्टि से निश्चिन्त हो गया।

एक दिन मालिक ने पिंजरा साफ करने के लिये तोते को बाहर निकाला। तोता बराबर रट रहा था कि बिल्ली से बचते रहना और सेठ का ध्यान पिंजरा साफ करने में लगा हुआ था। तभी योग से अचानक बिल्ली वहां आ गई। तोते ने बिल्ली को देखा जरूर और वह उससे बचने की रट भी बराबर लगा रहा था लेकिन हकीकत में बिल्ली कैसी होती है—यह वह नहीं जानता था। इस कारण बचने की बजाय वह बिल्ली को देखने लगा। बिल्ली ने झपटकर उसको मुंह में पकड़ा और दबोच कर भाग गई। तोता रटता रह गया और सेठ देखता रहा गया। तब सेठ ने महसूस किया कि तोते को सुरक्षित समझना मेरी भूल थी। वह शब्द रटता रहा किन्तु मैंने उसको शब्द के अर्थ की महसूसगरी नहीं करायी। मैं उसको सही तौर से जागृत नहीं कर पाया।

उसी प्रकार आज के कई भाई-बहिन आत्म-तत्त्व के ज्ञान के सम्बन्ध में तोतारटन्त ज्यादा करते हैं। आत्मा अविनाशी है—शाश्वत है, वह किसी के अधीन नहीं—यह सब स्वरूप वर्णन वे करते रहते हैं, मगर इस तत्त्व की उनकी आन्तरिकता में कितनी अनुभूति जमी है—इसका हिसाब लगाने पर शायद निराशा ही अधिक हाथ लगेगी। आत्म-स्वरूप की किसी को अनुभूति हुई है—इसकी कसौटी यही हो सकती है कि वह भौतिक पदार्थों के त्याग में कितना अधिक अग्रसर हुआ है? इसलिये आवश्यक है कि आत्म-स्वरूप को विधि दृष्टि से भी जाना जाये तथा निषेध दृष्टि से भी जाना जाये एवं उसे शब्दों से भी जाना जाये किन्तु अनुभूति के माध्यम से अवश्यमेव जाना जाये। तभी यथार्थ रीति से आत्म-स्वरूप का ज्ञान हो सकता है और उसके आधार पर ही शान्ति के स्वरूप का भी अनुभव हो सकता है।

### उन्नत आत्म-स्वरूप की प्राभाविकता

परम शान्ति का अनुभव करने वाली आत्माओं के बीच में भी कोई आत्मा रह जाये और उन्नत आत्म-स्वरूप की प्राभाविकता से प्रभावित न हो

तथा भेद विज्ञान भी नहीं जाने एवं विधि-निषेध दृष्टि को भी नहीं समझे तो यह समझा जा सकता है कि उस आत्मा का संसार-परिभ्रमण चलता ही रहेगा। क्योंकि उन्नत आत्म-स्वरूप की प्राभाविकता से न्यूनाधिक अंशों में प्रत्येक प्राणी प्रभावित होता ही है। तीर्थंकर देवों के समवसरण में मनुष्य, देव, पशु, पक्षी आदि भिन्न-भिन्न प्राणी उपस्थित होते हैं। समवसरण में विराजित उस उन्नत आत्म-स्वरूप के समक्ष और तो और लेकिन जन्मजात वैरी शेर और बकरी भी अपना वैर भूल जाते हैं तथा शान्त चित्त एवं स्थिर भाव से प्रभु की देशना सुनते हैं।

ये प्राणी अपना वैर भाव क्यों भूल जाते हैं? तीर्थंकर भगवान् के करुणामय व्यक्तित्व से शेर के मन में करुणा भाव जागृत होता है तो बकरी का मन भी उस अभयदान व्यक्तित्व की छाया में निर्भय बन जाता है। यह उस उन्नत आत्म-स्वरूप का ही प्रभाव होता है कि शेर, बकरी को क्रूर भाव से देखता नहीं और बकरी भी शेर को देखकर भय से भागती नहीं। इसी रूप में वे अपना प्राकृतिक वैर भाव भी भूल जाते हैं। शेर और बकरी दोनों प्रभु के करुणामय व्यक्तित्व तथा अमृतमयी वाणी से प्रभावित रहते हैं। इस प्रकार समवसरण में जितने भी प्राणी उपस्थित होते हैं, सबमें प्रेम भाव का संचार हो जाता है तथा सभी प्रभु की छत्रछाया में आत्मीय समानता का अनुभव करने लगते हैं।

विचारणीय विषयवस्तु यह है कि उन्नत आत्म-स्वरूप की ऐसी विलक्षण प्राभाविकता क्यों उत्पन्न होती है? जैसे कि ऊपर कहा गया है कि परमात्मा की प्रार्थना करने से तथा शास्त्र वाचन करने आदि से आत्मा के अन्दर एक प्रकार की शक्ति प्रस्फुटित होती है। वही शक्ति आत्म-स्वरूप के विकास क्रम में प्रबलतर बनती जाती है तथा वीतरागता की अवस्था में वही आत्म शक्ति प्रबलतम हो जाती है जो अनन्त वात्सल्य एवं करुणा से आप्लावित रहती है। इस शक्ति का मूल अहिंसा में आरोपित होता है। अतः इस शक्ति की विशिष्ट महिमा होती है या यों कहें कि उसमें विलक्षण प्राभाविकता उत्पन्न हो जाती है जिसके सामने कोई भी प्राणी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। उस उन्नत आत्म-स्वरूप के समक्ष पहुंचते ही उस प्राणी के मन में रही हुई समस्त दुर्भावनाएँ लुप्त हो जाती हैं। तीर्थंकर देव के समवसरण में कोई भी व्यक्ति या प्राणी पहुंचे—चाहे वह चक्रवर्ती सम्राट ही क्यों न हो, उसके अन्तःकरण में पवित्र भावनाओं का संचार होने लगता है। यह उस उन्नत आत्म-स्वरूप की आन्तरिकता में रमी हुई अहिंसा का दिव्य प्रभाव होता है। वह अहिंसा ही अनन्त



करुणा और अनुकम्पा में संचारित हो जाती है, जिससे उनके वचन मधुर और तेजस्वी होते हैं। जो भी आत्मा उन वचनों का श्रवण करती थी, उसका सद-विवेक जागृत हो जाता था।

### अनुभूतियुक्त आत्मा से अनुभूति की जागृति

शब्द भी एक प्रकार से पुद्गलों का पिंड होता है जो भाषा वर्गणा के सूक्ष्म परमाणुओं से बनता है। किन्तु यही पिंड जब अनुभूति युक्त उन्नत आत्मा से व्यक्त होता है तब वह ऐसी अनुभूति जगाता है जैसे कि उससे परिपूर्ण अहिंसा से मधुर बना हुआ शान्ति का रस झर रहा हो। सभी श्रोता तीर्थकर देवों की देशना में ऐसे शान्ति-रस से सराबोर हो जाते हैं। वे वचन सीधे श्रोता के मन में उतर जाते हैं और पवित्र अनुभूति को जन्म देते हैं क्योंकि उच्च कोटि की अनुभूतियों से युक्त आत्मा के वचन ही श्रेष्ठ अनुभूति को उत्पन्न करते हैं। उस समय में श्रोता अन्तःकरण पूर्वक ऐसा तन्मय हो उठता है कि वह सारे बाहरी पदार्थों को एवं विकारपूर्ण भावनाओं को भूल-सा जाता है और स्वयं भी आत्मरामी बनने लग जाता है।

वैसे ही हिंसक और क्रूर प्राणी भी तीर्थकर देवों की उच्च कोटि की अनुभूतियों से युक्त आत्मा के प्रभाव से सारी वैर भावना भूल जाते हैं तथा अपनी आन्तरिक अनुभूति में तन्मय बनकर भगवान् की अमृतमय मधुर वाणी का रसास्वादन करते हैं। जो प्राणी वीतराग वाणी से प्रभावित होकर अनुभूतिमय बनते हैं, वे ही अपने जीवन में शान्ति का रसास्वादन भी करते हैं। कारण, आत्म-स्वरूप को पहचानने के बाद ही अनुभूति का संचार होता है तथा उसके बाद आत्म-विकास की यात्रा आसान हो जाती है।

अनुभूति कब और कैसे उत्पन्न होती है? जब कोई मनुष्य वीतराग वाणी को प्रत्यक्ष में अथवा गुरुदेवों के मुख से सुनता है तो उसकी आन्तरिकता में एक हलचल मचती है। वह हलचल इस प्रभाव की होती है कि बाह्य पदार्थों में डूबा हुआ मन उन में से निकलकर आत्मा की आन्तरिकता में प्रवेश करता है तथा अपने चिन्तन-मनन में उस वीतराग वाणी को अपनी आत्मा के अणु-अणु में रमाता है। तब भीतर से एक उभरती हुई शक्ति का अनुभव होता है। यह आत्म-शक्ति होती है। इस शक्ति के अनुभव से ही आत्म-शक्ति की अनुभूति होती है। यह आत्मविश्वास जागता है कि मैं अपने आपको जैसा अशक्त महसूस करता था, वास्तव में वैसी बात नहीं है। मेरे भीतर में शक्ति का भंडार है जिसे खोलूँ तो अपार शक्ति का अनुभव भी मैं ले सकता हूँ।

इसी आत्मविश्वास के धरातल पर आत्म-स्वरूप की जिस रूप में प्रतीति होती है, वस्तुतः अनुभूति का वह रूप होता है। वह अनुभूति उपयुक्त साधना के साथ अन्तस्तल में जितनी गहराई तक उतरती जाती है, वह आत्म-शक्ति के भंडार का द्वार उतने ही विस्तृत रूप से खोलती जाती है। आत्मिक-शक्ति की अधिकता से होती रहने वाली अनुभूति से ही उन्नत आत्म-स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है।

जैसे दीपक की एक प्रज्वलित जोत से सैकड़ों, हजारों और अधिकाधिक दीप ज्योतियाँ प्रज्वलित की जा सकती हैं, उसी प्रकार उच्च कोटि की अनुभूतियों से युक्त एक आत्मा का प्रभाव भी इतना तेजस्वी होता है कि अगणित आत्माएँ अनुभूति का सूत्र पकड़कर अपनी अपार आत्मिक-शक्तियों का भंडार उद्घाटित कर लेती हैं। ऐसा अनुपम प्रभाव होता है वीतराग देवों का तथा उनकी तेजस्वी वाणी का—जिससे प्रभावित होकर कोई भी भव्य आत्मा अनुभूतियों के आनन्द में रमण करने लगती है। अनुभूति, अनुभूति को जगाती है।

### अनुभूतिहीनता से ही आत्मा का पतन

अनुभूति की प्रेरणा पाकर भी जो आत्मा अनुभूति से प्रभावित नहीं होती तो यही मानना होगा कि वह आत्मा पतन की गहराइयों में भटक रही है। ऐसी आत्मा समवसरण में भी पहुंचेगी तो वह क्षणिक शान्ति का भले ही अनुभव कर ले, शान्ति की जड़ें उसके अन्तःकरण में नहीं जम सकेंगी। समवसरण से बाहर आ कर वह फिर से पतन में गोता लगाने लग जायेगी। ऐसी कई आत्माएँ होती हैं जो गहन अंधकार में डूबी हुई होने के कारण वीतराग वाणी से भी स्थायी रूप से प्रभावित नहीं होती हैं, ठीक उसी तरह जैसे बाती से बाती जलाये जाने के अवसर पर तेल हीन दीये की बाती स्थिरता से जल नहीं पाती है। दीपक में तेल न हो तो वह जलेगा नहीं और आत्मा में अनुभूति नहीं जगे तो उसका विकास भी दुष्कर ही होगा।

इसी कारण कहा जाता है कि कई आत्माएँ सिद्ध भगवान् के पास रह कर भी उनसे प्रभावित नहीं हो पाती हैं। सिद्ध भगवान् के पास कोई आत्मा कैसे रह सकती है? वे तो इतने ऊँचे स्थान सिद्धशिला पर विराजते हैं, जहां मनुष्य का या पशु-पक्षी का शरीर पहुंच ही नहीं सकता है तो फिर सिद्ध भगवान् के पास आत्मा के रहने की यह कैसी बात है? देवों का तो वैक्रिय शरीर होता है और वे अपनी ऐसी दिव्यता प्रकट कर सकते हैं कि उन्हें मनुष्य तो अपनी आंखों से

देखने में भी असमर्थ रहता है, लेकिन वे देव भी सिद्ध भगवान् के समीप में नहीं जा सकते हैं। वीतराग देवों ने जिन पांच स्थावर काया—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति के जीवों का वर्णन किया है उनमें कई जीव तो देखने से और कई जीव स्पर्श करने से मालूम पड़ते हैं, परन्तु कई जीव ऐसे सूक्ष्म भी होते हैं जिन्हें देव भी नहीं पकड़ पाते हैं तथा स्वयं तीर्थंकर भगवान् भी उनका स्पर्श नहीं कर सकते हैं। ये जो पांच प्रकार के सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव हैं, सारे लोक में ठसाठस भरे हुए हैं—अणु मात्र आकाश भी उनसे रिक्त नहीं है। जैसे काजल की डिब्बी में काजल स्निग्धता से ठसाठस भरा होता है, वैसे ही ये जीव लोक के उस स्थान पर भी ठसाठस भरे हुए हैं, जहां पर सिद्ध भगवान् ज्योति में ज्योति स्वरूप बन कर विराजमान हैं। लेकिन ये जीव अपनी स्थिति की किसी भी रूप में कोई अनुभूति नहीं ले सकते हैं।

अनुभूति शून्यता की अवस्था को इस दृष्टान्त से समझिये। जब किसी रोगी की चीर-फाड़ करने के लिये डॉक्टर उसको क्लोरोफार्म सुंघा देता है, तब उस रोगी का शरीर अनुभव शून्य बन जाता है। फिर उसका जो भी अंग-उपांग चीरा-फाड़ा जाता है, उसको कुछ भी महसूस नहीं होता है। उसी प्रकार सिद्ध भगवान् के पास में ये एकेन्द्रिय आत्माएँ जाती हैं या रहती हैं किन्तु अनुभूति शून्य होने के कारण न तो वे उनके स्वरूप का अवलोकन या ज्ञान कर सकती हैं और न ही उनकी दिव्यता से किसी भी रूप में अनुभूतिजन्य प्रभाव को पकड़ पाती हैं। ये जिस प्रकार सिद्ध भगवान् के पास में जाती हैं, उसी रिक्तता के साथ वहां से वापस भी आ जाती हैं। मनुष्य जैसा विवेकशील प्राणी यदि इस दृष्टान्त पर गहराई से चिन्तन-मनन करे तो क्या वह अपने अन्तःकरण में ऐसी अनुभूति को जागृत नहीं बना सकता है तथा अपनी आत्मा को पतन के गड़ड़े से निकाल कर विकास के पथ पर अग्रसर नहीं कर सकता है?

### आत्मा के महान् अभिक्रम को समझना होगा

घोर सांसारिकता में रचे-पचे मानव की यदि कुछ क्षणों के लिये आत्मानुभूति जागृत हो जाये और वह अपनी आत्मा के स्वरूप का निरीक्षण कर सके तो जिस स्वरूप के उसे दर्शन होंगे, वह बड़ा ही दयनीय होगा—इतना दीन, हीन नगण्य कि जिस पर उसे यह अनुमान लगा पाना भी कठिन होगा कि इसी आत्मा का स्वरूप विराट्, व्यापक और परम आनन्दमय भी बन सकता है। स्वरूप परिमार्जन एवं परिवर्तन की इस प्रक्रिया में इसी आत्मा के अभिक्रम की आवश्यकता होती है। यह अभिक्रम एक बार जाग जाये और निर्बाध रूप से सक्रिय बन जाये तो यही आत्मा वीतराग, अरिहंत और सिद्ध बन सकती है।

आत्म-शक्ति की ऐसी विराटता के रहस्य को इसी दृष्टि से समझना होगा और आत्मा के अभिक्रम को जगाना होगा।

आत्मा का महान् अभिक्रम जागृत होगा सम्यक् ज्ञान से—विधि-निषेध दृष्टि एवं कर्तव्यनिष्ठा की कर्मठता से। ऐसा करना मनुष्य तन में निवास करने वाली इस आत्मा के वश और सामर्थ्य में है। मनुष्य जीवन में रहने वाला पुरुष या रहने वाली नारी चाहे अपने वर्तमान व्यक्तित्व में नीचे और छोटे स्तर पर ही क्यों न हो, यदि उसकी आन्तरिकता में विधि-निषेध दृष्टि के विकास के साथ आत्मिक-ज्ञान जगमगा उठता है तो उसका ध्यान नश्वर भौतिक पदार्थों की तरफ से हट जायेगा और आत्म-स्वरूप को पूरी गहनता के साथ जानने, पहचानने व उन्नत बनाने में लग जायेगा। फिर उसके लिये सारी जड़ सत्ता-सम्पत्ति का त्याग कठिन नहीं रहेगा क्योंकि उसकी आसक्ति और मोह दृष्टि घट और मिट जायेगी। फिर तो आत्मा का सम्पूर्ण अभिक्रम अपनी समस्त शक्तियों के व्यक्तीकरण की एक ही दिशा में संलग्न हो जायेगा।

ऐसा जागृत आत्मिक अभिक्रम वाला पुरुष तब अपनी सांसारिकता के जटिल बंधनों को सरलता पूर्वक काटकर परम त्यागमय आचरण के साथ स्वयं सिद्ध भगवान् बनने के आत्म-विकास के मार्ग पर अडिग गति से चल पड़ेगा। उस मार्ग पर चलते हुए ही उसे अपूर्व सुख तथा अमिट शान्ति का आनन्दानुभव होने लगेगा। आत्मा का अभिक्रम एक बार क्रियाशील बन जाये तो फिर समझिये कि सुख और शान्ति की अनुभूतियाँ अक्षुण्ण बन जाती हैं। जहां शान्तिनाथ भगवान् भी पहले चक्रवर्ती सम्राट थे, फिर भी उन्होंने अपने आत्म-स्वरूप का विधि एवं निषेध दृष्टि से अवलोकन किया, भौतिक सत्ता एवं सम्पत्ति का परित्याग किया तथा आत्मोद्धारक साधु धर्म को अंगीकार किया। आत्म-दमन से आत्म-साधना की तरफ वे मुड़े तथा अपने आत्मिक अभिक्रम को परम समुन्नत बनाकर वे तीर्थंकर पद के और तदनन्तर मोक्ष धाम के अधिकारी बन गये। आत्मा का अभिक्रम ही आत्मा को सर्वोच्च पद तक पहुंचाता है।

### आत्म-दमन, अभिक्रम एवं समुन्नयन का क्रम

आत्मा का अभिक्रम जागता है और समुन्नयन की दिशा में अग्रगामी बनता है आत्म-दमन की प्रक्रिया से। क्या और कैसे होता है आत्म-दमन?

शास्त्रकारों ने संकेत दिया है कि आत्मा को इन्द्रियों के विषयों तथा कषायों की तरफ जाने से रोको और ऐसा दृढ़ निश्चय बनाओ कि चाहे शरीर छूट जाये परन्तु वीतराग देवों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं होगा तथा इन्द्रियों

सहित मन संयम से विचलित नहीं होगा। आत्मा को यह चिन्तन करने को कहा गया है कि दूसरे लोग वध, बन्धन आदि द्वारा मेरा दमन करें इसकी अपेक्षा यही अच्छा है कि मैं संयम और तप का आचरण करके अपने आप ही अपना दमन करूँ।

भगवान् महावीर स्वामी एवं गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तरों में बताया गया है कि श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से आत्मा को यह फल प्राप्त होता है कि वह मनोज्ञ शब्दों में राग नहीं रखती तथा अमनोज्ञ शब्दों से द्वेष नहीं करती। इससे राग-द्वेष जनक नये कर्म नहीं बंधते और पुराने बंधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के निग्रह के फल का भी उल्लेख किया गया है। यह बताया गया है कि आत्मा का दमन करना और उसको स्ववश में रखना बहुत कठिन है किन्तु आत्मा को ही अपना दमन करना चाहिये।

आत्मा का दमन कैसे करना होगा— इस पर शास्त्रकारों के वचन हैं कि यह मन रूपी घोड़ा बड़ा उद्धत, भयंकर व दुष्ट है तथा उन्मार्ग की ओर दौड़ता रहता है। इसे शास्त्र रूपी लगाम से नियंत्रण में करना चाहिये तथा धर्म शिक्षा द्वारा इसे जातिवन्त घोड़ा बनाकर सम्यक् प्रकार से अपने वश में रखना चाहिये। तब यही घोड़ा उन्मार्ग से सन्मार्ग की ओर गति करने लगेगा। तभी आत्मा का अभिक्रम प्रबल रूप धारण कर सकेगा। आत्म-दमन से सुव्यवस्थित रूप से ढला हुआ आत्मा का अभिक्रम तब समुन्नयन की दिशा में प्रगमनशील बन जायेगा।

आत्मा के स्वस्थ विकास का यही सुन्दर क्रम है जिसे यदि इसी मानव जीवन में विधि-निषेध दृष्टि एवं कर्तव्य-निष्ठा के साथ अपनाया जाये तो कोई कारण नहीं कि आत्मिक-शक्तियों की अभिव्यक्ति न हो सके एवं सुख-शान्ति के अमृतमय एवं आनन्दमय क्षणों की सम्प्राप्ति न हो सके।

## 26

## शान्ति के आनन्द क्षेत्र में

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

आगमों में जिस सत्य का संकेत दिया गया है, उसे पूरे महत्त्व के साथ ध्यान में रखकर इस मानव जीवन की परिपूर्णता साधनी चाहिये। ऐसी साधना को सिद्ध कर लेने पर ही सदा काल के लिये शान्ति के आनन्द क्षेत्र में विचरण करते रहना संभव होता है।

वास्तविक शान्ति को प्राप्त करने की दृष्टि से वैचारिक सुलझन चाहिये और चाहिये आचरण का सन्तुलन। इसका अर्थ है कि सम्यग् ज्ञान, दर्शन का प्रकाश चाहिये और चाहिये सम्यक् चारित्र का विकास। इस हेतु विधि-निषेध दृष्टि पर चर्चा की जा रही थी। यह दृष्टि सभी प्रकार के वस्तु स्वरूपों के निर्णय में प्रयुक्त की जा सकती है। सभी पदार्थों के स्वरूप का परीक्षण करने वाली जो यह आत्मा है, उसके संयम की स्थिरता की परीक्षा इस विधि-निषेध दृष्टि से की जाती है। इस परीक्षा की सफलता वस्तुतः अपनी ही आन्तरिकता में शान्ति के आनन्द स्रोत को प्रस्फुटित करने वाली होती है। यह पवित्र स्रोत स्वयं के भीतर में होता है, किन्तु नादान मानव उस आनन्द को केवल बाहर और बाहर के पदार्थों में ही खोजता है और कई बार मिथ्या कल्पनाओं में भ्रमपूर्ण आभास लेता रहता है कि उसे उन बाह्य पदार्थों के संयोग से सुख का अनुभव हो रहा है।

किन्तु इस सुख के सम्बन्ध में उसके भ्रम का घेरा उसी क्षण टूट जाता है, जिस क्षण विधि-निषेध दृष्टि की सहायता से उसे विदित होता है कि यह सुख मात्र सुखाभास है—यथार्थ में आनन्दानुभव नहीं है। क्या सत्य है और क्या मिथ्या—इसका निर्णय करने वाली यह विधि-निषेध दृष्टि होती है। सम्यक् ज्ञानमय बुद्धि के बिना किसी भी वस्तु-स्वरूप की सही परीक्षा नहीं हो सकती है। और ज्यों ही यह परीक्षा सफलता पूर्वक हो जाती है, अन्तरात्मा में यह

निर्णय स्पष्ट हो जाता है कि संसार के इन सारे बाह्य पदार्थों में कोई सुख नहीं है तथा यदि सच्ची शान्ति और वास्तविक आनन्द की चाह है तो वीतराग देवों ने आत्म-विकास का जो मार्ग दिखाया है, भव्य आत्माओं को विवेक एवं निष्ठापूर्वक उसी मार्ग पर चलना चाहिये।

### जीवन के आरंभ से आनन्द का रंग

एक बालक जब अपनी माता की कुक्षि से बाहर आता है और इस बाह्य संसार में उसके जीवन का आरंभ होता है, तब जिस स्वरूप में उसके साथ आनन्द का उद्भव होता है, वह आनन्द ज्यों-ज्यों उसका जीवन आगे बढ़ता रहता है, नाना प्रकार के रंग बदरंग दिखाता रहता है। आनन्द के ये रंग परम्परागत संस्कारों, माता-पिता के आचरण, बाहर के समग्र वातावरण तथा नित्य-प्रति बदलती हुई परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं कि वे कब किस रूप में खिलकर सुरूप बनते हैं अथवा विद्रूप बनकर बदरंग हो जाते हैं। आनन्द के इन रंगों को सुरंग या बदरंग बनाना अधिकांश रूप में स्वयं इस मानव के ही वश में होता है।

जन्म लेते ही जब बालक माँ का दूध पीने की कोशिश करता है, तब धीरे-धीरे उसका उस रीति से दूध पीने का अभ्यास बन जाता है। उसकी माता जो उसे अपना स्तन-पान कराती है, उसमें ही वह अपना आनन्द पा लेता है। जब उसको भूख लगती है, तब वह रोने लगता है। माँ समझ जाती है कि बच्चा भूखा है। माता उसे दूध पिलाती है। यह तो उसकी चाहत भूख मिटाने के लिये होती है। जब वह और बड़ा हो जाता है तब माता का दूध छूट जाता है। फिर वह खाना-पीना चालू करता है। अन्य सामान्य क्रियाओं को भी वह करने लगता है। इस समय उसकी सभी क्रियाएँ उसके जीवन में सहायक बन सकती हैं।

यह समय उसके लिये ऐसा होता है, जब उसे शारीरिक विकास के लिये समुचित खाद्य पदार्थ दिये जाते हैं। इसी समय में उसके समुचित मानसिक विकास के लिये तत्त्व ज्ञान व नीति शिक्षण भी दिया जाना चाहिये ताकि उसका जीवन निर्माण सर्वांगीण रूप से स्वस्थ बन सके। कारण, इस समय उस बालक की ग्रहण शक्ति अतीव प्रखर होती है, अतः इस समय में उस ग्रहण शक्ति में जिस रूप से आनन्द-भाव का समावेश कराया जाता है, वह आगे जाकर स्थिरता पकड़ सकता है। इस समय के उसके जीवन निर्माण में आनन्द भाव का भी पर्याप्त रूप से विकास किया जा सकता है, क्योंकि जीवन के आरंभ से

यदि आनन्द का रंग चढ़ता जाये तो उस जीवन को आनन्दमय बनाने में बड़ी सरलता रहती है।

बाल्यकाल में बच्चे का जो लालन-पालन किया जाता है, उसमें जितना शरीर पक्ष का ध्यान रहता है, आप लोगों में शायद उतना मानस पक्ष का ध्यान नहीं रहता दिखाई देता है, तभी तो आज की उभरती हुई नई पीढ़ी में मानसिक सन्तुलन एवं संस्कार निर्माण की स्थिति सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होती है। फिर आनन्द पक्ष के विकास का ध्यान तो शायद नगण्य है। इस कारण जीवन निर्माण की पृष्ठभूमि जिस रूप में बाल्यकाल में तैयार होनी चाहिये, वह हो नहीं पाती है। परिणामस्वरूप सामान्य रूप से आज का बाल विकास समुचित दशा में दिखाई नहीं देता है। कई बच्चे विद्यानुरागी नहीं होते—नम्र और सुस्वभावी नहीं होते, मनस्वी नहीं होते तथा सुखानुभावी तो विरले ही होते हैं। पालकों की अनभिज्ञता से बालकों में भी यह ज्ञान नहीं उपजता कि उनके निर्माण में क्या कमियाँ रह गई हैं तथा उन्हें वे कैसे पूरी कर सकते हैं?

### आनन्द के अभाव में अधूरा विकास

इस तनावग्रस्त वातावरण में जब बालक को अपने प्रारंभिक विकास काल में ही सच्चे आनन्द का संस्कार नहीं मिलता है या कि जैसे आनन्द का उसे अनुभव नहीं होता है तो सही मानिये कि उसका विकास ही आधा अधूरा रह जाता है। कई परिवारों में तो सामान्य वातावरण भी इतना कटु और क्लेशपूर्ण होता है कि बच्चे का स्वभाव विकृत बन जाता है तथा वह बुरी संगति में पड़ कर दुर्व्यसनों का शिकार हो जाता है। बीड़ी, पान, तम्बाकू, सिगरेट आदि की छोटी नशेबाजी से वह शराब और स्मैक की बड़ी नशाखोरी तक भी पहुंच जाता है बशर्ते कि उसके लड़खड़ाते हुए पांवों को कोई भी उचित सहारा न दे सके। ऐसी विगति उसमें आनन्द की विसंगति के कारण पैदा होती है। सही आनन्द के अनुभव के अभाव में वह सिगरेट का कश लगाने में या कि दारू की घूंट पीने में शुरु-शुरु में सुख की तलाश करता है और फिर व्यसनग्रस्त होकर मन और शरीर से बीमार होने लगता है। नशा नहीं मिले तो वह उदास होता है और टेंशन में बना रहकर खुशी के कुछ पलों के लिये भी आगे जाकर वह तरस जाता है। फिर तो नशा ही उसकी जिन्दगी बन जाती है और इस तरह उसकी जिन्दगी दुःखी, अपराधी, क्रूर, हिंसक तथा आनन्दहीन ढांचे में ढलती हुई चली जाती है। जो ढांचा उसे पतन की गहराई में ढकेलता रहता है। आनन्द के अभाव में



बालक का अधूरा विकास आगे जाकर उसके लिये जीवन को मृत्यु का पर्याय बना देता है।

यदि एक खिलते हुए फूल में आनन्द की आभा नहीं फूटती हो तो बताइये कि वह फूल कैसा होगा? क्या उसका फूल नाम भी सार्थक रहेगा? वैसी ही मनुष्य की अवस्था है। जीवन के प्रारंभिक काल में आनन्दमय वातावरण के साथ यदि बालक मानवीय संस्कारों को ग्रहण नहीं करता, तो उसका स्वस्थ जीवन-निर्माण कैसे हो सकता है और कैसे वह आनन्द ले और दे सकता है? दुर्व्यसनों और बुरी आदतों में उसका विकारपूर्ण जीवन बर्बाद हो जाता है क्योंकि उसके मन, वचन और कर्म—तीनों विकृत हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति धार्मिक क्रियाओं को विशुद्ध भावना के साथ करने के अयोग्य हो जाता है। सामायिक, प्रतिक्रमण, पोषध या कोई तप वह कर भी लेता है तब भी विकृत जीवन के कारण उनसे उसे अपेक्षित आनन्द की प्राप्ति नहीं हो पाती है। सन्त-महात्मा उसे चाहे कितना भी उपदेश दें, उसके विचार और व्यवहार में शुभ परिवर्तन दुष्कर बन जाता है।

डॉक्टर लोग साफ-साफ बताते हैं कि सिगरेट पीने से कैंसर की बीमारी हो जाती है तथा अन्य प्रकार की हानियाँ भी होती हैं, फिर भी व्यसनों में जकड़े हुए लोग उसको छोड़ नहीं पाते हैं। ऐसे लोग जवानी में ही बुढ़े दिखाई देते हैं तथा स्फूर्तिहीन बन जाते हैं। सिगरेट के पैकेट पर तथा तम्बाकू की दूसरी चीजों पर वैधानिक चेतावनी छपी हुई होती है, फिर भी लोग सतर्क नहीं होते हैं—यही दयनीय स्थिति है। यही आनन्द के अभाव में ढले हुए अधूरे विकास की विडम्बना है।

### खोखले तन-मन से आत्मा को कैसे जानें?

जिसका बचपन से ही तन खोखला हो गया हो और मन विचार शून्य, वह भला अपने आत्म-स्वरूप को कैसे जान सकता है? वह अपने निज स्वरूप को नहीं जान पाता है। और जब कोई मानव अपने आत्म-स्वरूप को ही नहीं जानता व पहचानता है तो भला उसे शान्ति कहां से मिल सकती है? आनन्दहीन जीवन अशान्त ही बना रहता है। वह न तो विधि-निषेध दृष्टि को अपना सकता है और न ही कर्तव्यनिष्ठा को पहचानता है। फिर उसे शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है?

ऐसे मन-मानस वाला व्यक्ति प्रश्न कर बैठता है कि हमें तो आत्मा दिखाई नहीं देती, फिर उसके अस्तित्व को कैसे स्वीकार करें? ऐसे व्यक्ति को

उसके प्रश्न के उत्तर में प्रश्न ही पूछा जाये कि भाई, यह प्रश्न करने वाला कौन है? और आत्मा नहीं है—ऐसा निषेध करने वाला कौन है? वैसे ही आत्मा शरीर तक सीमित है लेकिन यह ज्ञान करने वाला कौन है? यदि इन सभी प्रश्नों के उत्तर उसको खोजने के लिये कहा जायेगा तो जो वह जानेगा, वही आत्मा का विधि-स्वरूप होगा। इसके बाद अन्य सभी प्रश्नों का स्वतः ही उसे समाधान मिल जायेगा। विधि-स्वरूप प्राप्त होने पर निषेध-स्वरूप अपने आप मिट जायेगा। उसे यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा कि प्रश्न करने वाली, जिज्ञासा रखने वाली तथा ज्ञान का प्रकाश पाने वाली यह आत्मा है, शरीर नहीं। अगर शरीर को ही कोई ज्ञान होता तो मुर्दा शरीर में भी ज्ञान बना रहता। जीवित और मृत शरीर का अन्तर यही बताता है कि शरीर से इतर कोई तत्त्व है जिसके होने पर शरीर जीवित रहता है और जिसके निकल जाने पर शरीर मृत हो जाता है। यह अन्तर इस रूप में आत्मा के अस्तित्व का द्योतक है। शरीर में से आत्मा के निकल जाने के बाद शरीर निषेध रूप है।

वस्तुतः इस संसार में जितनी भी जड़ वस्तुएँ होती हैं, वे आत्मा के स्वरूप की दृष्टि से सभी निषेध रूप में हैं। ये निषेध दृष्टि का सूचन करती हैं। जैसे वे कहती हैं कि हमारे अन्दर आत्मा नहीं है। जिन वस्तुओं में आत्मा नहीं है—उनकी जानकारी करने वाली भी आत्मा ही है। अतः आत्मा ही शरीर की ज्ञाता है। आत्मा कभी ज्ञानहीन नहीं होती है। वह जानती भी है और अपने अनुभवों को स्मृति में भी रखती है। यदि किसी व्यक्ति ने अपनी छोटी आयु में कोई गहरा अनुभव किया हो या चाहे कोई दुर्घटना घट गई हो तो उसकी याद सारे जीवन तक भी बनी रहती है। सात-आठ वर्ष की आयु में जो शरीर का स्वरूप होता है, वह युवावस्था में बदल जाता है तथा वही शरीर वृद्ध होने पर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, फिर यदि शरीर को ज्ञाता मानें तो परिवर्तित होते रहने वाला शरीर बचपन की बातों को कैसे याद रख सकता है? अस्सी साल का बुढ़ा भी आठ साल की विशेष घटना को भुला नहीं पाता है—इसका यही अर्थ है कि यह शरीर नहीं, इस शरीर में रहने वाली आत्मा ही ज्ञाता है। यह उसी का ज्ञान है जो सदा रमण करता रहता है।

आत्मा के इसी स्वरूप को और इसी ज्ञान को समझने की जरूरत है जिसकी सहायता से तन-मन को स्वस्थ बनाया जाकर प्रगतिशील जीवन का सुन्दर निर्माण किया जा सकता है।

## आत्मा का चिन्तन बदलता है, स्वरूप नहीं

आत्मा का ज्ञान और चिन्तन बदलता है—रूपान्तरित होता है, उसके स्वरूप की शुद्धता-अशुद्धता बदलती है, किन्तु आत्मा का मूल स्वरूप कभी भी बदलता नहीं है। मनुष्य कल्पना करता ही रहता है कि यह मेरा घर-परिवार है या यह मेरी सत्ता-सम्पत्ति है। लेकिन उसके देखते-देखते इन सबमें कितना और कैसा-कैसा बदलाव आ जाता है? फिर भी मनुष्य इन सबके चक्कर में ही पड़ा रहता है और इसी कारण वह सम्यक् ज्ञान तथा वास्तविक शान्ति से दूर रह जाता है। यदि वह अपने आत्म-स्वरूप को विधि-निषेध दृष्टि से जान ले तो वह ज्ञान उसके लिये पर्याप्त हो जायेगा क्योंकि जागृत आत्मा फिर सारी परिस्थितियों से मुकाबला करने में स्वयं समर्थ हो जाती है। वैसी जागृत आत्मा वाला व्यक्ति फिर अपना कल्याण स्वयं कर सकता है। कारण, उसका ज्ञान और चिन्तन रूपान्तरित होकर आत्म-विकास की शुभ दिशा में प्रवाहित होने लग जाता है।

यों संसार सभी प्रकार के दुःखों से भरा हुआ है। तरह-तरह की चिन्ताएँ और वेदनाएँ इसमें लिप्त रहने वाले मनुष्यों को रात-दिन सताती रहती है। किन्हीं माता-पिता के सन्तान नहीं होती है तो वे सन्तान के अभाव में दुःखी रहते हैं और जिन माता-पिताओं के कई सारी सन्तानें होती हैं तो कोई उसके लालन पालन से, कोई उसके अयोग्य रह जाने से तो कोई उसके हाथों पीड़ा और अपमान पाने से दुःखी हो जाते हैं। अब बताइये कि इस संसार के किस पक्ष में सुख रहा हुआ है? फिर भी आश्चर्य है कि ऐसी पीड़ाकारी सन्तान का मोह छोड़ने के लिये भी तत्परता नहीं होती है। कुछ समय के लिये सामायिक आदि धार्मिक क्रियाएँ की जाती हैं तो उतने से समय में भी सांसारिक बातों से अपने मन को नहीं हटाया जाता है—यह सब इस आत्मा की चिन्तनहीनता का दुष्परिणाम होता है अथवा यों कहे कि आत्मा द्वारा अपने चिन्तन को शुभ दिशा में रूपान्तरित न कर पाने का दुष्परिणाम होता है।

शास्त्रों के कथानकों से आप जानते हैं कि जो आत्माएँ चिन्तनशील हुआ करती थीं, वे प्रबोध प्राप्त करते ही अपने चिन्तन को रूपान्तरित कर लेती थीं तथा आत्म-कल्याण में प्रवृत्त बन जाती थीं। जम्बूकुमार ने केवल एक ही प्रवचन सुना और उसी समय उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार कर लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने समग्र जीवन को संयम साधना में लगाते हुए अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। इस रूप में उन्होंने अपनी आत्मा

के अपरिवर्तनीय मूल स्वरूप को सदा काल के लिये प्रकाशमय, सुखमय एवं आनन्दमय बना लिया।

### आत्म-विकास का अनूठा आनन्द

जो पुरुष निज आत्म-स्वरूप को विकसित करने तथा उसे मूल स्वरूप में अवस्थित कर देने के पुरुषार्थ में जुटता है, उसका आनन्द अनूठा होता है। वह आनन्दानुभूति उसके लिये अनुपम होती है। आत्म-विकास के मार्ग पर चलता हुआ वह आत्मा सम्यग् ज्ञान द्वारा जीव, अजीव आदि तत्त्वों को जानता है तथा सम्यग् दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करता है। सम्यक् चारित्र की संयमपूर्ण आराधना द्वारा वह नवीन कर्मों को आत्मा के साथ संलग्न होने से रोकता है तथा तपाराधन द्वारा अपने पुराने कर्मों को नष्ट करके अपने आत्म-स्वरूप को परम विशुद्ध एवं परम आनन्दमय बना लेता है।

आत्म-विकास की क्रमिकता में जब कोई भव्य आत्मा जीव और अजीव दोनों तत्त्वों को भली-भांति जान लेती है, तब वह सब जीवों की नानाविध नरक, तिर्यच आदि गतियों का भी ज्ञान कर लेती है। जब वह आत्मा सब जीवों की नानाविध गतियों को जान लेती है तब वह पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को भी जान लेती है। यह जानकर वह आत्मा देवता और मनुष्य सम्बन्धी समस्त कामभोगों की असारता को भी समझ लेती है तथा उनसे मनोयोगपूर्वक विरक्त हो जाती है। ऐसी विरक्ति के फलस्वरूप वह आत्मा माता-पिता तथा सत्ता सम्पत्ति रूप बाह्य संयोग एवं राग-द्वेष कषाय रूप आभ्यन्तर संयोग को त्याग देती है। इस त्याग का ही सुपरिणाम प्रकट होता है कि वह आत्मा मुंडित होकर मुनिचर्या को प्राप्त कर लेती है। इस अनगार वृत्ति को अंगीकार करने के पश्चात् वह सर्व प्राणातिपात आदि विरति रूप उत्कृष्ट संवर चारित्र-धर्म का यथावत् पालन करती है। इससे वह मिथ्यात्व रूप कलुष परिणाम से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रज को झाड़ देती है। कर्मों की इस निर्जरा के कारण उस साधनारत आत्मा को अशेष वस्तुओं को विषय करने वाले केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की उपलब्धि हो जाती है।

केवलज्ञान एवं केवलदर्शन के प्राप्त हो जाने पर वह प्रबुद्ध आत्मा जिन और केवली बनकर लोक तथा अलोक को जान लेती है। तब स्थिति पूरी होने पर मन, वचन, काया रूप योगों का निरोध करके वह आत्मा शैलेशी अवस्था को प्राप्त हो जाती है। शैलेशी अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् वह आत्मा अवशेष

कर्मों का क्षय करके सर्वथा कर्मरहित होकर सिद्ध गति को प्राप्त करती है। सिद्ध गति में सदा सर्वदा के लिये अवस्थित होकर वह लोक के मस्तक पर ज्योति में ज्योतिस्वरूप शाश्वत सिद्ध बन जाती है।

यह आत्म-विकास की रूपरेखा है जिसमें जब क्रमशः विकास चरणों की गति उत्तरोत्तर उन्नतिशील बनती है तो आत्मा अपने चरम एवं परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेती है। सोचिये कि प्रत्येक विकास चरण में गति करते हुए तथा एक चरण से ऊपर के चरण में आरोहण करते हुए कैसे विलक्षण एवं अनूठे आनन्द की प्राप्ति होती है? यही आनन्द वास्तविक आनन्द होता है जो आत्मा की गहन साधना से अभिवृद्ध होता रहता है। यही आनन्द है जो दिव्य शान्ति का अनुभव कराता है। यह शान्ति अमिट होती है और होती है—अपार सुखदायी।

### आनन्द से शान्ति और शान्ति से आनन्द

आनन्द से शान्ति और शान्ति से आनन्द—ये दोनों अनुभव एक दूसरे के पूरक तथा एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। आनन्द का मार्ग चिर शान्ति की दिशा में ही जाता है तथा शान्ति से जिस आनन्द की सुखद अनुभूति होती है, वही आनन्द प्रत्येक भव्य आत्मा का लक्ष्य होना चाहिये। इस लक्ष्य से उसके वर्तमान जीवन का भी सुन्दर निर्माण होता है तो भावी जीवन भी आत्म-विकास में सहायक रूप बनता है।

इस शान्तिमय आनन्द एवं आनन्दमय शान्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है—इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने प्रकाश डाला है कि आत्म-विकास की जो यह क्रमिक रूपरेखा है, यदि आत्मा इसके अनुसार गतिशील बनी रहे तो वह अपना कल्याण अवश्यमेव सिद्ध कर सकती है। इसके लिये आत्म-विकास की सहायक परिस्थितियों का संयोग आवश्यक होता है, जिसकी प्राप्ति शुभ कार्यों के सतत सम्पादन से होती है। शास्त्रों में बताया गया है कि साधु-महात्माओं की उपासना एवं सेवा भक्ति करने से उसके फल रूप में सत्शास्त्रों का श्रवण मिलता है। सत्शास्त्रों के श्रवण का फल ज्ञान है तथा ज्ञान से विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है। विशिष्ट ज्ञान होने से ही आत्मा व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण करती है जिसके फलस्वरूप वह संयम का श्रेष्ठ रीति से पालन करती है। संयम का सुस्थिर पालन करने से नवीन कर्मों का प्रवाह आना रुक जाता है। तब वह आत्मा लघुकर्मा हो जाती है जिससे वह तपाचरण द्वारा अपने अवशेष कर्मों का क्षय कर देती है। कर्मक्षय से योग-निरोध, योग-निरोध से क्रिया-त्याग तथा क्रिया-त्याग से सिद्ध गति रूप फल की प्राप्ति होती है—यह आप जान

ही चुके हैं। सिद्ध गति ही इस आत्मा के लिये अपूर्व आनन्द तथा स्थायी शान्ति का शाश्वत धाम होता है।

### आनन्द और शान्ति के शिखर पर आरोहण

शास्त्रों में ऐसे अनेक महापुरुषों का उल्लेख आता है, जिन्होंने अपने आत्म-विकास की परमोज्ज्वलता को प्राप्त करके अमित आनन्द और सुखद शान्ति की उपलब्धि की। वह उनकी आत्मा का परम पुरुषार्थ और अपूर्व अभिक्रम था। गजसुकमाल मुनि के तेजस्वी त्याग तथा धर्ममय धैर्य के आगे किसी भी भव्य आत्मा का माथा झुके बिना नहीं रहता है। कहां तो उनकी कोमल काया और राजमहलों का निवास तथा कहां मुनि धर्म अंगीकार के पहले ही दिन सिर पर धधकते हुए अंगारों का भीषण कष्ट और अनुपम सहनशक्ति के साथ देह मोह विसर्जन एवं मुक्ति का वरण? श्रीकृष्ण तो उनके विवाह की तैयारी कर रहे थे और उन्होंने अरिष्टनेमि भगवान् की एक ही देशना सुनी व संसार से विरक्ति ले ली। भौतिक सत्ता और धन का ऐसा अद्भुत त्याग आदर्श था। उन्होंने नाक के श्लेष्म से अधिक सांसारिक सुखों का मूल्य नहीं समझा।

जब श्रीकृष्ण वासुदेव ने यह जान लिया कि यह द्वारिका नगरी एक दिन नष्ट होने वाली है और उसके साथ ही उनकी सारी प्रजा और परिवार आदि का अन्त भी सन्निकट है तो उन्होंने विधि-निषेध दृष्टि से अपने आत्म-स्वरूप को जाना और पहचाना तथा अपने प्रिय पुत्र, पुत्रियों व रानियों समेत सबके मोहपाश से मुक्त होकर भगवान् अरिष्टनेमि के चरणों में दीक्षित हुए।

भगवान् की इसी दृष्टि से आज्ञा है कि यदि आनन्द और शान्ति के शिखर पर आरोहण करना है तो आत्म-स्वरूप को विधि एवं निषेध की दृष्टि से देखें। सोचें, समझें और उसके पूर्ण विकास के लक्ष्य को अपने जीवन में अंगीकार करें। लक्ष्य के प्रति जब सजग साधना तथा अमित उत्साह रहेगा तो अपनी आन्तरिकता में शान्ति और आनन्द का स्थायी संचार अवश्यमेव होगा। आज आत्मा के अनुभव में जितनी पीड़ा, वेदना और अशान्ति का प्रवाह चलता है, वह विषयों और कषायों से उपजा एक प्रकार का अग्नि-प्रवाह है जो इस आत्मा की आभा को जलाता है, कषता है तथा शोभाहीन बनाता है। अपने इस दुर्लभ जीवन में मानव भौतिक सत्ता एवं सम्पत्ति के पीछे जिस प्रकार से आत्मिक-शक्तियों का हास करता हुआ चला जा रहा है, उससे उसके कल्याण की आशा भी नहीं बंधती है। सत्ता और सम्पत्ति तो कब और कितनी मिलेगी तथा उससे किस प्रकार के सुख का अनुभव होगा—यह तो दूर की बात है लेकिन उसके

पीछे सारी शक्तियों के अपव्यय का दुष्परिणाम तो निश्चित रूप से भोगना ही होगा। इस प्रकार जब शरीर की शक्ति नष्ट हो जायेगी, मानसिकता विकृत बन जायेगी और आत्म-भावों में संज्ञा-शून्यता व्याप्त हो जायेगी, तब कैसे आत्मा जागेगी और कैसे उसका कल्याण हो सकेगा?

अतः इसी जीवन में गंभीरता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है कि शारीरिक शक्ति के जीर्ण-शीर्ण होने से पहले तो कम से कम आत्म-स्वरूप को विशुद्ध बनाने का संकल्प ग्रहण कर लें। इस संकल्प की सुदृढ़ता के साथ ही आनन्द एवं शान्ति की दिशा में गतिशीलता आरंभ की जा सकेगी। उस दिशा में चलना शुरू करेंगे तभी तो अपने आत्मिक पुरुषार्थ के साथ एक दिन उस अनुभूत आनन्द एवं शान्ति के शिखर पर आरोहण करने की आशा रख सकते हैं।

### विचरण शान्ति के आनन्द क्षेत्र में

यह सत्य है कि निजात्मा को शाश्वत रूप से अपने मूल स्वरूप में अवस्थित कर लेने तथा सिद्धि में विराजमान हो जाने के बाद ही सदा काल के लिये शान्ति के आनन्द क्षेत्र में विचरण होता है और इसी आदर्श को साधना के समय में अपने सामने रखा जाना चाहिये। लेकिन यह बात नहीं है कि तभी शान्ति और आनन्द का रसास्वादन किया जा सकेगा। वह तो पूर्ण शान्ति एवं पूर्ण आनन्द की अवस्था होगी। किन्तु शान्ति और आनन्द के रसास्वादन का श्रीगणेश तो आज और इसी क्षण किया जा सकता है, बशर्ते कि इच्छाशक्ति भी उतनी दृढ़ीभूत हो जाये।

आपने कभी किसी प्यासे व्यक्ति को देखा होगा। गर्मी का मौसम हो और कल्पना करें कि वह तपन भी रेगिस्तान की हो। उसमें कोई व्यक्ति पिछले कई घंटों से पानी प्राप्त नहीं कर सका हो तो सोचिये कि उसकी प्यास कितनी तीक्ष्ण होगी? तभी उसे शीतल जल की प्राप्ति होती है तथा वह एक, दो, तीन गिलास पानी पी लेता है तब कहीं जाकर उसको तृप्ति और शान्ति का अनुभव होता है। तीन गिलास पानी पीने के बाद जो उसे तृप्ति व शान्ति का अनुभव हुआ, क्या वह तीनों गिलास पानी पी चुकने के बाद ही हुआ? उस अनुभव की पूर्णता तो तब हुई लेकिन क्या एक गिलास पानी पी चुकने के बाद उसे आंशिक अनुभव भी नहीं हुआ? अवश्य हुआ। यदि एक गिलास से तृप्ति व शान्ति का आंशिक अनुभव होने से इनकार किया जायेगा तो तीन गिलास के बाद कही जाने वाली उस अनुभव की बात सत्य नहीं होगी। यह तो क्रमिक प्रक्रिया होती है। पहली गिलास की ही बात क्यों करें, पहली बूंद को पीने के साथ ही तृप्ति और शान्ति

के अनुभव की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है—उसकी स्पष्ट प्रतीति भले न ली जाये। उसी प्रकार आंशिक रूप से उस आनन्द और शान्ति के रसास्वादन का प्रारंभ समुचित पुरुषार्थ के साथ इसी घड़ी किया जा सकता है।

अतः सावधान होइये—बीता हुआ समय वापस नहीं लौटेगा और असावधानी में बीत रहा समय भी व्यर्थ होता जायेगा। शान्ति के आनन्द क्षेत्र में विचरण करने के लिये आज और इसी क्षण अपना चरण उठा लीजिये। फिर जैसा आपका संकल्प और पुरुषार्थ होगा, आपकी शान्ति और आनन्द का अनुभव अभिवृद्ध होता ही जायेगा।

दिनांक 24.10.86

(जलगांव)